अद्वैत वेदान्त में आभासवाद

डॉ० सत्यदेव मिश्र

एम० ए० पी-एच० डी०

असिस्टेंट प्रोफेसर, (संस्कृत), भाषा विभाग

बिड़ला प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान संस्थान

पिलानी—३३३०३१ (राजस्थान)

इन्दिरा प्रकाशन

ए-११, सेक्टर-डी, कंकड़बाग कॉलनी, पटना

Advaita Vedanta men Abhasavada
Satya Deva Mishra
First edition : 1979
Price Rs. 60.00

प्रथम संस्करण : १९७९
आवरण : सत्यसेवक मुखर्जी

इन्दिरा प्रकाशन
ए-११, सेक्टर डी
कंकड़बाग कॉलनी
पटना-८०००२०

प्रकाशक :
श्रीमती इन्दिरा मिश्रा
१८९-बी, विद्याविहार
पिलानी-३३३०३१
राजस्थान

मुद्रक :
इलाहाबाद प्रेस
३७०, रानी मंडी, इलाहाबाद

मूल्य : साठ रुपये

वपुषो मनसो बुद्धेः
कारिणीं स्नेहरूपिणीम् ।
मातरमर्पये ग्रन्थ—
मिममाभासदीपकम् ॥

विषय-सूची

शांकर ग्रन्थों में प्रतिविम्व की शब्दावली

शांकर ग्रन्थों में आभास की शब्दावली

प्राक्कथन

आस्तिक दर्शनों में वेदान्त तथा वेदान्त में भी भगवान् शंकराचार्य प्रतिष्ठापित अद्वैत वेदान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रुति-स्मृति-युक्तिरूप उपनिषद्-गीता-ब्रह्मसूत्र के भाष्य ग्रन्थों और अन्य प्रकरण ग्रन्थों के माध्यम से अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में शंकराचार्य ने स्थान-स्थान पर घटाकाश तथा सूर्य-चंद्रादि-प्रतिबिम्ब के दृष्टान्तों और अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास की शब्दावलियों का ग्रहण किया है। इन दृष्टान्तों और शब्दावलियों के वैविध्य के फलस्वरूप शंकरपरवर्ती वाचस्पति मिश्र, पद्मपादाचार्य तथा सुरेश्वराचार्य प्रभृति अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा विविध प्रस्थान प्रतिष्ठापित किये गये। इन्हें क्रमशः अवच्छेद, प्रतिबिम्ब और आभासवाद कहा जाता है। आलोच्य ग्रन्थ में सुरेश्वरप्रतिष्ठापित तथा अन्य अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा अभिमत आभास के प्रस्थानों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अवच्छेदादि पक्षों से आभास पक्ष के अन्तर के स्पष्टीकरण के लिए भामती तथा विवरण प्रस्थानों के मूलभूत सिद्धान्तों का ज्ञान अपरिहार्य है, अतएव यथास्थान इन प्रस्थानों के मुख्य सिद्धान्तों का भी उल्लेख कर दिया गया है।

विषय की दृष्टि से सम्पूर्ण ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है। प्रारम्भिकी अर्थात् प्रथम अध्याय में वेदान्त के प्रस्थानत्रयीभूत उपनिषदादि के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों के संक्षिप्त विवेचन के उपरान्त उन श्रुति-स्मृति-वाक्यों तथा सूत्रों को संगृहीत किया गया है जिनके द्वारा अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभासवाद का समर्थन हो सकता है। द्वितीय अध्याय में शंकराचार्य के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। शंकराचार्य तथा उनके सिद्धान्तों के विषय में डॉ० राधाकृष्णन् आदि विद्वानों के द्वारा अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। अतएव यहाँ केवल उन्हीं शांकर सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है जो अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास की शब्दावलियों पर आधृत हैं तथा जिनकी आधारभूमि पर अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास प्रस्थानों के प्रासाद सम्प्रतिष्ठित हुए हैं। तृतीय अध्याय में सुरेश्वर प्रतिष्ठापित आभास प्रस्थान के विशद विवेचन के साथ मुख्य सिद्धान्तों के प्रसंग में अन्य अद्वैत वेदान्तियों के मतभेदों का संनिवेश कर दिया गया है जिससे आभास पक्ष की मौलिकताओं का सहज समधिगम हो सके। चतुर्थ अध्याय में सर्वज्ञात्ममुनि की आभास-प्रतिबिम्ब दोनों प्रस्थानों की समन्वयवादिता सिद्ध की गयी है तथा उनके प्रमुख सिद्धान्तों के निरूपण के अनन्तर ईश्वर और जीव के स्वरूप में तदभिमत प्रतिबिम्ब एवं आभास के समन्वय का सिद्धान्त निरूपित किया गया है। पंचम अध्याय में अद्वैत वेदान्त के लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार आभासवादी आनन्दगिरि के प्रस्थान का प्रतिपादन करते हुए उनके मौलिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। षष्ठ अध्याय में सर्व प्रथम उन

मान्यताओं के साथ असम्मति प्रकट की गयी है जो विद्यारण्य के आभासवादित्व का समर्थन नहीं करतीं। इसके पश्चात् उनके आभास प्रस्थान के मुख्य वैशिष्ट्यों का निरूपण है। उक्त प्रस्थान के अध्ययन के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि अद्वैत वेदान्त के अन्य अवच्छेद तथा प्रतिबिम्ब पक्षों से, प्रत्यभिज्ञा के आभास से तथा पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले के आभास से आभासवादियों के आभास का अन्तर स्पष्ट किया जाय। अतः उपसंहार में इनके पारस्परिक अन्तरों का उल्लेख कर दिया गया है तथा तत्पश्चात् ग्रन्थ के निष्कर्ष के रूप में आभासवाद के उन व्यावर्तक अंगों का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है, जिसके कारण इस प्रस्थान को अद्वैत वेदान्त में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पी-एच० डी० का शोध प्रबन्ध है जो गुरुदेव डॉ० बीरमणि प्रसाद उपाध्याय के निर्देशन में पूर्ण हुआ था। इसके रचना-काल में उनसे जो आन्तरिक सहायता मिली थी, उसके लिए मैं उनका चिर ऋणी हूँ। इस ग्रन्थ पर उन्होंने जो विद्वत्तापूर्ण आमुख लिखा है, वह मेरे प्रति उनके अगाध स्नेह का परिणाम है।

आदरणीय बाबूजी—श्री अनिरुद्ध पति त्रिपाठी, अवर सचिव, बिहार विधान सभा, पटना, श्रद्धेय अग्रजत्रय—श्री यादवेन्द्र प्रसाद मिश्र, पं० हरीन्द्र प्रसाद शास्त्री, श्री कामाक्षा प्रसाद मिश्र, डॉ० आर० सी० शर्मा, प्रो० एन० एन० बनर्जी, डॉ० पी० डी० चतुर्वेदी (पिलानी), डॉ० अतुलचन्द्र बनर्जी, डॉ० हेमचन्द्र जोशी, डॉ० शिवशंकर अवस्थी (गोरखपुर), डॉ० शिव शेखर मिश्र (लखनऊ), प्रोफेसर वी० वेङ्कटाचलम (उज्जैन), डॉ० टी० एम० पी० महादेवन, डॉ० आर० बालसुब्रह्मण्यन (मद्रास), डॉ० ध्रुवमणि चतुर्वेदी तथा डॉ० उमेश्वर सिंह विष्ट (इलाहाबाद) प्रभृति विद्वानों ने मुद्रण की अवधि में अपने अमूल्य विचारों एवं सत्परामर्शों से ग्रन्थ को उपयोगी बनाने में सहायता दी है, एतदर्थ मैं इन सबका यावज्जीवन कृतज्ञ रहूँगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर मुझे पी-एच० डी० की उपाधि गोरखपुर विश्वविद्यालय से सन् १९६४ में ही प्राप्त हुई थी पर अन्यान्य कारणों से यह पन्द्रह वर्षों बाद प्रकाशित हो सका है। ग्रन्थ को सुन्दर साज-सज्जा के साथ मुद्रित करने के लिए मैं इलाहाबाद प्रेस का कृतज्ञ हूँ। ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका के निर्माण में इन्दिरा का अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है, पर आत्मलघ्यता के भय से उन्हें धन्यवाद देना उचित नहीं समझता।

इस शोध ग्रन्थ में मैंने आभासवाद के विभिन्न प्रस्थानों का विविक्त एवं अवस्थित रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और मुझे विश्वास है कि यह अध्ययन एवं अध्यापन में उपयोगी सिद्ध होगा।

१८९-सी, विद्या विहार
५ जुलाई १९७९

सत्यदेव मिश्र
पिलानी

आमुख

शङ्कराचार्य के परवर्ती तथा अनुयायी अद्वैताचार्यों ने अद्वैत सिद्धान्त की व्याख्या तीन प्रकार से की, जो तीन विचारधाराओं में विभक्त होकर प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद और अवच्छेदवाद के नाम से प्रसिद्ध हो गई। शताब्दियों तक प्रतिबिम्ब तथा आभास का अन्तर अस्फुट बना रहा। सर्वप्रथम मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्तबिन्दु' में तथा ब्रह्मानन्द सरस्वती ने उसकी टीका 'न्यायरत्नावली' में उनके विश्लेषण पर स्पष्ट प्रकाश डाला। इन ग्रन्थों, के अध्ययन से प्रभावित होकर जब मैंने सुरेश्वराचार्य के अतिविस्तृत ग्रन्थ 'बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्तिक' तथा अन्य ग्रन्थों का तलस्पर्शी एवं गहन परिशीलन किया तो इन वादों का अन्तर ठीक-ठीक समझा और इसी विषय पर डी० लिट्० का शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया, जो बाद में "Lights on Vedanta' नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ। इसमें आभासवाद का दिग्दर्शन मात्र था। अतएव विस्तृत विवेचन के लिए डा० सत्यदेव मिश्र से अपने निर्देशन में Ph. D. के लिए शोध-कार्य करवाया, जो अब 'अद्वैत वेदान्त में आभासवाद' के नाम से प्रकाशित हो रहा है। आशा है यह ग्रन्थ विद्वानों की दृष्टि में बहुत ही उपादेय और महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

कतिपय शब्दों में 'प्रतिबिम्ब' और 'आभास' का विवेचन, उपर्युक्त ग्रन्थ के आमुख के रूप में, उल्लिखित कर देना आवश्यक समझता हूँ।

प्रतिबिम्बवाद के प्रवर्तक पद्मपादाचार्य और उपबृंहक प्रकाशात्मयति थे। इसे समझने के पूर्व बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब का स्वरूप एवं लक्षण ज्ञातव्य है।

बिम्ब—न्यायरत्नावली-टीका में ब्रह्मानन्द सरस्वती ने बिम्ब का लक्षण इस प्रकार दिया है—बिम्बचैतन्यम् अज्ञानोपाध्यन्तर्गतचैतन्यम्।[1] जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण ग्रीवास्थमुख-प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है उसी प्रकार सत्त्वगुणाधिक्य के कारण अत्यन्त स्वच्छ अविद्या चित्प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है। तत्पश्चात् अनादिकाल से उसी की शक्तियों से विविध अगणित आविद्यक पदार्थों का प्रतिबिम्ब के रूप में प्रादुर्भाव होता रहता है। उसी टीका में बिम्ब के उक्त लक्षण को इस प्रकार विशद किया गया है—उपाध्यन्तर्वर्तित्वे सति उपाध्यन्तर्गतरूपाभिन्नबहिःस्थितत्वं बिम्बत्वम्।[2] अर्थात् बिम्ब वस्तुतः उपाधि के अन्तर्गत न होता हुआ भी उपाधि के अन्तर्गत रूप से अभिन्न और

---

१. न्यायरत्नावली, पृ० २२५।

२. वही, पृ० ३५०

वहिःस्थित प्रतीयमान होता है। लघुचन्द्रिका[३] टीका में भी विम्वस्वरूप को संक्षेप में स्पष्ट किया गया है—तादृगधर्मशून्यत्वे सति उपाधिसन्निहितत्वं विम्वत्वम्। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि विम्व वास्तविक स्वरूप है और प्रतिविम्व उस (विम्व) का उपाधि के भीतर प्रतीयमान काल्पनिक रूप है।

प्रतिविम्ब—उपर्युक्त टीका में ब्रह्मानन्द सरस्वती ने प्रतिविम्व का स्वरूप इस प्रकार वताया है—दर्पणाद्युपाध्यन्तर्गतत्वे सति औपाधिकपरिच्छेदशून्यत्वे च सति वहिः-स्थितस्वरूपकत्वं प्रतिविम्वत्वम्।[४] लघुचन्द्रिका[५] टीका में प्रतिविम्व का प्रस्तुत लक्षण दिया गया है—'औपाधिकपरिच्छेदशून्यत्वे सति उपाध्यन्तर्गतत्वरूपेण आरोपितधर्मेण विशिष्टत्वं प्रतिविम्वत्वम्' तथा यह वताया गया है कि 'विम्वमेव उपाधिस्थत्वादि-विशिष्टं प्रतिविम्वमिति शेषः'।[६]

पद्मपादाचार्य ने प्रतिविम्व का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—'तथा च यथा वहिःस्थितो देवदत्तो यत्स्वलक्षणप्रतिपन्नस्तत्स्वलक्षण एव वेश्मान्तः प्रविष्टोऽपि प्रतीयते'।[७] उनका अभिमत है कि जैसे ग्रीवास्थ मुख प्रतिपन्न होता है वैसे ही दर्पणाद्युपाधितल-स्थित भी। अपने विचार को उन्होंने अन्य उदाहरणों से इस प्रकार स्पष्ट किया है—'यत्पुनः दर्पणजलादिपु मुख-चन्द्रादिप्रतिविम्वोदाहरणम्', 'तत्त्वमिति बिम्वस्थानीयब्रह्म-स्वरूपस्य प्रतिविम्वस्थानीयजीवस्योपदिश्यते।'[८]

विवरणकार के अनुसार प्रतिविम्व का स्वरूप इस प्रकार है—'प्रतिविम्वस्य उपाध्यन्तर्गतत्वविशिष्टविम्वरूपत्वम्।'[९]

उपर्युक्त विम्व तथा प्रतिविम्व के स्वरूप के विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिविम्व वह है, जो उपाधि के अन्तर्गत प्रतीयमान अर्थात् उपाध्यन्तर्गतत्व अथवा अन्तराश्रितत्वरूप धर्म से विशिष्ट हो, जैसा कि ब्रह्मानन्द सरस्वती ने कहा है—'मुखादेर्दर्पणाद्युपाध्यन्तर्गतत्वमारोपितं प्रतिविम्वशब्देन व्यपदिश्यते'[१०] तथा—'प्रति-विम्वत्वं हि मुखादेर्दर्पणादौ अन्तराश्रितत्वदर्पणाद्यन्तर्मुखमस्ति इत्यनुभवात्।'[११] दर्पणादि

३. ल० च० पृ० ५७६
४. न्याय रत्नावली, पृ० ३५०
५. ल० च०, पृ० ४४३
६. वही, पृ० ५७८
७. पद्मपादिका, पृ० १०४
८. वही, पृ०, १०४
९. पद्मपादिकाविवरण, पृ० १०८
१०. न्याय रत्नावली, पृ० १४६
११. वही, पृ० १४५

उपाधियों में मुख के प्रतिबिम्बित होने का अभिप्राय यही है कि दर्पण आदि के भीतर आश्रित होकर मुख प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः मुख दर्पण आदि के भीतर प्रविष्ट होकर आश्रित नहीं रह सकता, वैसा होने पर तो दर्पण दो टुकड़ों में विशीर्ण हो जाता। परन्तु वैसा होता नहीं; अतः यह मानना होगा कि मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण के बाह्य अवयवों में पड़ता है और वह केवल अन्तःस्थित दिखाई देता है।

सारांश यह कि प्रतिबिम्ब वह है जो उपाधि के अन्तर्गत प्रतीत होता हो किन्तु उपाधिकृत परिच्छेद से शून्य हो और बहिःस्थित अर्थात् उपाधि-बाह्यदेश में संलग्न हो। बिम्ब वह है, जो उपाध्यन्तर्गत प्रतीत न होता हो, उपाधि के अन्तर्गत प्रतीयमान रूप से अभिन्न हो तथा बहिःस्थित अर्थात् स्वदेशस्थित ही हो। इस तथ्य को मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में इस प्रकार समझाया है—'प्रतिबिम्बमुखमेव दर्पणस्थं न तु मुखमिति प्रतिबिम्बदर्पणस्थत्वानुभवेन कथं प्रतिबिम्बत्वस्य तत्स्थत्वगर्भतेतिवाच्यम् अविद्योपहितस्य अविद्याश्रयत्ववत् दर्पणाश्रितत्वसम्भवात्।' न्यायरत्नावली में कहा गया है—'बिम्बत्वप्रतिबिम्बत्वरूपाभ्यां मुखं द्वेधा भिद्यते।'[१२] न्यायरत्नावली की इस पंक्ति से यह स्पष्ट है कि मुखद्वय की प्रतीति होती है, इनमें दर्पणस्थ प्रतिबिम्बित मुख को प्रतिबिम्ब तथा ग्रीवास्थ मुख को बिम्ब माना जाता है। ग्रीवास्थ मुख बिम्बत्वोपहित मुख तथा दर्पणस्थ मुख प्रतिबिम्बत्वोपहित मुख है। यद्यपि मुख (ग्रीवास्थ मुख) स्वरूपतः एक और अनुपहित है (जो उपाधि के असन्निधानकाल में अनुभूत होता है) तथापि उपाधि में प्रतिबिम्बित होने के कारण उसे बिम्बत्वोपहित बताया जाता है और प्रतिबिम्ब को प्रतिबिम्बत्वोपहित कहा जाता है। इस प्रकार उपाधि के कारण उपहित भी दो प्रतीत होने लगते हैं। उपाधि के हट जाने पर मुख एक और अनुपहित ही अवशिष्ट रह जाता है। लघुचन्द्रिका में कहा गया है—'तथा च प्रतिबिम्बमेव दर्पणस्थमित्यादेर्दर्पणाद्युपहितमेव दर्पणादिस्थं न तु शुद्धमिति।'[१३] अर्थात् दर्पणत्वोपहित मुख ही दर्पणाश्रितत्वधर्मविशिष्ट होता है। यद्यपि दर्पणस्थ मुख दर्पण के अन्तर्गत दिखाई देता है किन्तु भौतिक विज्ञान (Physics) के सिद्धान्त के अनुसार दर्पण की गहराई (depth) रूप धर्म दर्पणस्थ मुख में आरोपित हो जाता है और फलतः दर्पणबहिःस्थित मुख दर्पणान्तर्गत प्रतीत होता है।

जैसे शब्दशास्त्र में देवदत्त, यज्ञदत्त आदि और न्यायशास्त्र में घट, पट आदि क्लृप्त उदाहरण मिलते हैं वैसे ही अद्वैतवेदान्त के प्रतिबिम्बवाद में भी मुख, दर्पण आदि उदाहरण बार-बार आते हैं। इस वैज्ञानिक युग में प्रतिबिम्ब के अनेक नवीन उदाहरण दिए जा सकते हैं। दूसरी स्मरणीय बात यह है कि प्रतिबिम्बवादी यह नहीं मानते कि

---

१२. वही, पृ० ३४६

१३. ल० च०, पृ० ८४६

केवल रूप का ही प्रतिविम्ब होता है, उनके अनुसार शब्द आदि के भी प्रतिविम्ब होते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक युग के आविष्कारों ने भी अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध कर कर दिया है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध—इन पांचों गुणों का प्रतिविम्बन होता है। ध्वनिविस्तारक यन्त्र (Loudspeaker, Radio etc.) के द्वारा दूरस्थित शब्द का जितनी भी दूरी पर प्रतिविम्बित शब्द सुनाई पड़ता है, वह मूल शब्द का प्रतिविम्ब ही तो है। 'हीटर' और 'कूलर' यन्त्रों के द्वारा यन्त्रस्थित ताप और शैत्य का पूरे कमरे में जो अनुभव होता है, वह यान्त्रिक ताप और शैत्य रूप स्पर्श गुण का प्रति-विम्ब नहीं तो क्या है? रूप-प्रतिविम्ब अतिप्रसिद्ध और सर्वसम्मत है। शरावनिर्माण-शाला या भट्टी से वायु के द्वारा उपानीत शराव-रस तथा 'सुगर-मिलों' से प्रसृत माधुर्य रस का अनुभव जो आस-पास के स्थानों मे होता है, वह मौलिक रस का प्रतिविम्ब नहीं तो क्या है? परिपक्व अतिमधुर आम्रफलो से लदे हुए आम के वगीचे का सारा आन्त-रिक प्रदेश माधुर्यरसप्लावित अनुभूत होता है। यह स्पष्ट रस-प्रतिविम्ब है। गुलाव और केवड़ा आदि सुगन्धित पुष्पों की वाटिका में घुसते ही परिमल के प्रवाह का या कस्तूरी के सौरभ का समीपवर्ती देश में जो अनुभव होता है वह गन्ध-प्रतिविम्ब नहीं तो क्या है? सच पूछिए तो रूप-प्रतिविम्ब अत्यधिक और सर्वत्र अनुभव-पथ में आता है। frequency के कारण ही रूप-प्रतिविम्ब में प्रतिविम्ब शब्द रूढ़ सा हो गया है तथा अन्य गुणों के प्रतिविम्ब के लिए इस शब्द का प्रयोग आपाततः जंचता नहीं। पर आधुनिक नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों ने विचारकों के मस्तिष्क से इस संकीर्णता को दूर हटा दिया है। दूरदर्शनयन्त्र तथा चलचित्र में मानवशरीर (अर्थात् समस्त अङ्गो-पाङ्ग एवं उसकी गति आदि) का फोटो के द्वारा जो अनुभव होता है वह सब प्रतिविम्ब के ही आधुनिक उदाहरण हैं।

दर्पणस्थ मुखरूप प्रतिविम्ब दर्पणोपाधिकृत-परिच्छेद से रहित होता है, क्योंकि दर्पण चाहे बड़ा हो या छोटा, उससे प्रतिविम्ब में कोई परिच्छेद नहीं होता।[१४] सूर्य का प्रतिविम्ब जैसा नदी के जल मे दिखाई देता है वैसा ही समुद्र के जल में भी।

इस वाद के अनुसार प्रतिविम्बसंज्ञक मुख विम्बसंज्ञक मुख से अभिन्न माना जाता है अर्थात् विम्बप्रतिविम्बैक्य है।

नृसिहाश्रमपादाचार्य ने भी भावप्रकाशिका टीका में कहा है—"ग्रीवास्थमुखाभिन्न-तया अत्यन्ततत्सदृशतया वा अनुभूयमाने प्रतिविम्बे विलक्षणाकारणजन्यत्वानुपपत्तेश्चेति। तस्माद् दर्पणे प्रतीयमानमुखं ग्रीवास्थमेव तदभेदप्रत्यभिज्ञानात्तद्भेदस्य दुर्निरूपत्वात् परि-शेषाच्चेति।' अर्थात् दर्पण में प्रतीयमान मुख 'तदेवेदं मुखम्' इस प्रत्यभिज्ञान के कारण

---

१४. अद्वैतसिद्धि, पृ० ८४८-४९

ग्रीवास्थ मुख से अभिन्न ही अनुभूत होता है। दर्पणस्थ मुख की उत्पादक कोई कारण-सामग्री नहीं मानी जा सकती।

आभासवाद—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रतिबिम्बवादी प्रतिबिम्ब को वस्त्वन्तर या व्यक्त्यन्तर नहीं मानते, क्योंकि प्रतिबिम्ब बिम्ब से अभिन्न तथा एक है। किन्तु दर्पण-प्रतिबिम्बित मुख के स्थल में मुखद्वय की प्रतीति सार्वजनीन है और इस निर्विवाद और सर्वसाधारण अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि प्रतिबिम्ब की वस्त्वन्तर के रूप में उत्पत्ति उपपादित नहीं की जा सकती क्योंकि उत्पादक क्लृप्त कारण-सामग्री का अभाव रहता है, तो जिस प्रकार क्लृप्त कारण-सामग्री के अभाव में भी प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति मानी जाती है उसी प्रकार प्रतिबिम्ब (अर्थात् आभास) की भी व्यक्त्यन्तर के रूप में उत्पत्ति मानी ही जा सकती है। यदि यह कहा जाय कि दर्पणस्थ मुख कथमपि भी सत् नहीं स्वीकार किया जा सकता तो प्रातिभासिक रजत के समान प्रतिभासमात्रशरीर और दोष-सहकृत अविद्या से उत्पन्न वस्त्वन्तर मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। अतएव वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य ने आभासवाद का प्रवर्तन किया, जिसके अनुसार आभास बिम्ब से न अभिन्न और न भिन्न है, किन्तु अनिर्वचनीय और मिथ्या है। यह वस्तुस्वभाव है कि जैसे सन्निहित दर्पण आदि स्वच्छ उपाधि में रूप का प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य का तदाश्रित, तद्विषयक सत्त्वगुण प्रधान अतिस्वच्छ अविद्या रूप उपाधि में आभास पड़ेगा ही। चिदाभास को न चित् से भिन्न कहा जा सकता है और न अभिन्न ही, अतः इसे अनिर्वचनीय और मिथ्या ही मानना होगा। चित् अनादि है, तदुपाधि अविद्या भी अनादि है, अतएव यह चिदाभास भी अनादि है। इनमें शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म सत् है और उपाधि तथा उपाधि-कार्य सभी अनिर्वचनीय और परमार्थतः मिथ्या हैं। अविद्या भी स्वतः आभास है किन्तु वह अनादि और अव्याकृत आभास है, अतः उसकी उत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता।

आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद में मौलिक अन्तर यह निर्गलित होता है कि आभासवादी आभास को सर्वथा मिथ्या मानते हैं और प्रतिबिम्बवादी प्रतिबिम्ब को बिम्ब से अभिन्न होने के कारण तदात्मना सत्य मानते हैं, जैसा कि मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु में कहा है—'तस्य च प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वमेवेति प्रतिबिम्बवादिनः मिथ्यात्वमेवेति आभासवादिनः। स्वरूपे तु न विवाद इत्यन्यदेतत्।'[१५] ब्रह्मानन्द सरस्वती ने भी न्यायरत्नावली में दोनों का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है—'सोपाध्याभासस्य वार्तिकमते मिथ्यास्वरूपत्वस्वीकारात्,'[१६] तथा 'प्रतिबिम्बस्य उपाध्यन्तर्गतत्वविशिष्ट-

---

१५. सि० बि०, पृ० १५८-६०

१६. न्या० र०, पृ० १५८

रूपत्वमिति विवरणकारादिमते, चियश्चेतनविषयकत्वात्प्रतिविम्बस्वरूपमुपाध्यन्तर्गतमारोपितं मिथ्येति वार्तिककारादिमते।'[१७]

आभास का निष्कृष्ट स्वरूप यही निकलता है कि जिस प्रकार स्फटिक के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त रक्तिमा स्फटिक से भिन्न प्रतीत नहीं होती उसी प्रकार अज्ञान-तादात्म्यापन्न चिदाभास अज्ञान से अतिरिक्त प्रतीत नहीं होता। अतएव अज्ञानरूप उपाधि के अन्तर्गत होना अथवा उसमें आरोपित होना अथवा उससे तादात्म्यापन्न होना ही चैतन्य का आभास है। नारायण तीर्थ के शब्दों में "आभासश्चोपाध्यन्तर्गतत्वरूपारोपितधर्मविशिष्टा विम्बचिदेव।' आमुखोपन्यस्त विवेचन शाखाचन्द्रमस-न्याय से आभास का यथार्थ स्वरूप बतलाने का प्रयास है। इस संबन्ध में सिद्धान्तविन्दु की व्याख्या में म० म० वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर ने लिखा है—"जपाकुसुमसन्निहिते दृश्यमानो रक्तिमा रक्तिमाभास इत्युच्यते। दर्पणे दृश्यमानं मुखं मुखप्रतिविम्बमित्युच्यते। तत्राभासग्राहकोपाधिः स्वसमीपवस्तुगतगुणमेव केवलं स्वस्मिन् प्रदर्शयति। प्रतिविम्बग्राहकोपाधिस्तु स्वाभिमुखं गुणविशिष्टं यद्वस्तु तदेवाऽन्यदिव स्वान्तःस्थतया प्रदर्शयति।"[१८] आभास का विस्तृत विवेचन प्रकृत ग्रन्थ में, जिसका यह आमुख है, द्रष्टव्य है।

वीरमणि प्रसाद उपाध्याय
एम० ए० पी-एच० डी० डी० लिट्० साहित्याचार्य
भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, पालि, प्राकृत
तथा संस्कृत विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर

वाराणसी
१९ मई १९७९

१७. सि० वि० की ना० टी०, पृ० २२१
१८, सि० वि० व्याख्या (अभ्यंकर कृत), पृ० २५

संकेत शब्द

अ० ब्रा० वा०	अध्याय, ब्राह्मण, वार्तिक
आ० सं० ग्र०	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः
ई० उ०	ईशावास्य उपनिषद्
ई० उ० शा० भा०	ईशवास्य उपनिषद् शांकरभाष्य
उप० सा०	उपदेशसाहस्री
उप० सा० प०	उपदेशसाहस्री पद्यभाग
ऐ० उ०	ऐतरेयोपनिषद्
ऐ० उ० शा० भा०	ऐतरेयोपनिषत् शांकरभाष्य
क० उ०	कठोपनिषद्
क० उ० शा० भा०	कठोपनिषद् शांकरभाष्य
क० भा० टी०	कठभाष्यटीका (काठकोपनिषद्भाष्य व्याख्यानम्)
का०	कारिका
कौ० उ०	कौषीतकि उपनिषद्
गी०	गीता
गी० शा० भा०	गीता शांकरभाष्य
गी० भा० टी०	गीताभाष्यटीका
गे० ओ० सी०	गेयकवाड ओरियंटल सीरीज
छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
छा० उ० शा० भा०	छान्दोग्योपनिषद् शांकरभाष्य
छा० भा० टी०	छान्दोग्यभाष्यटीका
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० उ० शा० भा०	तैत्तिरीय उपनिषद् शांकरभाष्य
तै० उ० भा० वा०	तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक
तै० उ० भा० वा० टी०	तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिकतीका
नृसिंह० उप०	नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्
नै० सि०	नैष्कर्म्यसिद्धिः
पंची० वा०	पंचीकरण वार्तिक
प्रक०	प्रकरण

प्र० उ०	प्रश्न उपनिषद्
वि० पु०	विष्णु पुराण
बृ० उ०	बृहदारण्यकउपनिषद्
बृ० उ० शा० भा०	बृहदारण्यक उपनिषद् शांकर भाष्य
बृ० उ० भा० वा०	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक
बृ० भा० टी०	बृहदारण्यकभाष्यटीका
बृ० भा० वा० टी०	बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकटीका
बृ० वा० सा०	बृहदारण्यकवार्तिकसार
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
ब्र० सू० शा० भा०	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
मा० उ०	माण्डूक्योपनिषद्
मा० उ० शा० भा०	माण्डूक्योपनिषद्शांकरभाष्य
मा० का०	माण्डूक्य कारिका
मु० उ०	मुण्डक उपनिषद्
मु० उ० शा० भा०	मुण्डक उपनिषद्शांकरभाष्य
मु० उ० भा० टी०	मुण्डक उपनिषद्भाष्यटीका
वि० स० ना० भा०	विष्णुसहस्रनामभाष्य
वे० सा०	वेदान्तसार:
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
श्वे० उ०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
श्वे० उ० शा० भा०	श्वेताश्वतर उपनिषद्शांकरभाष्य
सं० वा०	सम्बन्धवार्तिक
सं० वा० टी०	संबन्धवार्तिकटीका
सि० वि०	सिद्धान्त विन्दु:

प्रथम अध्याय

प्रारम्भिकी

दर्शन शास्त्रों के उद्गम की पृष्ठ-भूमि

कभी स्वर्ण-शरीर अगणित नक्षत्रों से परिपूर्ण, कभी शोभातिशायि जन-मन-मोहक हिमकर से समलंकृत, कभी भगवान् भुवन भास्कर की प्रचंड एवं प्रखर किरणों से सम्पन्न तथा कभी निरभ्र तो कभी विविध वर्णों के मेघों से प्रतिभासित यह नील-व्योम-मंडल, एक ही क्रम में आती हुई ऋतुएँ, सायं-प्रातः तथा रात्रि-दिन का अपरिवर्तनीय-क्रम, प्रतिनियत देश, काल, निमित्त, क्रिया एवं फल-क्रमानुसार उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ,[1] स्थूलतम जीवों से लेकर सूक्ष्मतम नेत्रेन्द्रिय-विषयागोचर जीवों की सृष्टि, सृष्टि में भी मानव, हिरण, मयूर इत्यादिक जीवों के माध्यम से अभिव्यक्त होता हुआ वैचित्र्य, प्रकृति के वैभव का साकार स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए असंख्य प्रशान्त सागर, कल-कल ध्वनि से प्रवाहित होती हुई अनन्त नदियाँ, नाना प्रकार के वृक्ष, पर्वत एवं इन सबसे परिपूर्ण अनेक देशों में विभक्त यह विशाल अवनि-मंडल जन्म लेते ही मनुष्य को उस आश्चर्य-शिला पर समासीन कर देता है[2] जहाँ पर उसका मस्तिष्क इस रहस्याकुल जगत् के रहस्य को सुलझाने के लिए विवश हो जाता है।[3] यही कारण है कि आदिकाल से ही मनुष्य इस जगत् के कारणभूत परमवस्तु की खोज में रहकर स्वाभीष्ट चिन्तन से जगत् का समाधान प्रस्तुत कर रहा है। अतः मानव के जन्मकाल से ही दर्शन-शास्त्र, जिसे विद्वान् तत्त्वमीमांसा के रूप में स्वीकार करते हैं, का उद्भव हुआ; भले ही एक सुसम्बद्ध शास्त्र के रूप में इसका क्रमशः विकास हुआ।

कजिन महोदय ने भी कहा है कि 'जिस दिन मनुष्य ने जन्म लिया, वही दिन विचार शास्त्र का जन्म दिन है'।[4] उपर्युक्त आश्चर्य के विभिन्न प्रकार के समाधान के

---

१. 'प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य ......'। (ब्र० सू० शा० भा० १।१।२)

२. 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्।' (गीता २।२९)

३ 'कोऽद्धावेद क इह प्रवोचत् कुत आ बभूव।'
कुत इयं विसृष्टिः। ऋग्वेद १।३०।६ तथा भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति। (प्रश्न उप० १।३)

४. 'The day which man first reflected was the birth-day of Philosophy, (The History of Modern Philosophyby M. Victor Cousin) एस० एस० त्रिपाठी कृत 'ए स्केच ऑफ दी वेदान्त फिलॉसफी' में उद्धृत पृ० ४९.)

रूप में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा तथा वेदान्त शास्त्रों का उद्गम हुआ। भारतीय विचार-शास्त्र के इन आस्तिक दर्शनों में वेदान्त को उच्चतम स्थान प्राप्त है। इस ग्रन्थ का विषय वेदान्त से संबंधित है, इसलिए वेदान्त तथा उसके तीनो प्रस्थानों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

वेदान्त का लक्षण

'वेद' एवं 'अन्त' इन दो पदो से निष्पन्न 'वेदान्त' शब्द वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् का पारिभाषिक शब्द है। वेदान्त को वेद के अन्तिम भाग के रूप में मानना यद्यपि अधिकांश में सत्य है, पर कुछ वेदान्त ग्रन्थों के विषय में अपवाद परिलक्षित होता है—यथा ईशोपनिषद् तथा वाष्कलोपनिषद् साक्षात् संहिता से लिए गए हैं इसके विपरीत तैत्तिरीय एवं ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक के समान वेद के अन्तिम भाग के नहीं, प्रत्युत आरण्यक मध्य स्थानीय है। कुछ भी हो किसी शास्त्र का स्थान विशेष निर्दिष्ट कर देने से तत्शास्त्र संबंधित लक्षण नहीं दिया जा सकता, अतः एक दूसरे प्रकार से भी वेदान्त की व्याख्या की जाती है। इस व्याख्या के अनुसार वेदान्त वह शास्त्र है जिससे वेद (ज्ञान) का पर्यवसान अर्थात् उसकी चरम सीमा की संप्राप्ति हो जाती है।

शंकराचार्य के अनुसार—'वेदान्त वह शास्त्र है, जिसमें ज्ञातव्य पदार्थों का व्युत्पादन किया जाता है—'सांख्ये ज्ञातव्याः पदार्था संख्यायन्ते यस्मिन् शास्त्रे तत्सांख्यं वेदान्तः।'[1]

आचार्य आनन्दगिरि ने उपर्युक्त शांकरभाष्य के व्याख्यान में लिखा है कि त्वं पदार्थ आत्मा और तत्पदार्थ ब्रह्म इन दोनों के ऐक्यज्ञान तथा तदुपयोगी श्रवणादि पदार्थों के व्युत्पादक शास्त्र को वेदान्त कहते हैं।[2]

सदानन्द[3] ने वेदान्त का लक्षण देते हुए कहा है कि वेदान्त वह शास्त्र है जिसके लिए उपनिषद् प्रमाण है।

शंकर, आनन्दगिरि तथा सदानन्द के दिए गए अद्वैत वेदान्त के लक्षणों के पर्यालोचन से यह निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि वेदान्त वह शास्त्र है जिसका मुख्यतः प्रतिपाद्य तत्त्व शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव सच्चिदानन्द रूप परब्रह्म है, जिसमें जीव और ब्रह्म के ऐक्य ज्ञान के लिए श्रवणादि उपायों का प्रतिपादन किया गया है तथा जिसके मूलस्रोत उपनिषद् हैं।

---

१ गी० शा० भा० १८।१३ पृ० २१०।

२. 'आत्मा त्वम्पदार्थस्तत्पदार्थो ब्रह्म, तयोरैक्यधीस्तदुपयोगिनश्च श्रवणादयः पदार्थास्ते संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्ते।' (गी० भा० टी० १८।१३, पृ० २१०)

३. 'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्' (वे० सा०, पृ० २)

अद्वैत वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय

सासारिक जीव अज्ञान-प्रेरित कामांकुश से आकृष्ट हो जन्म, जरा, मरण, इत्यादिक दुःखव्रात से वशीभूत हो नाना प्रकार की शुभाशुभ देव, तिर्यगादि योनियों में घटीयन्त्र के समान आरोहावरोह न्यायपूर्वक परिभ्रमण करते रहते हैं। अविद्या, काम तथा कर्म से पाशित एवं चंक्रम्यमाण जीव जनन, मरण तथा जननी-जठरशयन से लेकर प्राणवियोग तथा नानाविध क्लेश तथा संताप आदि से कैसे विमुक्त हो, मात्र इस उद्देश्य से वेदान्त शास्त्र का समुद्गम हुआ है। सभी दार्शनिकों ने मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना है तथा उनका ध्येय मोक्ष-प्राप्ति के उपायों का मार्गण है। अद्वैत वेदान्त में मोक्ष उस नित्य पदार्थ को माना गया है जिसके अधिगम से मनुष्य की पुनरावृत्ति नहीं होती।[1] अद्वैत वेदान्त का प्रतिपाद्य तत्त्व ब्रह्म है जिसे अशनादि रहित ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णभेद-विगत, ससंसारी तथा एक मात्र वेदान्त-समधिगम्य बताया गया है।[2] यह नित्य, सर्वज्ञ, सर्वगत, नित्यतृप्त, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव चैतन्य और आनन्द रूप है।[3] इस अद्वय तत्त्व से अतिरिक्त समस्त वस्तु मिथ्या है यद्यपि इन समस्त अविद्याकृत व्यवहारों का आस्पद ब्रह्म को माना गया है।[4] अविद्या प्रत्युपस्थापित[5] होने के कारण सम्पूर्ण द्वैत वस्तु मिथ्या और काल्पनिक है। अविद्योत्थापित नामरूपात्मक संसार व्यावहारिक सत्य भले हो, पर पारमार्थिक दृष्टि से परमात्मा में संभावना मात्र है।[6]

अद्वैत वेदान्त के तीन प्रस्थान

अद्वैत वेदान्त का आधारभूत प्रस्थानत्रयी है : (१) उपनिषद् (२) गीता तथा (३) ब्रह्मसूत्र; जिन्हें क्रमशः श्रुति, स्मृति एवं युक्ति के नाम से भी व्यपदिष्ट किया जाता है। उपनिषद् सर्व प्रथम प्रस्थान है अतः सर्व प्रथम उपनिषद् के स्वरूपादि का प्रतिपादन संक्षेप में किया जाता है।

---

१. 'न स पुनरावर्तते' (छा० उ० ८।१५।१) तथा यद् गत्वा न निवर्तते (गीता १५।६)

२. 'वेदान्तवेद्यमशनायाद्यतीतमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते' (ब्र० सू० शा० भा० उपोद्घात, पृ० २३)

३. वही 'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्येवमादयः।' (१।१।४ पृ० ६९)

४. 'सर्वाविद्याकृतसंव्यवहाराणां पर एवात्मास्पदं नान्योऽस्तीति वेदान्तसिद्धान्तः।' (छा० उ० शा० भा० ८।१२।१ पृ० ४३७)

५. द्रष्टव्य—ब्रह्म सू० शा० भा० १।२।१३ पृ० १७५, १।२।२० पृ० १८६, १।२।२२ पृ० १९१, तथा १।४।२३ पृ० ३३५ आदि।

६. तस्मात् संभावनामात्रः संसारः प्रत्यगात्मनि। उक्तेऽर्थे संशयश्चेत्स्यात्प्रत्यगदृष्ट्या समीक्ष्यताम्। (बृ० उ० भा० वा० ४।३।४२१)

उपनिषद् का लक्षण

सामान्यतः उपनिषद् से वह ज्ञान अभिप्रेत है जिसे गुरु के चरणों के समीप प्राप्त किया जाता है। पर यह व्याख्यान उपनिषदों के विशिष्ट अर्थ का अवबोधक नहीं, अतः उपनिषद् का निर्वचन परक अर्थ दिया जाता है। 'उप'-'नि' इन दो उपसर्गों तथा त्र्यर्थक 'पद्लृ' धातु से निष्पन्न उपनिषत्शब्द ब्रह्म विद्या के लिए प्रयुक्त होता है। 'उप' उपसर्ग सामीप्य का वाचक है जिसका पर्यवसान अन्तर्बहिर्विभागशून्य प्रत्यक् चैतन्य में होता है। 'पद्लृ' धातु 'विशरणगत्यवसादनेषु' स्मृति के अनुसार विशरण, गति तथा अवसादनार्थक है तथा 'उप' के समान 'नि' शब्द भी विशेषण है।[1] शंकराचार्य ने बृहदारण्यक[2] तैत्तिरीय,[3] कठ[4] एवं मुण्डक[5] उपनिषदों के भाष्य में 'पद्लृ' धातु के उक्त कथित अर्थों का ध्यान रखकर उपनिषद् का जो लक्षण दिया है, उसे पूर्णतः ग्रहण कर शंकर-शिष्य सुरेश्वर ने संबंध वार्तिक[6] तथा तैत्तिरीयोपनिषद्-भाष्य-

---

१. द्रष्टव्य, सं० वा० ३-४ पृ० ८, बृ० भा० टी० पृ० २-३, क० भा० टी० पृ० २, मु० भा० टी० पृ० ४, संबंधवार्तिक टी० पृ० ८, तथा तै० उ० भा० वा० टी० पृ० ११-१२।

२. 'यस्मादात्मनः स्थावरजंगमं जगदिदमग्निविस्फुलिंगवद्व्युच्चरन्त्यनिशं यस्मिन्नेव च प्रलीयते जलबुद्बुदवद्यदात्मकं च वर्तते स्थितिकाले तस्यास्यात्मनो ब्रह्मण उपनिषदुप-समीपं निगमयतीत्यभिधायकः शब्द उपनिषदित्युच्यते। शास्त्रप्रामाण्यादेतच्छब्द-गतो विशेषोऽवसीयत उपनिगमयितृत्वं नाम' (बृ० उ० शा० भा० पृ० २ तथा २/१/२० पृ० २५२)

३. तै० उ० शा० भा० पृ० २

४. क० उ० शा० भा० पृ० २

५. 'य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगा-द्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसा-दयति विनाशयतीत्युपनिषत्। उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्।' (मु० उ० शा० भा० पृष्ठ ४)

६. उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः।
निहन्त्यविद्यातज्जं च तस्मादुपनिषद्भवेत् ॥५॥
निहत्यानर्थमूलं स्वाविद्यां प्रत्यक्तयापरम्।
गमयत्यस्तभेदमतो वोपनिषद्भवेत् ॥६॥
प्रवृत्तिहेतुनिःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः।
यतोऽवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषन्मता ॥७॥ (सं० वा०)

वार्त्तिक[1] में उपनिषद् का जो लक्षण दिया है उससे 'सद्' धातु के तीनों अर्थों की संगति एवं उपनिषद् के प्रतिपाद्य विचार की प्रतिपत्ति सुतरां स्पष्ट हो जाती है। उनके द्वारा दिये गए लक्षणों के अनुसार 'उपनिषद् वह ब्रह्मविद्या है जो अनर्थकारी अविद्या एवं उससे उत्पन्न समस्त सांसारिक प्रपंचों का अपगमन करती है, जिससे विद्या-संशीलकों के अशेष प्रवृत्तिहेतुक गर्भजन्मादिक बन्धनों का विशरण हो जाता है एवं जिसके द्वारा जीव को ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है अथवा जिसमें आत्यन्तिक श्रेय निषण्ण है।' इसके अतिरिक्त जैसे लांगल को जीविका और जीविका का साधन दोनों कहा जाता है उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थों को भी उपनिषद् कहा जाता है।[2] कहने का अभिप्राय यह है कि मुख्य वृत्ति से अविद्यातिमिरोच्छेदपूर्वक जीव एवं ब्रह्म की आत्यन्तिक अभेदापादिका ब्रह्मविद्या उपनिषद् है पर गौणी लक्षणावृत्ति से ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ भी उपनिषद् हैं, यथा- 'उपनिषदमधीमहे' आदि।[3]

उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय

जो उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय है वही वेदान्त का भी प्रतिपाद्य है। एक अद्वितीय, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म का प्रतिपादन उपनिषदों का मुख्य तात्पर्य है। जगत्कारण ब्रह्म के परिज्ञान से परम श्रेय की प्राप्ति होती है, यह सम्पूर्ण उपनिषदों का निश्चित् अर्थ है।[4] समस्त उपनिषदों की प्रवृत्ति जीव तथा ब्रह्म की एकताबोधनार्थ है। यह ब्रह्मैक्य जीव का मोक्षहै। आचार्य सुरेश्वर के अनुसार जीव के मुक्तिमार्ग का निर्देश सकल उपनिषदों का प्रयोजन है![5]

शंकराचार्य ने माण्डूक्य[6] तथा ईशभाष्य[7] में यह स्पष्ट कहा है कि समग्र उपनिषदों

---

१. विद्यासंशीलिनां यस्माद्गर्भजन्माद्यशेषतः।
उपमृद्नाति विज्ञेयं तस्मादुपनिषद् भवेत्॥
उपेत्य वा निषण्णं तच्छ्रेयं आत्यन्तिकं यतः।
तस्मादुपनिषज्ज्ञेया...... ...॥ (तै० उ० भा० वा० ३५-३६, पृ० ११-१२)

२. यथोक्त विद्याबोधित्वाद् ग्रन्थोऽपि तदभेदतः।
भवेदुपनिषन्नामा लांगले जीवनं यतः॥ सं० वा० ८, पृ० ६।

३. द्रष्टव्य, सं० वा० टी० ८, पृ० ६ तथा तस्माद्विद्यायां मुख्यावृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भवेदिति।'

४. 'जगतश्च यन्मूलं तत्परिज्ञानात्परं श्रेय इति सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः।'
(प्र० उ० शा० भा० पृष्ठ ५४)

५. 'सर्वोपनिषदामाह मुक्तिमात्रं प्रयोजनम्' (स० वा० १०)

६. सर्वोपनिषदां तादर्थ्येनैवोपक्षयात्।' (मा० उ० शा० भा० पृ० ३६)।

७. सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात्॥
(ई० उ० शा० भा० पृ० १-३)।

का उपक्षय आत्म-याथात्म्य-निरूपण में ही हो जाता है। उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्म शास्त्रैकसमधिगम्य माना गया है और यह शास्त्र उपनिषद् तथा तन्मूलक वेदान्त दर्शन है। केवल उपनिषद् से अधिगत होने के कारण उत्पत्त्यादि चतुर्विध-द्रव्य-विलक्षण असंसारी ब्रह्म को बृहारण्यक उपनिषद् में 'औपनिषद् पुरुष' कहा गया है।[1] सूत्रकार बादरायण ने भी 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) तथा 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १। १। ४)। इन दो सूत्रों के द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की है। ब्रह्म का यह औपनिषदत्व अद्वैतवेदान्त के आचार्यों द्वारा भी समर्थित है।[2] ब्रह्म के औपनिषदत्व का यही आशय है कि उसका स्वरूपावगम अन्य प्रमाणों से संभव नहीं, केवल उपनिषद् अथवा तन्मूलक वेदान्त के द्वारा संभव है। स्वरूपावगम की आवश्यकता भी है क्योंकि स्वरूप परिज्ञान के बिना दुःख का अन्तभूत मोक्ष मनुष्य के लिए उतना ही असंभव है जितना कि मनुष्य के द्वारा आकाश का चर्मवत् परिवेष्टित होना।[3] कहने का आशय यह है कि आत्यन्तिक शान्ति ब्रह्मस्वरूपावबोध से ही संभव है।[4]

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में उपनिषद् वाक्यों की प्रवृत्ति दो रूपों में वर्णित की है। उपनिषद् की एक प्रवृत्ति परमात्म स्वरूप निरूपण-परा है तथा दूसरी प्रवृत्ति विज्ञानात्मा और परमात्मा की एकत्वोपदेश-परा है।[5] उपनिषदों के मन्थन से यह तथ्य वस्तुतः स्पष्ट हो जाता है। उपनिषदों की ब्रह्म-स्वरूप-प्रतिपादन-परा प्रवृत्ति 'य आत्मा

---

१. तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि '(बृ० उ० ३।९।२६। तुलनीय, पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (क० उ० १।३। ११)।

२. बृ० उ० शा० भा० 'स्वेनैवात्मना व्यवस्थितो य औपनिषदः पुरुषोऽशनायादिवर्जित उपनिषत्स्वेव विज्ञेयो नान्यप्रमाणगम्यस्तं त्वा त्वां विद्याभिमानिनं पुरुषं पृच्छामि।' (३।९।२६ पृ० ४६४-६६) तुलनीय ब्र० सू० शा० भा० १।१।४ पृ० ८६ और ८८; १।२।२२ पृ० १९१ तथा २/२/१० पृ० ४२९ आदि।
नेति नेतीति यच्चोक्त इहौपनिषदः पुमान्।
तस्य साक्षादयं श्रुत्या निर्देशः क्रियतेऽधुना ॥
(बृ० उ० भा० वा०—अ० ३ ब्रा० ९ वा० १५०)
'औपनिषदत्वं पुरुषस्य व्युत्पादयति उपनिषत्स्वेवेति।'
(बृ० उ० भा० टीका—३।९।२६ पृ० ४६९)

३. 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।
(श्वे० उ० ६।२०)

४. 'शान्तिमत्यन्तमेति' (श्वे० उ० ४।११, ४।१४ और ४।१६ तथा क० उ० १।१।१७)

५. ब्र० सू० शा० भा० 'द्विरूपा हि वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः, क्वचित् परमात्मस्वरूप निरूपणपरा क्वचित् विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा।'
(१। ३। २५ पृ० २४६)

आहतपाप्मा' (छा० उ० ८।७।१) 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (छा० उ० ३।४।१), 'योऽशनाया पिपासे', (बृ० उ० ३।५।१), 'नेति नेति' (बृ० उ० ३।३।६) 'अस्थूलमनणु' (बृ० उ० ३।८।८), 'स एष नेति' (बृ० उ० ३।६।२६), 'अदृष्टं द्रष्टृ' (बृ० उ० ३।८।११) 'विज्ञानमानन्दं' (३।६।२८), 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तै० उ० २।१।१) 'अदृश्येऽनात्म्ये' (तै० उ० २।७।१), 'स वा एष महानज आत्मा' (बृ० उ० ४।४।२२), 'अप्राणो ह्यमनाः' (मु० उ० ३।१।२), 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः', (मु० उ० २।१।२), 'विज्ञानघन एव' (बृ० उ० ३।४।१२) 'अनन्तरमबाह्यम् '(बृ० उ० २।५।१६), अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्' (के० उ० १ ४) तथा 'आकाशो वै नाम' (छा० ८।१४।१) इत्यादि श्रुति वचनों से प्रमाणित है। द्वितीय प्रवृत्तिमूलक विज्ञानात्मा और परमात्मा के एकत्व प्रतिपादक उपनिषद् वाक्य—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० उ० २।६।१), 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्' 'स एव इह प्रविष्टः' (बृ० उ० १।४।७), 'एष त आत्मा' (बृ० उ० ३।७।३) 'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० उ० 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढ आत्मा (क० उ० १।३। १२) 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः' (छा० उ० ६।३।२), और 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।१६) आदि है। यही जीवब्रह्मैक्यबोधन उपनिषद् और तन्मूलक वेदान्त दर्शन का परम प्रयोजन है।

स्वरूप-प्रतिपादक उपनिषद् वाक्यों में से कुछ उपनिषद् वाक्य निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप निरूपित करते हैं और कुछ सगुण ब्रह्म का। निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का भी निरूपण भावमुखेन तथा अभावमुखेन दो प्रकार से किया गया है। 'सत्यं ज्ञानम्' (तै० उ० २।१।१), 'विज्ञानमानन्दम्' (बृ० उ० ३।६।२८), 'य आत्मा' (छा० उ० ८।७।१) तथा 'विज्ञानघन एव' (बृ० उ० २।४।१२), इत्यादि ब्रह्मस्वरूपनिरुपक वाक्य ब्रह्म का भावतया निर्देश करते हैं। ऐसे ब्रह्म-स्वरूप-निर्देशक श्रुतिवाक्यों से ब्रह्म के शून्यत्व का प्रसंग नहीं उपस्थित होता क्योंकि इनमें स्पष्टतः ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप अवगत होता है। 'अस्थूलमनण्वम्' (बृ० उ० ३।८।८) इत्यादि श्रुतिवाक्य ब्रह्म का स्वरूप अभावमुखेन प्रतिपादित करते हैं। इन श्रुतिवाक्यों से ज्ञात होता है कि ब्रह्म अद्वैत, असंग, अक्षर, अपरिच्छिन्न, निर्गुण, निरंश, निरंजन, निष्कल, निर्विकार, निर्लेप, निरतिशय, निरवयव, निरुपाधिक, निर्धर्मक तथा सथा सर्वविधभेदरहित है।

'सर्वकर्मा सर्वकामः' (छा० उ० ३।१४।४) तथा 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि उपनिषद् वाक्य सगुण अर्थात् सोपाधिक ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रथम प्रकार के अर्थात् भावाभावोभय-विधया ब्रह्मस्वरूपाववोधक वाक्य ब्रह्म के स्वरूप-लक्षणज्ञापक हैं और दूसरे प्रकार के सगुण ब्रह्म प्रतिपादक वाक्य तटस्थलक्षणाभिधायक हैं।

उपनिषदों का वर्णन क्रम भगवान् शंकराचार्य ने अपने भाष्य में संक्षेपतः अधो-लिखित रूप में उपन्यस्त किया है।

'सर्वासु ह्युपनिषत्सुपूर्वमेवत्वं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तैर्हेतुभिश्च परमात्मनो विकारांशादित्वं जगतः प्रतिपाद्य पुनरेकत्वमुपसंहरति ।'[1]

अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास प्रस्थान समर्थक श्रुतिवाक्य

मण्डन मिश्र, पद्मपादाचार्य तथा सुरेश्वराचार्य ने क्रमशः अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास प्रस्थान को प्रतिष्ठापित किया । मंडनोपस्थापित अवच्छेद तथा पद्मपादोपस्थापित प्रतिबिम्ब को वाचस्पति मिश्र तथा प्रकाशात्म मुनि ने सम्यक् रूप से प्रतिष्ठापित किया । अतः इन दोनों प्रस्थानों के प्रधान प्रवर्तक के रूप में वाचस्पति तथा प्रकाशात्मन् को माना गया है । इन आचार्यो के द्वारा प्रतिष्ठापित प्रस्थान श्रुतिसिद्ध हैं, यह प्रदर्शित करने के लिए तत्तत्प्रस्थान समर्थक श्रुतिवाक्यों को उद्धृत किया जाता है ।

१ अवच्छेद समर्थक श्रुतिवाक्य—

(१) 'तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।
(मु० उ० २।१।१)

(२) 'ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाऽऽविशन्ति ।
(मु० उ० ३।२।५)

(३) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः ।' (छा० उ०)

(४) 'एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । (छा० उ० ३।१२।६)

(५) 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० उ० १।६।२) ।

(६) 'यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः'
(बृ० उ० २।१।२०)

(७) 'अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमप्स्वोतं प्रोतं च कस्मिन्नु खलु वायु ओतश्च प्रोतश्चेति वायो गार्गीति⋯ '
(बृ० उ० ३।६।१)

(८) 'सा वा एष देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्यायैना मृत्युमत्यवहत् ।'
(बृ० उ०१।३।११)

२. प्रतिबिम्ब या आभास समर्थक श्रुतिवाक्य—जिन श्रुतियों के द्वारा प्रतिबिम्बवादी अपने (प्रतिबिम्ब) प्रस्थान का समर्थन करते हैं उन्हीं श्रुतियों से आभासवादी अपने (आभास) प्रस्थान का अतः प्रतिबिम्ब तथा आभास समर्थक श्रुतियों का पृथक्-पृथक् उल्लेख नहीं किया जा सकता ।

(१) तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामाऽयमिदं रूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामाऽयमिदं रूप इति स एष इह प्रविष्टः ।' (बृ० उ० १।४।७)

---

१. ब्र० उ० शा० भा० २।१।२० पृ० २६२ ।

(२) 'स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स या एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपं हैवेनमपगच्छति ना प्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते' (बृ० उ० २। १। ८) तुलनीय २। १। ९ तथा २। १। १२)।

(३) 'इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषि : पश्यन्नवोचत्। रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय (बृ० उ० २। ५।१९)।

(४) 'याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवाय च्छायामय. पुरुष स एष वदैव गार्गि तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच।' (बृ० उ० ३। ९। १४ तुलनीय ३। ९। १५)।

(५) 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता. अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० उ० ६। ३। २)।

(६) 'यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥'
(श्वे० उ० २। १४)

(७) 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितं'। (श्वे० उ० ३। १७)

(८) आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे च्छायैतस्मिन्नेतदा ततम्।
मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिन् शरीरे। (प्र० उ० ३। ३)

(९) 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।
(क० उ० २। २। ९)

(१०) 'वायुर्यथैको... ....' (क० उ० २। २। १०)।

(११) 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा य. करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥'
(क० उ० २। २। १२)।

(१२) 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति'।
(नृसिंह उ० ९)

वेदान्त दर्शन का द्वितीय प्रस्थान—श्रीमद्भगवद्गीता

द्वितीय प्रस्थानभूत गीता महाभारत के भीष्म पर्व का अंश है। शंकराचार्य ने अष्टादश अध्यायों में प्राप्त इस सप्तशतश्लोकी गीता को सम्पूर्ण वेदार्थसार-संग्रहभूत तथा दुर्विज्ञेयार्थ बताया है।[1] गीता के अध्यायों के अन्त में दी गई पुष्पिका[2] से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका मुख्य विषय ब्रह्मविद्या है।

---

१. 'तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्ज्ञेयार्थम्।
(गी० शा० भा० उपोद्घात)

२. 'ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाम्।'

गीता का प्रतिपाद्य विषय

उपनिषदों के समान गीता का भी प्रतिपाद्य तत्त्व परब्रह्म है। इस परम तत्त्व के निर्गुण तथा सगुण रूपों को गीता में क्रमशः अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम कहा गया है। अक्षर ब्रह्म परब्रह्म है। (अक्षरं ब्रह्म परमं, गी० ८।३) तथा सम्पूर्ण वस्तुओं से परे है। इसे ही अनिर्देश्य, अव्यक्त, कूटस्थ, अचल तथा ध्रुवतत्त्व बताया गया है।[1] निर्गुण का स्वरूप उपक्रम अर्थात् द्वितीय अध्याय (श्लोक, ११-५३) में निरूपित है। इसके स्वरूप का अवबोधन उस गति को प्राप्त करना है जहाँ पहुँच कर मनुष्य की पुनरावृत्ति नहीं होती।[2] गीता के कृष्ण पुरुषोत्तम (ईश्वर) है।[3] पुरुषोत्तम आत्म विभूतियों से न केवल इस लोकों में व्याप्त हैं[4] प्रत्युत तीनों लोकों में प्रविष्ट हैं तथा उसे धारण करते हैं।[5] मायार्थक रूप में प्रकृति शब्द का गीता में अनेकशः उल्लेख[6] यह सिद्ध करता है कि श्रीमद्भगवद्गीता माया और प्रकृति को समानार्थक मानती है। माया या प्रकृति यहाँ दो रूपों में वर्णित है—

(१) दैवी माया अथवा दैवी प्रकृति या प्रकृति,

(२) मोहिनी प्रकृति या माया।

दैवी माया या दैवी प्रकृति सर्जनात्मिका शक्ति है, जिसके अवष्टम्भ से ईश्वर सृष्टि, स्थिति तथा लय कारक है।[7] इस शक्ति को योगमाया भी कहते हैं।[8] माया या मोहिनी प्रकृति मोहात्मिका अर्थात् आसुरी तथा राक्षसी शक्ति है जिसके कारण जीव व्यर्थ की आशा, ज्ञान एवं अविवेक से युक्त हो जाते हैं[9] तथा संमूढ होकर बराबर जन्मादि के भाजन बनते हैं।[10] गीता की उक्त द्विरूपवर्णित प्रकृति को माया कीविक्षेप एवं आवरण शक्ति की उद्भाविका के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

---

१. गीता १२।३, २।२५, तथा १०। १२ आदि।

२. 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गी० १०।२१) तथा 'यद्गत्वा न निवर्तते' (वही० १५।६)

३. वही ८।१, १०, १५ तथा ११।३ आदि।

४. वही, १०।१६।

५. 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः। (वही १५।१७)

६. वही ७।१४, ९।१३, ९।७-८ तथा ९।१०।

७. वही—९। ७-८ तथा ९।१०।

८. 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः' (वही ७।२५) राधाकृष्णन ने योगमाया का अर्थ 'क्रियेटिव पावर' किया है, (भगवद्गीता अनुवाद पृ० २२३)

९. गीता—९।१२।

१०. वही—७।२७।

जीव जब ज्ञान के द्वारा माया या अज्ञान का नाश कर देता है तब उसके लिए आदित्य स्वरूप परम ज्ञान प्रकाशित हो जाता है[1] अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है तथा ज्ञान से निर्धूतकल्मष हो जाने के कारण पुनरावृत्ति रहित हो जाता है।[2] जैसे दीप्ताग्नि इन्धनसमूह को भस्मसात् कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि अज्ञानस्वरूप कर्मकलाप को भस्मसात् कर देता है,[3] इसीलिए गीता संसार-सेतु-तितीर्षु जीव को ज्ञानप्लव के आश्रयण का उपदेश देती है।[4]

अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास समर्थक गीताश्लोक—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (१५।७), 'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।' (१३।३२),' यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्। १०।४१ तथा 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'' (१०।४२) आदि श्लोकों से अवच्छेद प्रस्थान तथा 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।' (६।३१) 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव (७।७) 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' (१३।१४) तथा 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो' (१५।१५) इत्यादि श्लोकों से प्रतिबिम्ब तथा आभास प्रस्थान समर्थित होता है।

वेदान्त का तृतीयप्रस्थान-ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्र वेदान्त दर्शन का तृतीय प्रस्थान है जिसमें सूत्रकार बादरायण ने उपनिषदों के प्रतीयमान विरोधी सिद्धान्तों का समाहित रूप प्रस्तुत किया है। भाष्यकार शंकर के अनुसार[5] सूत्रकार ने इसमें वेदान्तवाक्यरूप कुसुमों को ग्रथित किया है। इस ब्रह्मसूत्र को वेदान्तसूत्र अथवा शारीरक सूत्र भी कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र इतने सूक्ष्म एवं तिरोहितार्थ हैं कि उनके आधार पर उनमें निहित दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत करना अत्यन्त कठिन है।[6] इसीलिए उनके विशदीकरण के लिए स्फुटार्थनिरूपण-परक विविध भाष्यग्रन्थ लिखे गये।

---

१. गीता—५।१६।
२. 'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।' (वही ५।१७)
३. वही—४।३७।
४. 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि' (वही ४।३६)
५. 'वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्।'
(ब्र० सू० शा० भा० १।१।२ पृ० ५०)
६. "The sutras by themselves have not produced any sense to whatever independent efforts may be applied to them," A Study of Shankar by Nilkantha Shastry p 84)

अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास समर्थक ब्रह्मसूत्र

'ईक्षतेर्नाशब्दं (१।१।५), 'स्मृतेश्च' (१।२।६), 'स्थित्यदनाभ्यां च' (१।३।७) 'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्' (२।१।१३) 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (२।१।१४) 'अधिकं तु भेदनिर्देशात' (२।१।२२) 'नात्माऽ श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (२।३।१७) 'प्रकाशादिवन्नैवं परः' (२।३।४६) तथा अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके' २।३।४३) सूत्रों से अवच्छेद तथा 'अन्तर उपपत्तेः' (१।२।१३), 'प्रकाशादिवन्नैवं परः' (२।३।४६), 'स्मरन्ति च' (२।३।४७), 'आभास एव च' (२।३।५०), 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्' (३।२।१५), 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (३।२।१८) 'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्' (३।२।१९), 'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामंजस्यादेवम्' (३।२।२०) तथा 'दर्शनाच्च' (३।२।२१) सूत्रों से प्रतिबिम्ब तथा आभास प्रस्थान प्रमाणित होता है।

द्वितीय अध्याय

शंकराचार्य के मूलभूत सिद्धान्त

भूमिका

आचार्य शंकर की जीवनी तथा सिद्धान्त के विषय में बहुत लिखा जा चुका है अतः मैं उनकी जीवनी तथा सिद्धान्त के विषय में पूर्वविवेचित दृष्टिकोण को पिष्टपेषण के भय से शोध प्रबन्ध में स्थान नहीं देना चाहता। प्रायः यह स्वीकृत है कि यह केवल ३२ वर्ष की अवस्था तक स्थूल शरीररत रहे। पर इतनी कम अवस्था में इन्होंने प्रस्थानत्रयी पर युक्तिजाल परिपूर्ण भाष्यग्रन्थों तथा अनेक प्रकरण ग्रन्थों के निर्माण के साथ ही बौद्धों, शैवों, शाक्तों, वैष्णवों तथा अन्य आस्तिक किंवा नास्तिक विचारों के प्रचण्ड वातायन से निष्प्राण और दोलायमान होते हुए भारतीय समाज को संजीवनी शक्ति देकर स्थिर किया एवं सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर चारों दिशाओं में चतुर्मठ स्थापित कर अद्वैत वेदान्त के उस प्रदीप को प्रज्वलित किया, जिसका प्रकाश सहस्रवर्षों के व्यतीत होने पर भी आज अक्षीण है। शंकराचार्य का जन्मकाल ७८८ ई० और मृत्युकाल ८२० ई० अनेक विद्वानों को अभ्युपगत है।[१] इनके गुरु का नाम आचार्य गोविन्दपाद तथा परम गुरु का नाम आचार्य गौडपाद था। गोविन्दपादाचार्य के विषय में या उनके ग्रन्थकर्तृत्व के विषय में विशेष ज्ञात नहीं है। इतना अवश्य है कि आचार्य गोविन्दपाद पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ, वेद और ब्रह्म के रहस्य के प्रकाश थे तथा उनके वाक् रूप सार रश्मियों के संपतन से शंकराचार्य का अज्ञानरूप पापौघ नष्ट हुआ था तथा अद्वैत वेदान्त की दृष्टि प्राप्त हुई थी।[२] आचार्य गौडपाद अद्वैत वेदान्त के अतिसम्मानित आचार्य हैं। शंकराचार्य के द्वारा यह सम्प्रदायवेत्ता[३] के रूप में तथा अन्य परवर्ती वेदान्तियों द्वारा वृद्धरूप[४] में उल्लिखित किये गये हैं। वेदान्तार्थसम्प्रदायवित् आचार्य गौडपाद ने माण्डूक्योपनिषद् पर एक कारिका ग्रन्थ

---

१. द्रष्टव्य—नीलकंठभट्टकृत शंकरमंदार सौरभ (आर्य विद्या सुधाकर); अध्यापक टीले : आउट लाइन आफ दी हिस्ट्री आफ एन्सेन्ट रिलीजन्स, पृष्ठ १४१; 'कल्यब्दे चन्द्रनेत्रांकवह्न्यब्दे गुहाप्रवेश: 'वैशाखे पूर्णिमायां तु शंकर : शिवतामियात् ।' (के० बी० पाठककृत डेट आफ शंकराचार्य 'इण्डियन ऐन्टीक्वेरी' १८८२, पृ० १७३-७५)।

२. पदवाक्यप्रमाणज्ञैर्दीपभूतैः प्रकाशितम् ....ब्रह्मविद्याविनिश्चयम् ॥
(उपदेशसाहस्री, प्रकरण १७, पृ० १७२, श्लोक २-३, निर्णय सागर प्रेस)

३. ब्र० सू० शा० भा० १।४।१४ पृ० ३२० तथा २।१।९ पृ० ३६५।

४. रामानन्द यति कृत ब्र० सू० शा० भा० टीका (रत्नप्रभा) २।१।३ पृ० ३६९।

लिखा जो अद्वैत के आचार्यों द्वारा श्रुतिसम समादृत है।[1] गौडपादाचार्य की कारिकाओं में भी आभासवाद का उपोद्वलक बीजतत्त्व पाया जाता है जिसका निर्देश शंकराचार्य के आभास शब्दावली के परिसर में किया जायेगा।

आचार्य शंकर को लगभग २०० की संख्या के भाष्यग्रन्थों तथा प्रकरण ग्रन्थों का रचयिता माना जाता है। इनमें से कतिपय ग्रन्थों को[2] भ्रमवश आदि शंकराचार्य रचित स्वीकार कर लिया गया है पर उनमें से कितनी रचनाएँ अन्य परवर्ती शंकराचार्य उपाधि-धारी आचार्यों के द्वारा रचित हैं — यह एक स्वतंत्र गवेषणात्मक अध्ययन का विषय है।

इसके पूर्व कि आभासवाद के प्रतिष्ठापक आचार्यों के विचारवर्त्म को प्रकाश में लाया जाय - यह आवश्यक है कि अच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद तथा उनके अवान्तर तरंगिणियो के मूलभूतस्रोत का शंकराचार्य के ग्रन्थों में अनुसंधान किया जाय। इस दिशा में पूर्ण पर्यालोचन के अनन्तर यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य ने स्वाभिमत अद्वैत सिद्धान्तों का उपन्यास अवच्छेद, प्रतिबिम्ब और आभास इन तीनो की शब्दावली में किया है किन्तु इनको विभिन्न वादों के रूप में परवर्ती शंकरानुयायियों ने प्रतिष्ठापित किया। यहाँ पर उन स्थलों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया जाता है, जिनमें अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास की शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

शांकर-ग्रन्थों में अवच्छेद की शब्दावली

ब्रह्म अपरिच्छिन्न है[3]

नेत्रेन्द्रियगोचर संसृति के समग्र सांव्यावहारिक—प्रातिभासिक पदार्थसार्थ तथा

---

१. 'अत्रापि श्रुतिं पठति:—विश्वो हीति'—(बृ० उ० भा० वा० टीका (शास्त्र प्रकाशिका) १।४।७४४ पृ० ५८२ तथा सदानन्द, अद्वैत ब्रह्मसिद्धि: श्रुतिश्च विद्वद् अनुभवे प्रमाणम्—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ इति पृ० २१३।

२. कुछ विद्वान् सनत्सुजातीयभाष्य को शंकराचार्यकृत मानते हैं जबकि यह मान्यता असंभव है क्योंकि सनत्सुजातीयभाष्य के दूसरे अध्याय के ८ वें श्लोक के भाष्य में आनन्दगिरि के टीकांश के साथ शंकरशिष्य सुरेश्वराचार्यकृत बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य-वार्तिक के प्रथम अध्याय के तीसरे ब्राह्मण का निम्न (५३ वाँ) वार्तिक उद्धृत है:—

स्वाभासफलकारूढस्तदज्ञानजभूमिषु।

तत्स्थोऽपि तदसंबद्ध ईश्वराद्यात्मतां गताः॥

(द्रष्टव्य: शंकराचार्य विरचित प्रकरणग्रन्था: पृष्ठ ४८७ तुलनीय बृ० उ० भा० वा० टीका १।३।५३ पृ० ३५१-५८)।

३. द्रष्टव्य—बृ० उ० शा० भा० १।५।१३, पृ० २००-२०१, मु० उ० शा० भा० ३।२।६ पृ० ४८, छा० उ० शा० भा० ३।१२।६ पृ० १३७, ८।४।१ पृ० ४६१, गी० शा० भा० १३।१३ पृ० ४७, तथा तत्त्वोपदेश—८३ पृ० २४।

कार्याधिगम्य अव्याकृतादि देश काल या वस्तु की इयत्ता से युक्त होने के कारण परिच्छिन्न हैं। उदाहरणार्थ देशतः परिच्छेदरहित आकाश काल और वस्तु से अनन्त न होने के कारण कालतः तथा वस्तुतः परिच्छिन्न है। कालतः अनन्त गोत्ववुद्धि नितान्त भिन्न अश्वत्त्व बुद्धि नामक वस्तु से निवृत्त होने के कारण वस्तुपरिच्छिन्न है।[1] इसी प्रकार काल से अपरिच्छिन्न अर्थात् त्रिकालातीत, कार्याधिगम्य अव्याकृत (अज्ञान) तथा सूत्रादि भी वस्तुपरिच्छिन्न हैं।[2] वृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य[3] में शंकराचार्य ने संपूर्ण भूतों तथा निखिल लोकों को कार्य, स्थूल एवं परिच्छिन्न सिद्ध किया है। पर श्रुति-स्मृति-युक्ति-समधिगत ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप, प्रकाशस्वरूप, विगलितसमस्तप्रपंच, अद्वैत, अनन्त तथा अमेय अर्थात् इयत्तारहित होने के कारण परिच्छेदशून्य है।[4] ब्रह्म की त्रिविध परिच्छेद शून्यता शंकर ने इस प्रकार सिद्ध की है।

काल से अपरिच्छिन्न[5]

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इस श्रुति से आत्मा अकार्य तथा कारण रहित समधिगत है अतः यह काल से परिच्छिन्न नहीं हो सकता। जो वस्तु-व्रात प्राणादि नाम-पर्यन्त कलाओ से युक्त होते हैं वही कालत्रय से परिच्छिन्न हो उत्पत्ति एवं विनाश के भाजन होते हैं पर यह ब्रह्म अकल (निष्प्रपंच) है, इसलिए कालत्रय इसके अवच्छेदक नहीं हो सकते। उत्पत्ति-संशीलक सम्पूर्ण पदार्थों के परिच्छेदक दिन और रात्रि भी इसके इसके अतिक्रामक नहीं। अन्य सांसारिक पदार्थसार्थं निश्चयतः इस अहोरात्रादि रूप काल से परिच्छेद्य है, पर ब्रह्म नहीं—यह 'यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते' (वृ० उ० ४। ४। १६) इस श्रुत्यन्तर से भी ज्ञात होता है।[6]

वस्तु से अपरिच्छिन्न[7]

सजातीय, विजातीय, स्वगत इन त्रिविध भेदों से रहित[8] ब्रह्म वस्तुपरिच्छिन्न

---

१. तै० उ० शा० भा० २।१ पृ० ५५।
२. 'यच्चान्यत्त्रिकालातीतं कार्याधिगम्यं कालापरिच्छेद्यम् अव्याकृतादि…।' (मा० उ० शा० भा० आगम प्रकरण पृ० ११)।
३. वृ० उ० शा० भा० ३।६।१, पृ० ४२४।
४. विज्ञान नौका, श्लोक ५ पृ० ३ (कुम्भकोणम् से प्रकाशित) तथा वि० स० ना० भा० पृ० ५२८, तथा श्वे० उ० शा० भा० पृ० २५७ (गीता प्रेस)
५. तै० उ० शा० भा० २।१ पृ० ५५, तथा श्वे० उ० शा० भा० पृ० २३७ (गी० प्रेस)
६. सेतुमात्मानमहोरात्रे सर्वस्य जनिमतः परिच्छेदके सती नैवं तरतः। यथाऽन्ये संसारिणः कालेनाऽहोरात्रादिलक्षणेन परिच्छेद्या न तथायं कालपरिच्छेद्य इत्यभिप्रायः। यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तत इति श्रुत्यन्तरात्।' (छा० उ० शा० भा० ८।४।१ पृ० ४०१-४०२)
७ तै० उ० शा० भा० २।१ पृ० ५५
८. सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह—६६२-६३ पृ० १८६-९०।

नहीं हो सकता। आत्मातिरिक्त अन्य कोई वस्तु नही है, इसलिए उसकी अपरिच्छिन्नता यथावत् है। एक वस्तु से भिन्न दूसरी वस्तु एक दूसरे को परिच्छिन्न करती है। इस अद्वय तत्व से अतिरिक्त अन्य कोई तत्समान-सत्ताक वस्तु नही, जो उसको परिच्छिन्न कर सके।

देश से अपरिच्छिन्न

आकाश जैसे अनन्त तथा सर्वगत वस्तु का कारण होने के कारण ब्रह्म देश से भी अपरिच्छिन्न है क्योंकि लोक में यह देखा जाता है कि कोई सर्वगत वस्तु उससे अधिक वस्तु से ही आविर्भूत होती है।[1] इसके अतिरिक्त यदि ब्रह्म देश परिच्छिन्न हो तो मूर्त द्रव्य के समान सादि सान्त, पराश्रित, सावयव, अनित्य और कृतक हो जायगा,[2] जब कि श्रुतियों से एतद्विपरीत वर्णित होने के कारण वह एवंविध नहीं हो सकता। अतः ब्रह्म देशतः अपरिच्छिन्न है।

कहने की अभिसंधि यह है कि ब्रह्म का देश काल या वस्तु किसी से अन्त या परिच्छेद नही है[3] और इसीलिए शांकर सम्मत यह सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म त्रिविध परिच्छेद शून्य है।

ब्रह्म का पारमार्थिक और व्यावहारिक द्विरूप-पर तथा अपर ब्रह्म

ब्रह्म के दो रूप हैं। इसका पारमार्थिक रूप पर ब्रह्मात्मक है जिसका उपदेश अविद्याकृत नाम-रूपादि विशेषों के प्रतिषेधपरक अस्थूलादि शब्दों से श्रुतियों में किया गया है। यही ब्रह्म नामरूपादि विशेषों से विशिष्यमाण हो जब उपासना के लिए 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२) इत्यादि शब्दों मे उपदिष्ट होता है तब उसे अपर ब्रह्म कहा जाता है।[4] पर ब्रह्म समस्त उपाधिविशेषों से रहित, सम्यग्दर्शनविषय, अज, अजर, अमर, अभय, वाणी और मन का भी अविषय है तथा अद्वैत होने के कारण वेदान्तग्रन्थों में नेति-नेति रूप से निर्दिष्ट किया जाता है। इसे ही निरुपाख्य या निरुपाधिक

---

१. तै० उ० शा० भा० २।१ पृ० ५६।

२. यदि हि देशपरिच्छिन्नं ब्रह्म स्यान्मूर्तद्रव्यवदाद्यन्तवदन्याश्रितं सावयवमनित्यं कृतकं च स्यात्। न त्वेवंविधं ब्रह्म भवितुमर्हति।' (मु० उ० शा० भा० ३।२।६ पृ० ४८)

३. 'अस्यान्तः परिच्छेदो देशतः कालतो वस्तुतो वा न विद्यत इति।' (श्वे० उ० शा० भा० १।६। पृ० ११७, गीता प्रेस) तुलनीय बृ० उ० शा० भा० १।३।१। पृ० ५२)।

४ 'यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद् विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राण शरीरो भारूपः' (छा० उ० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। (ब्र० सू० शा० भा० ४।३।१४ पृ० ८८६) तथा वही १।१।१२ पृ० ११६।

ब्रह्म कहा जाता है। अपर ब्रह्म पंचभूतजनित देह और इन्द्रिय से सम्बद्ध तथा तज्जनित वासनारूप वाला है। यह सर्वज्ञ है, सर्व-शक्तिमत् है तथा शब्दप्रत्ययविषयी होने के कारण सोपाख्य या सोपाधिक पदाभिधेय है। 'नेति 'नेति' निषेधात्मक पदों के द्वारा उल्लेख्य ब्रह्म के ही यह दोनों रूप हैं। ब्रह्म का निरूपाधिक रूप अमूर्त (निराकार) अमृत (मरणविपरीत), यत् (यातीति यत्) अर्थात् व्यापक, अपरिच्छिन्न, स्थित, विपरीत-स्वभाव तथा त्यत् अर्थात् इन्द्रियागोचर होने के कारण परोक्षाभिधानार्ह है। इसके विपरीत ब्रह्म का सोपाधिक रूप मूर्त (साकार) मर्त्य (मरणधर्मी) स्थित अर्थात् परिच्छिन्न या गति पूर्वक स्थास्नु तथा सत् अर्थात् घटादि अन्य पदार्थों से विशेष्यमाण असाधारण धर्मवाला कहा गया है।[1] ब्रह्मसूत्र (१।३।१३) भाष्य में[2] भगवान् शंकर ने पर तथा अपर इन दो ब्रह्म-रूपों का उल्लेख करते हुए अपर-ब्रह्मोपासक के लिए देश-परिच्छेद युक्त फल का तथा ब्रह्मवेत्ता के लिए देश-परिच्छेद-रहित फल का विधान किया है तथा इन दोनों के फल के अन्तर की पुष्टि के लिए श्रुतियों का उद्धरण भी प्रस्तुत किया है।

निरुपाधिक तथा सोपाधिक ब्रह्म का संबन्ध

ब्रह्म का सोपाधिक और निरुपाधिक दो रूपों में वर्णन करने का अभिप्राय यह नहीं है कि ब्रह्म के दो भेद हैं क्योंकि व्यापक, निरंतर तथा निरुपाधिक परब्रह्म ही अविद्याप्रत्युपस्थापित नाम रूप विशेषों में प्रविष्ट व्यवहारापन्न सा होकर सोपाधिक प्रतीत होता है। सोपाधिक रूप में प्रतीत भी ब्रह्म अपने पारमार्थिक स्वरूप में निरन्तर पूर्ण बना रहता है अर्थात् कार्यात्मक विशेषरूपों में उद्रिक्त होता हुआ भी अपने निरुपाधिक स्वरूप पूर्णत्वअर्थात् ब्रह्मभाव को नहीं छोड़ता।[3] ब्रह्म का यह नामरूपोपाध्यनुरोधि सोपाधिक रूप शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर है।[4] व्यवहारावस्थापर्यन्त इस सोपाधिक ईश्वर की सत्ता है और यह सत्ता व्यावहारिकी है[5], क्योंकि परमार्थावस्था में तो ईशित्व तथा ईशितव्यत्वादिक सम्पूर्ण व्यवहारों की सत्ता असंभव है।

---

१. बृ० उ० शा० भा० २।३।१ पृ० २८३-८४।

२. 'स तेजसि सूर्ये संपन्नः' स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योच्यमानत्वात्। नहि परब्रह्मविद्देशपरिच्छिन्नं फलमश्नुवीतेति युक्तम्, सर्वगतत्वात् परस्य ब्रह्मणः। (ब्र० सू०शा० भा० १।३।१३ पृ० २२०)।

३. बृ० उ० शा० भा० ५।१।१ पृ० ६८०-८१।

४. बृ० उ० शा० भा० २।३।१।

५. विशेषवतो हि सोपाधिकस्य संव्यवहारार्थो गुणगुणिभावो न विपरीतस्य। निरुपाख्यो हि विजिज्ञापयिषितः सर्वस्यामुपनिषदि। स एष नेति-नेति इति उपसंहारात्। (बृ० उ० शा० भा० २।१।१५ पृ० २४१)।

अविद्या स्वरूप तथा नामान्तर

यदि पर ब्रह्म एक है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं तो फिर यह उच्चावच प्रपंच कैसे प्रतिभासित होता है? इसके उत्तर में शंकर ने श्रुति, युक्ति एवं अनुभव के आधार पर एक ऐसी बीजभूत परमात्मशक्ति का सद्भाव माना है जिसके व्यपाश्रय से अद्वय ब्रह्म इस नामरूपात्मक प्रपंचजात की कारणता का निर्वहण करता है। अविद्या न सत् है न असत्। यदि सत् होती तो सर्वदा सर्वत्र होती और कभी बाधित न होती किन्तु 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि तत्त्व ज्ञान से इसकी निवृत्ति हो जाती है। अविद्या असत् भी नहीं क्योंकि ऐसा होने पर वह नामरूपात्मक प्रपंच के पदार्थ-सार्थ की अवभासिका न हो पाती। जिसकी स्वयं न सत्ता हो और न प्रतिभास हो वह कैसे प्रपंचावभासिका हो सकती है? 'अहमज्ञः' इत्याकारक अनुभव गोचर अविद्या को असत् नहीं कह सकते। अतः सत्, असत् तथा तदुभयविलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।[1] शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थों में स्थान स्थान पर अविद्या का अनादि, अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मिका, भावरूपा[2] तथा नैसर्गिकी[3] आदि शब्दों से वर्णन किया है। इस अविद्यात्मिका बीजशक्ति का आश्रय परमेश्वर है।[4] यद्यपि शांकर ग्रन्थों में अविद्या बहुशः परमेश्वराश्रिता तथा परमेश्वर की शक्ति-रूप में वर्णित की गयी है तथापि यह आत्मा के स्वाभाविक धर्म के रूप में नहीं स्वीकृत हो सकती। यदि इसे आत्मा के स्वाभाविक धर्म के रूप में स्वीकृत किया जाय तो इसकी उच्छित्ति कदापि संभव नहीं, जैसे सविता का स्वाभाविक औष्ण्य एवं प्रकाश किसी भी उपाय से नहीं निवृत्त किया जा सकता है।[5]

---

१. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ॥ (विवेकचूडामणि, श्लोक १११) तथा ब्र० सू० शा० भा० २।१।१४ पृ० ३४२।

२. 'सदसद्विलक्षणासौ परमात्माश्रयादनादिः।
सा च गुणत्रयरूपा सृजते चराचरविश्वम्। (प्रबोध-सुधाकर, ६६ पृ० ७४) तथा (विवेकचूडामणि श्लोक ११० पृ० २२८)।

३. 'सत्यां च नैसर्गिक्यामविद्यायाम्......।' (ब्र० सू० शा० भा० ३।२।१५, पृ० ६४३)

४. द्रष्टव्य-ब्र० सू० शा० भा० १।४।३ पृ० २६७-६८ आदि।

५ 'सा चाविद्या नात्मनः स्वाभाविको धर्मो यस्माद् विद्यायामुत्कृष्यमाणायां स्वयमपचीयमाना सती काष्ठां गतायां विद्यायां परिनिष्ठिते सर्वात्मभावे सर्वात्मना निवर्तते रज्ज्वामिव सर्पज्ञानं रज्जुनिश्चये। तच्चोक्तं यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कं पश्येदित्यादि। तस्मान्नात्मधर्मोऽविद्या। नहि स्वाभाविकस्योच्छित्तिः कदाचिदप्युपपद्यते सवितुरिवौष्ण्यप्रकाशयोः। (बृ० उ० शा० भा० ४।३।२० पृ० ५५६)।

यद्यपि परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने माया तथा अविद्या इन दोनों में अन्तर किया है पर आचार्य शंकर ने अविद्या, माया तथा अज्ञान में कोई अन्तर नहीं किया है[1] तथा उनमें से किसी एक का यथावसर प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अविद्या-बोधनार्थ तम, मोह, अव्याकृत, अनवबोध, अप्रतिबोध, अनवगम, आकाश प्रभृति पदों का भी प्रयोग किया है। कतिपय उद्धरणों से इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है :—

(१) 'अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचिद्-आकाशशब्दनिर्दिष्टम् 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च (बृ० उ० ३।८।११) इति श्रुतेः क्वचिदक्षरशब्दोदितम्-(अक्षरात्परतः परः (मु० उ० २।१।२) इति श्रुतेः। क्वचिन्मायेति सूचितम्-'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् (श्वे उ० ४। १०) इति मन्त्रवर्णात्। (ब्र० सू० शा० भा० १।४।३ पृ० २९७-९८)

(२) अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतं सर्वस्माद्विकारात्परो यो विकारस्तस्मात्परतः परं इति भेदेन व्यपदेशात्परमात्मानमिह विवक्षितं दर्शयति।' (ब्र० सू० शा० भा० १।२।२२ पृ० १९१-९२)

(३) 'मोहस्तु विपरीतप्रत्ययप्रभवोऽविवेको भ्रमः, स चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रसवबीजम्।' (बृ० उ० भा० ३।५।१ पृ० ८१०)

(४) 'अप्रतिबोधाद्ब्रह्मास्म्यसर्वं चेत्यात्मन्यध्यारोपात्कर्त्ताऽहं क्रियावान् फलानां च भोक्ता सुखी दुःखी संसारी इति चाध्यारोपयति।

(बृ० उ० शा० भा० १।४।१० पृ० १४२)

(५) 'विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते।

(ब्र० सू० शा० भा० १।३।१९ पृ० २३८)

अविद्या का कार्य

अविद्या का मुख्य कार्य परत्र परावभासरूप अध्यास है। अविद्यासंवृत सत् सर्वदा रहता हुआ भी लक्षित नहीं होता।[2] मिथ्याचाररूपा माया या अविद्या आत्मा को बाह्य रूप से अन्यथा प्रकाशित कर अन्यथा ही कार्य करती है।[3] शांकर ग्रन्थों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सकल नाम-रूप-भेद वाचारम्भणमात्र होने के कारण

---

1. "While Sankara uses avidya and maya indiscriminately, later Advaitins draw a distinction between the two."
(S. Radhakrishnan. The Advaita Vedanta of Sankara. P. 135)
२. 'अविद्ययासंवृतं सन्नलक्ष्यते तत्रस्थमेवाविद्वद्भिः।' (मु० उ० शा० भा० ३।१।७ पृष्ठ ३९)
३. माया नाम वहिरन्यथाऽऽत्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा माया मिथ्याचाररूपा (प्र० उ० शा० भा० पृ० १३) तथा (उपदेश साहस्री, प्रथम भाग प्रकाश २ पृ०२३)

अविद्याकल्पित हैं।[1] ईश्वरादि स्थावरान्त पदार्थसार्थ अविद्यावस्थापर्यन्त तक ही संभव हैं। शंकराचार्य ने जगत् के आविद्यक वस्तुजात को भी अविद्या की आख्या दी है। उनका कहना है कि अध्यास अविद्या है।[2] कहने का आशय यह है कि अन्यवस्तु में अन्यवस्तु का धर्माध्यारोप अविद्या है। जिस प्रकार प्रसिद्ध रजत का प्रसिद्ध शुक्ति में किंवा प्रसिद्ध पुरुष का प्रसिद्ध स्थाणु में आरोप अविद्या है उसी प्रकार देहादि अनात्मा में 'अहमस्मि' इत्याकारक आत्मबुद्धि अविद्या है।[3] स्पष्ट शब्दों में अविद्या के कार्यों का अविद्याव्यतिरिक्त स्वरूप नहीं।

अविद्या तथा कल्पित आत्मपरिच्छेद

आनन्दरूप आत्मा अविद्या के कारण परिच्छिन्न प्रतीत होता है[4]। अपरिच्छिन्न परब्रह्म आविद्यकवस्तु की भ्रान्ति से उसी प्रकार परिच्छिन्न सा प्रतीत होता है जैसे अच्छिन्न, पृथ्वी ग्राम, क्षेत्रादि उपाधियों से छिन्नवत् दृष्टिगोचर होती है।[5] कहने का आशय यह है कि अविद्या एवं उसके कार्यगत आत्मपरिच्छेद के कारण हैं जिनसे परिच्छिन्न हो आत्मा ईश्वर तथा जीवादि रूपों में प्रतीत होता है। परमार्थतः आत्मा का परिच्छेद से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह सर्वगत है। उसको एक स्थान पर परिच्छिन्न मान लेने पर आत्मा के अनित्यत्व का प्रसंग होगा तथा उसकी सर्वात्मकता व्याहत होगी। आत्मपरिच्छेद कल्पित है क्योंकि परिच्छिन्न होते हुए भी आत्मा सर्वगत[6] नित्य[7] तथा महाप्रदेशावच्छिन्न होते हुये एक[8] माना जाता है।

ब्रह्म का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा जगत्कारणत्व—

इस अविद्यारूप उपाधि से परिच्छिन्न ब्रह्म का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा जगत्कारणत्वादिक सिद्ध होता है क्योंकि अस्तमितसमस्तविशेषरूप ब्रह्म में स्वतः इन व्यवहारों

---

1. 'यावत्तन्नानात्वमविद्याकल्पितमनात्मनस्तदस्य' (ब्र० सू० शा० भा० पृ० ४०१)
2. 'तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पंडिता अविद्येति मन्यन्ते' (अध्यास भाष्य पृ० १६)
3. 'देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या।' (ब्र० सू० शा० भा० १।३।२ पृ० २०३)
4. 'स एवात्मा आनन्दरूपो विद्यया परिच्छिन्नो विभाव्यते प्राणिभिरिन्द्रियैः।' (तै० उ० शा० भा० २।३ पृ० ८१)
5. सर्वदर्शनसिद्धान्तसारसंग्रह, श्लोक ६६६-६७ पृ० १६० ।
6. विवेक चूडामणि, श्लोक ५४५ पृ० २६३ ।
7. छा० उ० शा० भा० ३।२ पृ० ३१ ।
8. सर्वदर्शनसिद्धान्तसारसंग्रह, श्लोक ५५३ पृष्ठ १३६ ।

का उपपत्ति असंभव है।[1] अदृश्यत्वादिगुणकभूतयोनि परमात्मा है, सांख्यशास्त्राभिमत अचेतन प्रधान या उपाधिपरिच्छिन्न जीव नहीं क्योंकि 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' (ब्र० सू० १।२।२१) न्याय से सर्वज्ञत्व और सर्ववित्त्व परमेश्वर के धर्म कहे गये हैं।[2] 'विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ' (१।२।२२) सूत्र से भी परमेश्वर का भूतयोनित्व सिद्ध होता है।[3] अन्तर्यामी भी यही परमात्मा है जीव नहीं। यद्यपि द्रष्टृत्वादिक जीव के धर्म हो सकते है, परन्तु घटाकाशवत् उपाधिपरिच्छिन्न जीव न तो पृथिव्यादि के अन्तर्गत अवस्थित हो सकता है और न उनका नियामक बन सकता है।[4]

जीव—मुख्यत. एकत्व तथा औपचारिकत. नानात्व—

जिस प्रकार घट, करक इत्यादि उपाधियों के कारण अपरिच्छिन्न आकाश घटाकाश, करकाकाश इत्यादि परिच्छिन्न रूप में अवभासित होता है उसी प्रकार अनवच्छिन्न परमात्मा ही देहेन्द्रियमनोबुद्धि उपाधियों से परिच्छिद्यमान सा हो शारीर (जीव) रूप से व्यपदिष्ट होता है।[5] मधुसूदन सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तबिन्दु तथा अप्पय दीक्षित ने निज ग्रन्थ सिद्धान्तलेशसंग्रह में दृष्टि सृष्टिवाद और एक जीववाद को मुख्य वेदान्त सिद्धान्त माना है।[6] श्रीचन्द्रशेखर दीवान ने सिद्धान्तबिन्दु की 'मुख्यो वेदान्त एकजीववादाख्यः' पंक्ति की टिप्पणी में एक जीववाद अथवा दृष्टि सृष्टि वाद को शंकराचार्य का मत बतलाया है।[7] वस्तुतः शंकर के ग्रन्थों के परिशीलन से यही स्पष्ट होता है कि शंकर जीव को मुख्यतः एक और उपाधिवशात् नाना मानते थे—

---

१. 'तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते।' (ब्र० सू० शा० भा० २।१।१४ पृ० ३८२) तथा
'चैतन्यं तदवच्छिन्नं सत्यज्ञानादिलक्षणम्।
सर्वज्ञत्वेश्वरत्वांतर्यामित्वादिगुणैर्युतम्॥ (सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह पृ० १९१)
२. ब्र० सू० शा० भा० १।२।२१ पृ० १८६ से १९०।
३. वही १।२।२२ पृ० १९१-९२।
४. वही १।२।२१ पृ० १८८।
५. 'पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते। यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपिनभः परिच्छिन्नवदवभासते तद्वत्। वही १।२।६ पृ० १६५): वही १।२।२० पृ० १८५, १।२।२१ पृ० १८८; १।२।२२ पृ० १९१, १।३।१४ पृ० २२६ तथा १।४।१८ पृ० ३२६)
६. 'अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति वा, अज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानोपहितं जीव इति वा, मुख्यो वेदान्त सिद्धान्त एकजीववादाख्यः। इयमेव च दृष्टिवादमाचक्षते।
सिद्धान्तबिन्दुः। सिद्धान्तलेशसंग्रहः प्रथम परिच्छेद पृष्ठ १२१।
७. "The three theories above set forth are propounded by the followers of Sankaracharya who differed from him in some

एवमेकत्वं नानात्वं च हिरण्यगर्भस्य तथा सर्वजीवानाम् ।[1] अर्थात् जीव हिरण्यगर्भवत् समाष्टिबुद्ध्युपाध्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में एक है किन्तु नाना व्यष्टि बुद्ध्युपाध्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में नाना प्रतीत होता है । जीवों की औपाधिक अनेकता का स्पष्टीकरण करते हुए शंकराचार्य का कहना है[2] कि जैसे सुदीप्त अर्थात् प्रज्वलित हुए अग्नि से उसी के से रूप वाले सहस्रों (अनेक) अग्नि-अवयव रूप विस्फुलिंग निकलते है या जैसे घटादि उपाधि भेद के अनुसार उन घटादि से परिच्छिन्न आकाश से बहुत से सुषिर (घटाकाशादि) अवभासित से होने लगते हैं उसी प्रकार अनेक देह रूप उपाधि भेद से परिच्छिद्यमानवत् अक्षर ब्रह्म से नामरूप कृत देहोपाधि-प्रभवसमकाल तदुपहित नाना जीव अवभासित होते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि मुख्यतः ब्रह्म एक ही है पर उपाधि से अवच्छिन्न होने के कारण वह अनेक नाम रूपों में निर्भासित सा होता है । परमात्मा का यह जीवभाव उपाधिनिबन्धन है ।[3] उपाधि संबन्ध के बिना जीव का स्वतः कोई आधार नहीं क्योंकि उपाधि संबंध के अभाव में ब्रह्म से पृथक् न होने के कारण जीव स्वमहिमप्रतिष्ठ है ।[4]

जीवपरिमाण विचार

दिगम्बर (आर्हत) जीव को शरीरपरिमाण मानते हैं । पर जीव को शरीर परिमाण रूप मानने पर आत्मा अकृत्स्न, असर्वगत एवं परिच्छिन्न हो जायगा और

---

minor particulars. His own theory is known as the एक जीववाद (onesoul-theory) or दृष्टिसृष्टिवाद (Theory of Idealism).

In that theory the Supreme Being is either the self which being qualified by ignorance bceomes the dix or which remains pure i. e., unqualified by ignorance and the individual soul is either the self reflected in or qualfied by ignorance."

(Notes on Siadhanta Bindu, P.94 (G. O. S) तुलनीय Dinesh Chandra Bhattacharya: Mandana, Suresvara and Bhavabhuti- "Sankara and his host of followers generally favours Ekajivavada (Indian Historical Quarterly for 1931 Vol VII P. 302,

१. बृ० उ० शा० भा० १।४।६ पृ० ६७ ।
२. मु० उ० शा० भा० २।१।१ पृ० २० ।
३. ब्र० सू० शा० भा० १।१।१४ पृ० ३८२ ।
४. 'न ह्युपाधिसम्बन्धमन्तरेण स्वत एव जीवस्य आधारः कश्चित् संभवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिम प्रतिष्ठितत्वात् । (ब्र० सू० शा० भा० ३।२।७ पृ० ६३३) तथा वही-२।३।३० पृ०

घटादि के समान उसके अनित्यत्व तथा अन्तवत्त्व का प्रसंग होगा। आर्हत मत की मान्यता कर्म सिद्धान्त से भी उचित नहीं, क्योंकि मानव-शरीर-परिमाणी-जीव यदि कर्म-विपाकवश हस्तिजन्म प्राप्त करे तो तत्परिमाणी-जीव सकल हस्तिशरीर को नहीं, व्याप्त कर सकेगा, इसी प्रकार पुत्तिकाजन्मलाभ करने पर पुत्तिकाशरीर में सम्पूर्ण जीव का समावेश संभव न हो सकेगा। पुनर्जन्म क्या एक जन्म में भी आर्हतसिद्धान्त-सम्मत शरीरपरिमाणावच्छेदरूप जीव बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्थाजन्य शरीर के उपचयापचय के कारण सर्वांगगत न हो सकेगा। अतः आर्हतों की उपर्युक्त मान्यता पूर्णतः कल्पित है, युक्ति और अनुभवगम्य नहीं।[1] अद्वैतशास्त्रसम्मत जीव का पारमार्थिक स्वरूप अद्वैत है अतः इसे हम सांख्यसमयसम देहपरिच्छिन्न भी नहीं मान सकते।[2] जीव अणु परिमाण है या मध्यम परिमाण या विभु-इस विषय में आचार्य शंकर जीव का पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म को मानने के कारण विभु मानते हैं किन्तु व्यवहार दशा में अर्थात् अध्यासावस्था में बुद्धि परिमाण के अनुसार उसका अणुत्व भी स्वीकार करते हैं। जीव की अणुता का व्यपदेश क्यों होता है? इस प्रश्न के समाधानार्थ 'तद्गुण-सारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' (ब्र० सू० २।३।२९) इस सूत्राश्रितभाष्य में उनका स्पष्ट कथन है कि बुद्धि के इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख-इत्यादिक जो गुण है उनकी सार या प्रधानता आत्मा के संसारित्व की प्रयोजिका है; अर्थात् नित्यमुक्त, सत्, अकर्त्ता, अभोक्ता, तथा असंसारी आत्मा का कर्तृत्व, भोक्तृत्वादिलक्षणरूप संसारित्व बुद्धि-रूपोपाधि के उक्त धर्मों के अध्यास के कारण है। बुद्धि के धर्मों की प्रधानता से बुद्धि-परिमाण-व्यपदेश जीव के परिमाण का किया जाता है।[3]

ब्रह्म और जीव का संबन्ध

जीव वस्तुतः ब्रह्म है इसलिए शंकराचार्य ने द्वितीय अध्याय के आत्माधिकरण भाष्य में कहा है[4] कि जीवोत्पत्ति विषयक श्रुति का अभाव होने के कारण जीव की उत्पत्ति संभव नहीं है, क्योंकि श्रुतियों में जीव के नित्यत्व, अजत्व, और अविकारित्व का उपदेश किया जाता है तथा अविकृत ब्रह्म का ही जीवात्मना तथा ब्रह्मात्मना अवस्थान विदित होता है। वे श्रुतियां कौन है? 'न जीवो म्रियते' (छा० उ० ६।११।३), 'स

---

१. ब्र० सू० शा० भा० २।२।३४ पृ० ४८४-८५।

२. 'स्वदेहपरिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च सत्यद्वैत-मिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्। (मा० उ० शा० भा० १।२। पृ० १६)

३. ब्र० सू० शा० भा० २।२।३४ पृष्ठ ४८४-८५।

४. वही २।३।१७ पृ० ५२७।

वा एष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० उ० ४।४।२५), 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्, (क० उ० २।१८), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (क० उ० २.१८), 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्,' (तै० उ० २।६।१), 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० उ० ६।३।२), 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः '(बृ० उ० १।४।७), 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० उ० १।५।१०) तथा 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः '(बृ० उ० २।५।१९), आदि जीव नित्यत्ववादिनी श्रुतियां जीव के उत्पत्ति की विरोधिनी हैं।

अपहतपाप्मत्वादिधर्मक ब्रह्म जीव का पारमार्थिक स्वरूप है, उपाधिपरिच्छिन्न नहीं, यह उपर्युक्त श्रुतियों से सुप्रतिपादित है।[1] यद्यपि परमात्मा और जीव का तात्त्विक भेदाभाव है पर औपाधिक भेद रहता ही है। जीव का औपाधिक भेद कैसे है इसके स्पष्टीकरण के लिए शंकर का कहना है कि जैसे चर्मखड्गधारी तथा सूत्र द्वारा आकाश में चढ़ते हुए मायावी से परमार्थरूप भूमिष्ठ मायावी अन्य है या उपाधि परिच्छिन्न घटाकाश अनुपाधि एवं अपरिच्छिन्न आकाश अन्य है उसी प्रकार अविद्या कल्पित कर्त्ता, भोक्ता विज्ञानात्मा जीव से परमेश्वर अन्य है।[2] अविद्या, काम-कर्म-कृत मर्त्यत्व तथा भय अध्यारोपित होने के कारण जीव में अमृतत्व तथा अभयत्व उपपन्न नहीं।[3] अविद्या-प्रयुक्त स्वरूपापरिज्ञान के कारण नानाविध क्लेशगणों से बद्ध होकर जीव त्रिविध तापों का भाजन सा बना रहता है।[4] स्थाणु में पुरुषबुद्धिसम द्वैतलक्षणा अविद्या के कारण कूटस्थ, नित्य तथा दृक्स्वरूप आत्मा की 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक प्रतिपत्ति जब तक जीव को नहीं होती तभी तक उसका जीवत्व है। जब देहेन्द्रिय मनोबुद्धि के संघात से व्युत्थापित होकर जीव को 'नासि त्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातः,' 'नासि संसारी' किन्तु, 'तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपः' 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों से प्रतिबोधन हो जाता है तब कूटस्थ नित्य दृक् स्वरूप आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है।[5] जीव के स्वमहिम प्रतिष्ठ होने के पूर्व सम्पूर्ण कर्म कर्तृत्वादि रूप भेद व्यवहार बने रहते हैं।[6]

---

१. ब्र० सू० शा० भा १।३।१९ पृ० २३४
२. परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छरीरात्कर्त्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्यः। यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः। यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधि(र)परिच्छिन्न आकाशोऽन्यः। वही १।१।१९ पृ० १२४।
३. यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयंचेत्यमृतत्वाभयत्वे नोपपद्येते।
वही ब्र० सू० शा० भा० १।२।१७ पृ० १८१
४. मु० उ० शा० भा० ३।१। २ पृ० ३५।
५. ब्र० सू० शा० भा० १।३।१० पृ० २३४। ६. वही—१।२।६ पृ० १६६।

जगत् तथा उसका भेद

नाम रूपों से व्याकृत, अनेक कर्त्ता तथा भोक्ता से संयुक्त, प्रतिनियत देशोत्पादक, प्रतिनियत कालोत्पादक, प्रतिनियत निमित्त, प्रतिनियत क्रिया तथा प्रतिनियत फल वाले पदार्थों के आश्रयभूत जगत्[1] को आचार्य शंकर ने बाह्य तथा आध्यात्मिक इन दो रूपों में विभक्त किया है[2]

१. बाह्य जगत्—नानाविध शुभ, अशुभ तथा व्यामिश्र-कर्मों के सुख-दुःख रूप फलों के साधन पृथिव्यादि लोक बाह्य जगत् हैं।

२. आध्यात्मिक जगत्—देव, तिर्यक्, मनुष्यत्वादि प्रकारक नानाविध जातियों से अन्वित, प्रतिनियत (असाधारण) अवयवों की संघटना (विन्यास) वाले उक्त नानाविधकर्मों के सुख दु.खात्मक फलों के अधिष्ठानभूत दृश्यमान शरीरादि आध्यात्मिक जगत् हैं।

यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त उभयविध जगत् परस्पर भिन्न नहीं प्रत्युत परस्पर संबन्धित हैं। बाह्य जगत् भोग का साधन है तथा आध्यात्मिक जगत् भोग का आयतन। यदि एक जगत् भोग्य है तो दूसरा जगत् भोक्ता। भोगभावसिद्ध्यर्थं भोग्य तथा भोक्ता भूत इन आध्यात्मिक और बाह्य जगत् की परस्पर अपेक्षा स्वभावसिद्ध है।

जगत्कारणत्व

आचार्य शंकर ने जगत् की कारणता का परीक्षण करते हुए सांख्यों के प्रधान कारणवाद[3] काणादाभिमत परमाणुकारणवाद[4] बाह्यार्थवादियों के समुदायवाद,[5] विज्ञानवादियों के विज्ञानवाद,[6] आर्हतों के कर्मकारणतावाद,[7] माहेश्वरों के ईश्वर-कारणतावाद,[8] तथा भागवताभिमत प्रकृति पुरुषोभयात्मक कारणता का निराकरण[9]

---

१. ब्र० सू० शा० भा० १।१।२ पृ० ४८

२. तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्यम् आध्यात्मिकं शरीरादिनानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानम्'''' वही २।१।१ पृ० ४१५।

३. वही २।१।१-१० पृ० ४१२-४२६

४. वही २।२।१०-११ पृ० ४२९-४४९

५. वही २।१।१८-२७ पृ० ४४९-४६६।

६. वही २।१।२८-३२ पृ० ४६७-४७९।

७. वही २।२।३३-३५ पृ० ४८०-४८६।

८. वही २।२३७-४१ पृ० ४८६-४९४।

९. वही २।२।४२-४५ पृ० ४९४-९७।

किया है। उनके ग्रन्थों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह मायावश ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हैं। उनका स्पष्ट कथन है[1] कि जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमत्, नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव तथा शारीर (जीव) से अधिक (विशिष्ट) ब्रह्म है वही जगत् का स्रष्टा है। जगत् का उपादान तथा निमित्त दोनों कारण ब्रह्म है मात्र निमित्त कारण नहीं;[2] यद्यपि यह जगत् और तत्कारणता दोनों मायामूलक हैं।

दृष्टि सृष्टिवादात्मक जगत् का स्वरूप

अद्वैतसाहित्य में दृष्टिसृष्टिवाद और सृष्टिदृष्टिवाद दोनों का निरूपण प्राप्त होता है। पहले के अनुसार सत्ताद्वैविध्यवाद और दूसरे के अनुसार सत्तात्रैविध्य समर्थित होता है। पहला शंकर का मुख्य पक्ष है और दूसरा जगत्सत्यत्वप्रतीति-सामंजस्यात्मक गौणपक्ष है। विभिन्न दृष्टिकोण से दोनों संगत हैं। इसलिए शंकर के ग्रन्थों में दोनों पक्ष उपन्यस्त हैं। क्रमशः अवच्छेद तथा आभास शब्दावली के परिसर में इन द्विविध पक्षों की उपयोगिता सिद्ध होगी।

परमार्थतः कार्यकारणातीत निष्प्रपंचब्रह्म से प्रपंचप्रभव संभव नहीं। इसलिए अविद्या प्रभूत जगत् तथा तत्सम्बद्ध वस्तु-व्रात इन दोनों को आचार्य शंकर स्वप्नसम, अनृत, क्षणिक, दृष्टनष्टस्वभाव, असार, अशुद्ध, अनित्यादिरूप वाला मानते हैं।[3] जगत् के पदार्थो के दो ही रूप हो सकते हैं। कुछ तो चित्तकालिक अर्थात् चित्तपरिच्छेद्य होते हैं तथा कुछ द्वयकालिक अर्थात् परिच्छेद्यपरिच्छेदक रूप वाले होते हैं। स्पष्ट शब्दों में प्रथम प्रकार के पदार्थ स्वप्न या भ्रम स्थलो में उपलब्ध होते हैं, जिनकी स्थिति मात्र कल्पनाश्रिता होती है और इनका परिच्छेदक केवल चित्तकाल होता है। द्वितीय प्रकार के पदार्थ जाग्रत्प्रपंच संबंधित होते हैं। इन्हें बाह्य पदार्थ कहा जाता है। यह दो काल वाले भेदकालिक अर्थात् अन्योन्य परिच्छेद्य होते हैं यथा गोदोहनमास्ते। सुस्पष्ट है कि जब तक गोदोहक दोहन करेगा तब तक बैठेगा या जब तक बैठेगा तब तक गोदोहन करेगा। इस प्रकार दोहन तथा दोहक के अवस्थान में परस्पर परिच्छेद्य-परिच्छेदक सम्बन्ध है। पर उपर्युक्त दोनों प्रकार के चित्तकालिक (आन्तरिक) और द्वयकालिक

---

१. यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः। ब्र० सू० शा० भा० २।१।२२ पृ० ३६४।

२. प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणम्। वही १।४।२३ पृ० ३३९।

३. दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेणानुपाख्यत्वात् तथा-
अविद्याप्रभवं सर्वमसत्तस्मादिदं जगत्।
तद्दृत्ता दृश्यते यस्मात् सुषुप्ते न च गृह्यते॥ उ०सा० २।१७।२०

(बाह्य) पदार्थमात्र पारमार्थिक दृष्टि से कल्पित हैं क्योंकि परमात्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तर सत् नहीं हो सकता। निम्नश्लोक से भी जगत् का दृष्टिसृष्टिपक्ष समर्थित है—[1]

यो यो दृग्गोचरोऽर्थो भवति स तदा तद्गतात्मस्वरूपा—
विज्ञानोत्पद्यमानः स्फुरति ननु यथा शुक्तिकाऽज्ञानहेतुः।
रौप्याभासो मृषैव स्फुरति च किरणज्ञानतोऽम्भोभुजङ्गो—
रज्ज्वज्ञानान्निमेषो सुखभयकृदतो दृष्टिसृष्टं किलेदम्॥

ज्ञान और मोक्ष

जीव के प्रसंग में यह उल्लिखित किया गया है कि परमात्मा ही अविद्याकृत नाम रूप उपाधि से अवच्छिन्न सा हो जीवभावापन्न होता है और वस्तुदृष्टि से परमात्म-स्वरूप होने पर भी जीव अज्ञानकृत बुद्ध्यादि उपाधि से परिच्छिन्न होने के कारण मर्त्यत्व, अल्पत्व आदि का परिग्रह कर अपने पारमार्थिक स्वरूप से अनभिज्ञ नानाविध योनियों में परिभ्रमण करता है। इस दुःखोदधि से मुक्त होने का एकमात्र उपाय ज्ञान है अतः भगवान् शंकराचार्य सम्मत ज्ञान तथा उसके फलभूत मोक्ष का संक्षिप्त स्वरूप परिच्छेद की शब्दावली में प्रस्तुत किया जाता है।

ज्ञान

शांकर ग्रन्थों में जैसे माया के लिए अज्ञान, अविद्या, तम, प्रकृति प्रभृति अनेक शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है उसी प्रकार ज्ञान के लिए भी विद्या, बोध, सम्यक् ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, सम्यक् दर्शन, आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार आदि अनेक शब्दों का प्रयोग सुलभ है। ज्ञान अत्यन्त प्रसिद्ध है अतः उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न अपेक्षित नहीं। आत्मा में अनात्मबुद्धिनिवृत्ति होते ही वह प्राप्त हो जाता है।[2] वस्तुस्वरूपावधारण ही शंकर के शब्दों में विद्या या ज्ञान है।[3] अज्ञान के कारण अवच्छिन्न आत्मा अज्ञान के नाश से उसी प्रकार स्वयं प्रकाशित होता है जैसे मेघ के अपाय होने पर सूर्य।[4] आत्म-स्वभावावलम्बिनी विद्या अविद्या के कारण अध्यस्त कर्तृत्वादि बुद्धि को उसी प्रकार निवृत्त कर देती है जैसे ऊषर देश में उत्पन्न उदक बुद्धि को ऊषरस्वभावावलम्बक ज्ञान बाधित कर देता है।[5] अविद्या के कारण परिच्छेदापन्न आत्मा जब विद्यावशात् निज स्वरूपावगम कर लेता है तब उसे यह अवगति हो जाती है कि मैं अविद्या जनित

१. शतश्लोकी, श्लोक ८१, पृ० ११६।
२. 'अत्यन्तप्रसिद्धं ज्ञानं ज्ञाताप्यत एव प्रसिद्ध इति। तस्माऽज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः, किन्त्वात्मन्यानात्मबुद्धिनिवृत्तावेव।' शा० भा० गी० पृ० ३७४।
३. 'वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः।' ब्र० सू० शा० भा० १।१।१ पृ० १६
४. 'अवच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशस्येति केवलम्।'
स्वयंप्रकाशो ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥४॥ आत्मबोध पृ० १३।
५. 'कारकाण्युपमृद्नाति विद्या बुद्धिमिवोषरे॥ उप० सा० २।१।१४ पृ० ७३।

उपाधिपरिच्छिन्न अन्य मायात्मा (जीव) नहीं अपितु उपाधिविलक्षण अशनादिद्वन्द्वापगत, संसार धर्मशून्य सर्वभूतस्थ सर्वात्म परमेश्वर ही हूँ[1] क्योंकि विद्या का कार्य अविद्या के कार्य (परिच्छिन्नात्ममात्र) से पूर्णतः विरुद्ध सर्वात्मभावरूप माना गया है।[2] वस्तु-स्वरूपावगाही तथा अनुभवावसानक होने के कारण आत्मज्ञान प्रत्यक्षादिप्रमाण प्रभव ज्ञान से नितान्त भिन्न है।[3] प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ब्रह्म ज्ञान संभव नहीं किन्तु तत्त्वस्व-रूपानुभवात्मक ज्ञान 'अहं' 'मम' इत्याकारक अज्ञान को प्रसवसमकाल बाधित कर देता है।[4] कहने का अभिप्राय यह है कि मिथ्याज्ञानापाय का एकमात्र साधन ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान है जो भाष्यकार के मतानुसार न संपद्रूप है, न अध्यासरूप है, न विशिष्टक्रियायोग निमित्त है और न संस्काररूप है[5] तथा 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों का श्रवण-मनन-निदिध्यासनानुगामी है क्योंकि श्रवणादि को ज्ञेय का साक्षात् साधन माना गया है।[6]

मोक्ष—

मोक्ष को स्थान-स्थान पर ब्रह्मज्ञान का फल बताया गया है[7]; किन्तु मोक्ष को फल मानने का अभिप्राय यह कथमपि नहीं कि मोक्ष एक नियत काल में ज्ञान से आम्रादि वृक्षों के फल के समान उत्पन्न होता है क्योंकि यह सदा प्राप्त है केवल अविद्या के कारण अप्राप्त सा रहता है। आत्मज्ञान का फल मोक्ष की प्रतिबन्धभूत अविद्या की निवृत्ति मात्र है, इसीलिए अविद्या-निवृत्ति को कभी-कभी शंकराचार्य ने मोक्ष कह दिया है।[8] अज्ञान के कारण अनवच्छिन्न आत्मा अज्ञान के नाश से उसी प्रकार प्रकाशित होता है जैसे मेघ

---

१. द्रष्टव्य, मु० उ० शा० भा० ३।१।३ पृ० ३५-३६।

२. बृ० उ० शा० भा०—'ते एते विद्याविद्याकार्ये सर्वात्मभावः परिच्छिन्नात्मभावश्च।' ४।३।२० पृ० ५५५। तुलनीय वही १।४।६ पृ० १३१-३२

३. बृ० उ० शा० भा० १।३।१ पृ० ५०

४. 'तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमंजसा। अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत्॥' (आत्मबोध, श्लो० ४६ पृ० १६)

५. ब्र० सू० शा० भा०, १।१।४ पृ०७६-७८।

६. 'वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनानां च साक्षाज्ज्ञेयसाधनविषयत्वात्। बृ० उ० शा० भा० १।४।२ पृ० ८६-६०।

७. 'फलं च मोक्षोऽविद्यानिवृत्तिर्वा।' (बृ० उ० शा० भा० १।४।७ पृ० ११७), 'मोक्षाख्यफलं······' (गी० शा० भा० ४।१ पृ० ३५६) तथा बृ० उ० शा० भा० ४।३।२० पृ० ५५५।

८. 'मोक्षप्रतिबन्धनिमित्तमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयति।' (ब्र० सू० शा० भा० १।४।४, पृ० ७५।

के अपाय होने पर सूर्य ।[1] ब्रह्म ही मुक्त्यवस्था है,[2] इसीलिए मोक्ष को पारमार्थिक, कूटस्थनित्य, व्योमसम सर्वव्यापक, सर्वविक्रियारहित, नित्यतृप्त, निरवयव, तथा स्वयं ज्योतिःस्वभाव कहा गया है।[3] मोक्ष उत्पाद्यादि चतुर्विध क्रियाओं के फल से विलक्षण है[4] अतएव मुक्ति प्राप्ति के पश्चात् जीव के समस्त क्लेशलेश विनष्ट हो जाते हैं, उसकी पुनरावृत्ति आदि का भय समाप्त हो जाता है।

शांकर ग्रन्थों में प्रतिबिम्ब की शब्दावली—

प्राक्तन कथन का उद्देश्य यह था कि शंकराचार्य के ग्रन्थों में सुलभ अवच्छेद की शब्दावली का विश्लेषणात्मक अध्ययन उपस्थित करते हुए शंकरसम्मत अद्वैतसिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की जाय। अब प्रतिबिम्ब-शब्दावली के परिसर में उन शांकर पंक्तियों का विवरण दिया जायगा जिनके आधार पर उनके शिष्य पद्मपादाचार्य ने प्रतिबिम्बवाद नामक प्रस्थान को प्रतिष्ठित किया।

बिम्बभूत अद्वैत से प्रतिबिम्बात्मक द्वैत का प्रतिभास

सत्, चित्, आनन्दरूप परमात्मा यद्यपि एक, अनन्त, अप्रमेय, अद्वितीय है तथापि अनेक नामरूपात्मक उपाधियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण बिम्बभूत पर ब्रह्म उसी प्रकार अनेकधा अवभासित होता है जैसे एक ही सूर्य या चन्द्रमा घट शरावादि गत उदक में वस्तुतः एक होते हुए भी अनेक सा अवभासित होता है—

ज्ञानस्यैकत्वोपपत्तेः सर्वदेशकालपुरुषाद्यवस्थमेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधि भेदात्सवित्रादिजलादिप्रतिबिम्बवदनेकधाऽवभासत इति।[5]

प्रतिफलति भानुरेकोऽनेक शरावोदकेषु यथा।
तद्वदसौ परमात्मा ह्येकोऽनेकेषु देहेषु।[6]

रूपं रूपं प्रतीदं प्रतिफलनवशात्प्रातिरूप्यं प्रपेदे।
ह्येको द्रष्टा द्वितीयो भवति च सलिले सर्वतोऽनन्तरूप।[7]

सत्त्वप्रधाने चित्तेऽस्मिंस्त्वात्मैव प्रतिबिम्बति।
आनन्दलक्षणः स्वच्छः पयसीव सुधाकरः।[8]

---

१. 'अवच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशस्येति केवलम्।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव॥ (आत्मबोध, श्लोक ४, पृ० १३)
२. 'ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था ......' (ब्र० सू० शा० भा० ३।४।५२, पृ० ८२३)
३. वही १।१।७ पृ० ७५।
४. वही—१।१।४ पृ० ७९-८०।
५. प्र० उ० शा० भा० ६।२ पृ० ६१
६. प्रबोध सुधाकरः अद्वैत प्रकरणम्, श्लोक, १२४ पृ० ७६।
७. शतश्लोकी, श्लोक ५०, ११४
८. सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार संग्रह, श्लोक ६४७, पृ० १८६।

उपाधिप्रतिबिम्बित परमात्मा हिरण्यगर्भ, प्राण तथा प्रजापति आदि रूपों में प्रतीत सा होता है—

स एष प्रज्ञानरूप आत्मा ब्रह्मापरं सर्वशरीरस्थप्राणःप्रज्ञात्माऽन्तःकरणोपाधिष्वनुप्रविष्टो जलभेदगतसूर्यप्रतिबिम्बवद् हिरण्यगर्भः प्राणः प्रज्ञात्मा। एष एवेन्द्रो गुणाद्देवराजो वा।[1]

सत्त्वप्रधान बुद्धि प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है—

इन्द्रो मायाभिरास्ते श्रुतिरिति वदति व्यापकं ब्रह्म तस्मात्।
जीवत्वं यात्यकस्मादतिविमलतरे बिम्बितं बुद्ध्युपाधौ।[2]
तत्सारभूतबुद्धौ यत्प्रतिफलितं तु शुद्धचैतन्यम्॥
जीवः स उक्त आर्यैर्योहमिति स्फूर्तिकृद्वपुषि॥[3]

अथवा बुद्धिगत चित्प्रतिबिम्ब जीव है—

तस्य प्रतिबिम्बाख्यस्य पुरुषस्य निष्पत्तिरसोः प्राणात्।[4]
चित्प्रतिबिम्बस्तद्वद्बुद्धिषु यो जीवतां प्राप्तः॥[5]

जीव की चित्त-प्रतिबिम्बात्मकता में तर्क

यद्यपि परमात्मा सर्वज्ञ है तथापि उसका सर्वत्रावभासन न होकर केवल निर्मलीभूत अथवा स्वच्छ बुद्धि आदि उपाधि में उसी प्रकार विविक्त दर्शन होता है जैसे निर्मल दर्पण में पुरुष को स्पष्ट आत्मदर्शन होता है—

यथाऽऽदर्शे प्रतिबिम्बभूतमात्मानं पश्यति लोकोऽस्यन्तविविक्तं तथेहाऽऽत्मनि स्वबुद्धावादर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः।[6]

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।
बुद्धावेवाभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्॥[7]

जैसे चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब जल धर्मानुविधायी होता है उसी प्रकार चित्प्रतिबिम्ब (जीव) भी अपनी बुद्धि रूप उपाधि के स्वभाव का अनुवर्तन करता है—

---

१. ऐ० उ० शा० भा० ३।१ पृ० ८६।
२. शतश्लोकी, श्लोक, ५० पृ० ११४।
३. प्रबोध सुधाकर, श्लोक ११४ पृ० ७५।
४. बृ० उ० शा० भा० पृ० ४५८।
५. प्रबोध सुधाकर श्लोक, ११८ पृ० ७६।
६. क० उ० शा० भा० २।३।५ पृ० ११२।
७. आत्मबोधः, श्लोक १७ पृ० १४।

बुद्ध्याद्युपाधिस्वभावानुविधायी हि स चन्द्रादिप्रतिबिम्ब इव जलाद्यनुविधायी ।[१]

अर्थात् जैसे जलगत सूर्य चन्द्रादिक का प्रतिबिम्ब जलवृद्धि के साथ बढ़कर, जल-ह्रास के साथ ह्रसित सा होकर, जल चलन के साथ कम्पित सा तथा जलभेद से भिन्न सा होकर जल धर्म का अनुयायी होता है उसी प्रकार परमार्थतः अविकृत एकरूप सद्-ब्रह्म देहाद्युपाधि के वृद्धि ह्रासादिक धर्मों का अनुगमन सा करता है—

तदुच्यते—वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति । जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्द्धते जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति जलभेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुविधायी भवति न तु सूर्यस्य तथात्वमस्ति । एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजत इवोपाधिधर्मान्वृद्धिह्रासादीन् ।[२]

चरतरतरङ्गसङ्गात्प्रतिबिम्बं भास्करस्य चंचलं स्यात् ।
अस्ति तथा चंचलता चैतन्ये चित्तचांचल्यात् ॥[३]

उपाधि का प्रभाव प्रतिबिम्ब पर न कि बिम्ब पर—

प्रतिबिम्बभूत जीव अनेक है । एक उपाधि के न रहने से तथा प्रतिबिम्बरूप जीव के चंचल होने पर बिम्ब स्वरूप ब्रह्म उसी प्रकार वर्तमान तथा चांचल्यरहित रहता है जैसे एक शराव के भग्न होने तथा प्रतिबिम्ब की चंचलता के अभाव के कारण बिम्बभूत सूर्य न विलीन होता है और न चंचल होता है—

दैवादेकशरावे भग्ने किं वा विलीयते सूर्यः ।
प्रतिबिम्बचंचलत्वादर्कः किं चंचलो भवति ॥[४]

जीव के दुखित होने से परमात्मा दुखी नहीं होता तथा जीव की दुःख प्राप्ति भी अविद्या निमित्तक है—

यथा चोदशरावादिकम्पनात्तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान्सूर्यः कम्पते, एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते । जीवस्यापि तु दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैवेत्युक्तम् ।[५]

प्रतिबिम्ब की बिम्बरूपता—

वस्तुतः उपाधिगत चंचलता के द्वारा प्रतिबिम्ब में चंचलता प्रतिभासित होती

---

१. बृ० उ० शा० भा० २।१।१९ पृ० २४८ ।
२. वही ३।२।२० पृ० ६४५ ।
३. प्रबोध सुधाकर, श्लोक ११५ पृ० ७५ ।
४. वही, श्लोक १२५ पृ० ७६ ।
५. ब्र० सू० शा० भा० २।३।४६ पृ० ५५७-५८ ।

है और उसका बिम्बधर्मानुसरणत्व प्रतीत होता है। वास्तविक तथ्य यह है कि प्रतिबिम्ब बिम्बस्वरूपानुगाही होता है उसका उपाधिधर्मानुसरण व्यावहारिक किं वा औपचारिक है। प्रतिबिम्बाख्य जीव बिम्बरूप ब्रह्म सम निष्क्रिय है उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि उपचारमात्र है—

चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्य—
मौपाधिकं मूढधियो नयन्ति।
स्वबिम्बभूतं रविवद्विनिष्क्रियं
कर्त्तास्मि भोक्ताऽस्मि हतोऽस्मिहेति।[1]

प्रतिबिम्ब जीव का विषय प्रकाशकत्व—

बुद्धिगत चित्प्रतिबिम्बरूप जीव बाह्य विषयों को नेत्र से इन्द्रिय प्रणालिकया उसी प्रकार प्रकाशित करता है जैसे कांस्यादिपात्रप्रतिफलित सवितृतेज गृहान्तर्भूत अन्य विषयों को प्रकाशित करता है—

प्रतिफलितं यत्तेजः सवितुः कांस्यादिपात्रेषु।
तदनुप्रविष्टमंतर्गृहमन्यार्थान्प्रकाशयति॥
चित्प्रतिबिम्बस्तद्वद्बुद्धिषु यो जीवतां प्राप्तः॥
नेत्रादीन्द्रियमर्थंबहिरर्थान्सोऽवभासयति॥[2]

जीव की विविध अवस्थाएं—

परमात्मा से पृथक् प्रतीयमान चित्प्रतिबिम्बात्मा (जीव) जाग्रद्दशा में घ्राणन तथा श्रवणादि विशेष विज्ञानों का कर्त्ता सा हो जाता है—

तत्तत्र यस्माद्द्वैतमिव तस्मादेवेतरोऽसौ परमात्मनः खिल्यभूतः आत्माऽपरमार्थ-चन्द्रादेरिवोदकचन्द्रादिप्रतिबिम्ब इतरो घ्राणेतरेण घ्राणेनेतरं घ्रातव्यं जिघ्रति।[3]

स्वप्न में जाग्रत् का प्रतिबिम्बभूत लोक इसका अनुभव विषय होता है और स्वप्नदृष्ट लोक इस प्रतिबिम्बात्मक जीव का स्वरूप नहीं—

न तावत्स्वप्ने अनुभूत महाराजत्वादयो लोका आत्मभूताः। आत्मनोऽन्यस्य जाग्रत्प्रति-बिम्बभूतस्य लोकस्य दर्शनात्।[4]

स्वप्नान्तशब्दवाच्य सुषुप्तिकाल में यह चित्प्रतिबिम्बरूप जीव मन आदि विशेष ज्ञान के साधनों के अज्ञान में विलीन हो जाने के कारण पुर्यष्टकरूप जीव भाव को त्यागकर अपने स्वरूप को उसी प्रकार प्राप्त किये रहता है यथा दर्पणापनयनोपरान्त दर्पणस्थ

---

१. विवेक चूडामणि, श्लोक ५००
२. प्रबोध सुधाकरः लिंगदेहादिनिरूपण प्रकरणम्, श्लोक ११७-११८, पृ० ७६
३. बृ० उ० भा० २।४।१४ पृ० ३१६-२०
४. वही २।१।१८ पृ० २४६।

पुरुष का प्रतिबिम्ब स्वयं बिम्बभूत पुरुष ही हो जाता है। इस सुषुप्ति की स्थिति में यह प्राज्ञ जीव अपने स्वाभाविक स्वरूप पर ज्योति से संपरिष्वक्त अर्थात् एकीभूत हो निरन्तर तथा सर्वात्म होने के कारण न तो किसी बाह्य वस्त्वन्तर का ज्ञाता होता है और न आन्तर सुखदुःखादि का अनुभव करता है—

'तत्र ह्यादर्शापनयने पुरुषप्रतिबिम्ब आदर्शगतो यथा स्वमेव पुरुषमपीतो भवति एवं मन आत्मुपरमे चैतन्यप्रतिबिम्बरूपेण जीवेनाऽऽत्मना मनसि प्रविष्टा नामरूपव्याकरणाय परा देवता सा स्वमेवाऽऽत्मानं प्रतिपद्यते जीवरूपतां मन आख्यां हित्वा अतः सुषुप्त एव स्वप्नान्तशब्दवाच्य इत्यवगम्यते।'[1]

'एवमेव यथा दृष्टान्तोऽयं पुरुषः क्षेत्रज्ञो भूतमात्रासंसर्गतः सैन्धवखिल्यवत्प्रविभक्तो जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बवत्कार्यकरण इह प्रविष्टः सोऽयं पुरुषः प्राज्ञेन परमार्थेन स्वाभाविकेन स्वेनाऽऽत्मना परेण ज्योतिषा संपरिष्वक्त 'एकीभूतो निरन्तरः सर्वात्मा न बाह्यं किंचन वस्त्वन्तरं नाप्यान्तरमात्मन्ययहममस्मि सुखी दुःखी वेति वेद।'[2]

सुषुप्तिकाल में एकीभवन रहते हुए भी जीव और परमात्मा में कुछ उपाधि भेद बना ही रहता है क्योंकि जीव की उपाधि मलिनसत्त्वप्रधान व्यष्टि अज्ञान और ईश्वर की उपाधि शुद्धसत्त्वप्रधान समष्टि अज्ञान है। यह उपाधिद्वय सुषुप्तिदशा में भी बना रहता है। इस व्यष्टि अज्ञान में जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाओं के सभी अनुभवों के संस्कार शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण के साथ विलीन रहते हैं तथा स्वप्न जाग्रदवस्थाओं में पुनः उद्भूत हो जाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर की प्रलयरूप सुषुप्त्यवस्था में भी समस्त प्रपंचजाल ईश्वरोपाधिभूत अथवा समष्ट्यज्ञानरूप मायोपाधि में संस्कारात्मना विलीन रहता है। इसी कारण सुषुप्ति को आनन्दमय कहा जाता है और मोक्ष को आनन्दस्वरूप माना जाता है क्योंकि पूर्व में कुछ भेद बना रहता है और उत्तर में सर्वथा अद्वैत मात्र हो जाता है। यही मोक्ष और सुषुप्ति का अन्तर है। अतएव न जीवसांकर्य होता है और न प्रपंचवस्तुसांकर्य।

बिम्ब-प्रतिबिम्बाभेद के द्वारा मोक्षोपपादन—

ज्ञातव्य है कि यह प्रतिबिम्ब जीव वस्तुतः बिम्ब अर्थात् आत्मरूप है तथा उसका पृथगवभासन उपाधिप्रतिफलन वशात् है। शंकराचार्य ने इसीलिए अपने ग्रन्थों में प्रतिबिम्ब के बिम्बैक्याभाव का उपन्यास किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि वह प्रतिबिम्ब को बिम्बसम निष्क्रिय मानते हैं तथा उसके चांचल्य आदि धर्मों को औपाधिक बताते हैं।[3]

---

१. छा० उ० शा० भा० ६।८।१ पृ० ३१३।
२. बृ० उ० भा० ४।३। २१ पृ० ५५६।
३. द्रष्टव्य, विवेकचूडामणि, श्लोक ५०९ पृ० २६४।

प्रतिविम्ब का एतादृश स्वरूप मानने के कारण उनका मत है कि जैसे दर्पण रूप उपाधि के नाश होने पर दर्पणस्थ प्रतिविम्बित मुख ग्रीवास्थ विम्बभूत मुख में एकीभूत हो जाता है उसी प्रकार यह चित्प्रतिविम्ब जीव बुद्धयादि उपाधियों के नष्ट हो जाने पर विम्बभूत ब्रह्म में संप्रतिष्ठित या एकीभूत हो जाता है।

अत्रास्मिन्नात्मनि हि यस्मान्निरूपाधिके जलसूर्यप्रतिविम्बभेदा इवाऽऽदित्ये प्राणाद्युपाधिकृता विशेषा प्राणादिकर्मजनामाभिधेया यथोक्ता ह्येत एकमभिन्नतां भवन्ति प्रतिपद्यंते।[1]

त एते कर्माणि विज्ञानमयश्चाऽऽत्मोपाध्यपनये सति परेऽव्ययेऽनन्तेऽक्षये ब्रह्मण्याकाशेकल्पेऽजेऽजरेऽनन्तरेऽमृतेऽभयेऽपूर्वेऽनपरे ऽ वाह्येऽद्वये शिवे शान्ते सर्वे एकीभवन्त्यविशेषतां गच्छन्त्येकत्वमापद्यन्ते जलाद्याधारापनय इव सूर्यादिप्रतिविम्बाः सूर्ये घटाद्यपनय इवाऽकाशे घटाद्याकाशाः।[2]

स च जलसूर्यकादिप्रतिविम्बस्य सूर्यादिप्रवेशवज्जगदाधारशेषेऽक्षरे परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते।[3]

विम्बभूतपरब्रह्ममात्रं भवति केवलम्।
यथापनीते त्वादर्शे प्रतिविम्बं मुखं स्वयम्॥[4]

प्रतिविम्ब का उपर्युक्त निरूपण उन शांकर-पंक्तियों को ध्यान में रखकर किया गया है जो प्रतिविम्ब को विम्बरूप मानती हैं तथा जिसके आधार पर परवर्ती अद्वैत-वेदान्तियों में से शंकरशिष्य पद्मपादाचार्य ने प्रतिविम्बवादाख्य प्रस्थान का सुव्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया एवं शाखोपशाख रूप में विवरणकारादि ने उपबृंहित किया।

शांकर ग्रन्थों में आभास की शब्दावली—

प्रस्तुत प्रसंग में शांकर-ग्रंथ-सुलभ उन पंक्तियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा जो प्रतिविम्ब शब्द को मिथ्यादि रूपों में वर्णित करती हैं और परवर्ती आभासवाद नामक अन्यतम पक्ष की संस्थापिका सिद्ध हो सकती हैं। यद्यपि शंकराचार्य का अभिप्राय यह नहीं था कि अवच्छेद, प्रतिविम्ब अथवा आभास इन तीनों की शब्दावली में से किसी एक की शब्दावली को अपना कर अद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाय तथापि उनके ग्रन्थों में जितनी आभास की शब्दावली है उतनी अवच्छेद और प्रतिविम्ब की नहीं। ब्रह्मसूत्र भाष्य जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों से लेकर जितने भी उनके भाष्य और प्रकरण ग्रन्थ हैं, उन सभी में आभास की शब्दावली उपलब्ध होती है। प्रतिविम्ब

---

१. बृ० उ० शा० भा० १।४।७ पृ० ११५
२. मु० उ० भा० २।७ पृ० ४५
३. प्र० उ० भा० ४।६ पृ० ४४
४. सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः, श्लोक, ८०४ पृ० २००।

का बिम्बभिन्न मिथ्यादि रूपों में अभ्युपगम भी परोक्षरूप से प्रतिबिम्बव्यतिरिक्त आभास-सिद्धान्त का समर्थन है। आभास के स्वरूप से लेकर आभास के अंगीकार से बन्ध मोक्षादि-व्यवस्था की उपपत्ति कैसे हो सकती है, इन सभी पर शंकराचार्य ने स्वीय ग्रन्थों में युक्तिपूर्ण विचार किया है।

आभास-स्वरूप—

माण्डूक्योपनिषद्भाष्य के 'अनाभास' पद के व्याख्यान[1] के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कल्पित विषयमात्रावभास आभास है। यह आभास सत् नहीं हो सकता है क्योंकि इसका जीवन उपाधिसमकालिक होता है और उपाधि के नाश के साथ इसका भी नाश हो जाता है। असत् भी नहीं हो सकता क्योंकि आभास-प्रतीति अपरोक्षसिद्ध है। अतः आभास सदसद्विलक्षण होने के कारण अचिन्त्य है।[2] जैसे दर्पणस्थ मुखाभास ग्रीवास्थ मुख से भिन्न होता है, उसी प्रकार आभास आत्मा से पृथक् है।[3] मिथ्या होते हुए भी उपाधिगत चिदाभास उसी प्रकार आत्मवत् प्रथित होता है जैसे मुकुरस्थ मुख ग्रीवास्थ मुखवत् प्रतीत होता है।[4] अतः आभास वस्तुतः दर्पणस्थ मुखवत् मिथ्या है।[5] आभास को मिथ्या मानने के कारण शंकराचार्य ने इस (आभास) को कहीं अवस्तु,[6] कहीं अनात्म,[7] और कहीं दृक् की छाया[8] के रूप में प्रतिपादित किया

---

१. 'अनाभासं न केनचित्कल्पितेन विषयेणावभासते' (मा० उ० शा० भा० ३।४ पृ० १५३)

२. '......अचिन्त्यास्ते यतः सदैव।' वही ४।५१-५२ पृ० १६२

३. 'नात्माभासत्वसिद्धिश्चेदात्मनो ग्रहणात् पृथक्।
मुखादेश्च पृथक्सिद्धिरिह त्वन्योन्यसंश्रयः॥'
(उ० सा० पद्य प्रकरण १८। ११५) तुलनीय वही-१८।१३३।

४. 'मुकुरस्थं मुखं यद्वन्मुखवत्प्रथते मृषा।
बुद्धिस्थाभासकस्तद्वदात्मवत्प्रथते मृषा॥ (अद्वैतानुभूतिः, श्लोक, ६३ पृ० ६२)

५. 'मुखाभासो यथादर्शे आभासश्चोदितो मृषा।' (उप० सा०, पद्य खंड, १८। ८७ पृ० २४७) तथा 'आभासे परिणामश्चेन्न रज्ज्वादिनिभत्ववत्, सर्पादिव तथावोचमादर्शे च मुखादिवत्।' (वही १८।११४, पृ० २६०)

६. 'अवस्तुत्वाच्चिदाभासो....' स्वात्मप्रकाशिका, श्लोक, ३७, पृ० १२६) तथा '...आभासस्याप्यवस्तुतः।' (उप० सा०, पद्य खंड प्रकरण १८ श्लोक ४४, पृ० ३३३)

७. द्रष्टव्य, विवेकचूडामणिः श्लोक १६५ पृ० २२३ तथा श्लोक २२०-२२ पृ० २३६। उप० सा० पद्य खंड १८।१०८ पृ० २३६।

८. दृशेश्छाया यदारूढा मुखच्छायेव दर्पणे। पश्यंस्तं प्रत्ययं योगी दृष्ट आत्मेति मन्यते॥
(उप० सा० पद्य खंड, १२।६ पृ० ३०४)

है। आभास बुद्धि के कर्तृत्वादि धर्मों का अनुवर्तन उसी प्रकार करता है जैसे दर्पणस्थ मुख दर्पण के मालिन्यादि धर्मों का अनुवर्तन करता है।[१] प्रतिबिम्ब की शब्दावली के निरूपण के प्रसंग में यह उल्लिखित किया गया है कि उपाधि के नाश होने पर प्रतिबिम्ब का बिम्ब में ही संप्रतिष्ठान होता है।[२] पर आभास-निरूपण करते समय शंकराचार्य ने सर्वत्र उपाधि के नाश होने के साथ प्रतिबिम्ब अर्थात् आभास का नाश या व्युदास अथवा निरास माना है।[३] अतः स्पष्ट हो जाता है कि आभास वह अनिवर्चनीय वस्तु है है जो उत्पादविनाशशाली होने के कारण मिथ्या या अवस्तु है।

आभास तथा उसका धर्मविचार—

मुखाभास के धर्म के विषय में चार विकल्प हो सकते हैं—

(१) क्या मुखाभास मुख या आदर्श दोनों में से किसी एक का धर्म है? या

(२) मुख का धर्म है? या

(३) इन दोनों का धर्म है? या

(४) कोई परमार्थ वस्त्वन्तर है?

इसी प्रकार चार विकल्प आत्माभास के विषय में भी हो सकते हैं। शंकराचार्य ने उपदेशसाहस्री में इन चारो विकल्पों का प्रतिषेध किया है जिससे दृष्टान्त के समान दार्ष्टान्तिक आभास की अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है। विकल्पों के खण्डन में प्रवृत्त तर्क इस प्रकार है—[४]

(१) मुखाभास मुख या आदर्श इन दोनों में से किसी एक का धर्म नहीं। यदि दोनों में से किसी एक का धर्म आभास हो तो किसी एक के न रहने पर भी मुखाभास की प्रतीति होती अर्थात् यदि दर्पण का धर्म मुख हो तो मुख के दर्पणवियुक्त होने पर भी दर्पणगत रूपादि के समान मुखाभास को दृग्गोचर होना चाहिए और इसके विपरीत यदि मुख का धर्म हो तो दर्पण के मुखवियुक्त होने पर दर्पण में मुखाभास की स्थिति बनी रहनी चाहिए। पर किसी एक के अभाव में मुखाभास रहता नहीं। अतः उसे इन दोनों में से किसी एक का धर्म नहीं माना जा सकता।

---

१. उप० सा०, पद्यखंड, १८।३२ पृ० २२३।

२. बृ० उ० शा० भा० १।४।७ ११५; मु० उ० शा० भा० ३।२।७ पृ० ४५; प्र० उ० शा० भा० ४।६ पृ० ४४ तथा सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, श्लोक ८०४ पृ० २००।

३. बृ० उ० शा० भा० २।५।१२ पृ० ३१६-१७ तथा २।४।१३ पृ० ३१८-३१६, ब्र० सू० शा० भा० २।३।५० पृ० ५६१; अद्वैतानुभूतिः, श्लोक ६४ पृ० ६२ तथा विवेक चूडामणिः, श्लोक २००-२२ पृ० २३६।

४ उप० सा०, पद्य खंड, प्रकरण १८, श्लोक ३२-४२ पृ० २२३-२६।

(२) यद्यपि आभास मुखाभास अर्थात् मुखरूप से व्यपदिष्ट होता है तथापि आभास मुख का धर्म भी नहीं क्योंकि मुखाभास आदर्श का अनुवर्तन करता है। आदर्शानुवर्तन का अभिप्राय यह है कि मुखोन्मुख मुकुर में ही आभास की प्रतीति होती है, मुख-समीप्य-विरहित दर्पण में नहीं। अतः मुखैकधर्मता के मानने पर आभास अनुपपन्न बना रहेगा क्योंकि दर्पण के न रहने पर मुखाभास का अदर्शन लोकसिद्ध है।

(३) जैसे मुख और दर्पण के वियुक्त होने पर आभास नहीं देखा जाता उसी प्रकार उनके यथा कथंचन संयुक्त होने पर भी आभास-दर्शन नहीं होता। यदि इन दोनों का धर्म आभास हो तो किसी भी रूप में इन दोनों के संयोग होने पर आभास का अस्तित्व बना रहना पर तिर्यक् निरीक्ष्यमाण दर्पण में मुखाभास का दर्शन नहीं होता अतः आभास इन दोनों का धर्म भी नहीं।

(४) यदि कहा जाय कि आभास परमार्थ वस्त्वन्तर है तथा जिस प्रकार पूर्व सिद्ध राहु की प्रतीति सूर्य तथा चन्द्र के विद्यमान होने पर होती है उसी प्रकार अदृश्य किन्तु सदैव विद्यमान आभास की प्रतीतिमुख और दर्पण के संयोग होने पर होती है तो उपयुक्त नहीं, क्योंकि राहु की वस्तुता तो चन्द्रादि के उपराग के पूर्व भी ज्योतिषशास्त्र और पुराणादि शास्त्रों के प्रमाण से सिद्ध है किन्तु मुख और दर्पण के सम्बन्ध के पूर्व या पश्चात् मुखाभास का अवस्थान किसी भी प्रमाण से सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त जिनके मत में राहु भूम्यादि की छाया के रूप में स्वीकृत है वहां तो राहु का भी अवस्तुत्व सिद्ध होता है। अवस्तु राहु से आभास को अवस्तु सिद्ध करने में प्रथम विकल्प की युक्ति यहां भी लागू हो जाती है। 'नाक्रमेत्कामतच्छायां गुर्वादेः' तथा 'देवतिर्यकस्नातकाचार्यराज्ञां च्छायां परस्त्रियः। न क्रमेद्रक्तविण्मूत्रष्ठीवनोद्वर्तनादिकम्' इत्यादि छाया-लंघन-प्रतिषेध-परक स्मृतियों से भी छाया या आभास का वस्तुत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक अर्थ के लिए प्रयुक्त वाक्य अर्थान्तर के प्रतिपादन में नहीं समर्थ होता। छाया या आभास के (माधुर्यादि) अर्थ-क्रियाकारित्व के कारण भी आभास को वस्तु नहीं माना जा सकता क्योंकि छाया का जो माधुर्यादि कार्य देखा जाता है, वह उष्ण द्रव्यादि के सेवन न करने के कारण है। तप्यमान शिलाकूट की छाया में माधुर्योपलब्धि नहीं होती। कहने का आशय यह है कि च्छायोपविष्ट पुरुष को आतपसंसर्ग की निवृत्ति होने के कारण स्वाभाविक उदकमाधुर्याभिव्यक्ति होने से 'च्छाया मधुरा' इत्याकारक विभ्रम हो जाता है, वस्तुतः छाया में अर्थक्रियाकारित्व नहीं। अतः छाया या आभास को परमार्थ वस्त्वन्तर नहीं कह सकते।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि जैसे मुखाभास मुख या दर्पण इन दोनों में से न किसी एक का धर्म है, न मुख का धर्म है न मुख और दर्पण का संयोगज धर्म है और न कोई परमार्थ वस्त्वन्तर है उसी प्रकार चिदाभास न तो बुद्धि या आत्मा किसी एक का धर्म है, न चिन्मात्र का धर्म है, न चित् और बुद्धि इन दोनों का संयोगज धर्म है और न परमार्थतः कोई वस्त्वन्तर है। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' 'इन्द्रो मायाभिः

पुरुरूप ईयते' 'अनीशया शोचति मुह्यमानः' तथा एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' 'एकं रूपं बहुधा यःकरोति' इत्यादि श्रुतियों से और आगमापायि, दृश्य बुद्ध्यादि अनात्मविषयों का स्फुरण तथा सत्त्व नित्य सिद्ध साक्षी आत्मा में अध्यास के बिना नहीं सिद्ध हो सकता, अतः एक ही प्रत्यगात्मा सत् है और बुध्यादि तथा आभास आदि असत् हैं—इस युक्ति से भी आभास के असत्त्व का निश्चय हो जाता है।[1]

आभास का कारण —

अपने परमगुरु गौडपाद का अनुसरण करते हुए शंकराचार्य ने आभास को परमार्थतः कार्यकारण विरहित माना हैं। आभास कार्यकारण शून्य है, यह सिद्ध करने के लिए माण्डूक्योपनिषद्-कारिका तथा भाष्य में अलात-दृष्टान्त का ग्रहण किया है।[2] जैसे अलात-स्पन्द ऋजुवक्रादिरूपों में आभासित होता है उसी प्रकार अविद्या के कारण स्पन्दित सा विज्ञान (ब्रह्म) ग्रहण तथा ग्राहक अर्थात् विषय और विषयी रूप में आभासित होता है किन्तु यह आभास वस्तुतः विज्ञान का कार्य नहीं। परमार्थतः स्पन्दवर्जित अलात जैसे ऋजुत्वादिरूपों में आभासित न होने के कारण अनाभास और अज रहता है उसी प्रकार स्पन्दमान सा विज्ञान (परमात्मा) अविद्योपरम होने पर जात्यादिरूप आभास-शून्य होने के कारण अनाभास, अज एवं अचल रूप में साक्षात्कृत होता है। अलात के स्पन्दमान होने पर भी वे ऋजुवक्रादि आभास अलात के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र से आकर अलात में उपस्थित नहीं होते, अतः वे नान्यतोभूत हैं। उस निष्पन्दयुक्त अलात से कहीं वे अन्यत्र चले नहीं जाते और न उस निस्पन्दित अलात में ही प्रविष्ट होते हैं। द्रव्यत्वाभाव अर्थात् अवस्तु होने के कारण वे ऋजुवक्रादिक आभास अलात से भी नहीं निकलते क्योंकि निर्गमन एवं प्रवेश तो वस्तु के हो सकते हैं। अवस्तु में इन क्रियाओं का क्या योग? अलात के ऋजुवक्रादिक आभास के समान विज्ञान के अभास की स्थिति है। अचल विज्ञान के आभास किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हो सकते अतः अन्यकृत होने का प्रश्न नहीं। विज्ञान के स्पन्दनशून्य होने पर कहीं अन्यत्र नही चले जाते और न विज्ञान में ही प्रविष्ट होते हैं। द्रव्यशून्य होने के कारण वे विज्ञान से भी नहीं निकलते। कहने की अभिसंधि यह है कि आभास न तो विज्ञान से और न विज्ञानातिरिक्त अन्य किसी वस्तु से उत्पन्न होते हैं, न विज्ञान में प्रविष्ट होते हैं और न विज्ञानातिरिक्त किसी अन्य स्थल में चले जाते हैं। आभास की कार्यता या कारणता अनुपपन्न है, इसीलिए कार्यकारणशून्य आभास को अचिन्त्य[3] बता कर आचार्य गौडपाद एवं उनके प्रशिष्य शंकराचार्य ने आभास के मृषात्व की एक नियमित परम्परा सी स्थापित कर दी है।

---

१. 'गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यां आभासासत्त्वमेव च।' (उप० सा० पद्य खंड, १।४३ पृ० २२६)

२. माण्डूक्य कारिका तथा शा० भा०, ४।४७-५२ पृ० १८६-६२।

३. मा० का० शा० ४।५२ पृ० १६२।

आभास की कारणता के सम्बन्ध में उपर्युक्त निरूपण पारमार्थिक दृष्टि से उपस्थित किया गया है। व्यवहार निर्वाहार्थ अपरोक्षप्रतीतिविषय ईश्वर तथा जीवादि संकुल जगत् की उत्पत्ति, स्थिति आदि के लिए आभास की उत्पत्ति और उसके कारण का निर्देश करना पड़ता है। आभास का कारण ब्रह्म है इसीलिए आत्माभास, चिदाभास, ज्ञाभास तथा बोधाभास आदि कह कर इसका सम्बन्ध आत्मा से स्थापित किया जाता है। जैसे मुख के बिना मुखाभास दर्पण में अनुपपन्न होगा उसी प्रकार आत्मा के बिना चिदाभास की कल्पना नहीं जा सकती।[1] आभास आत्ममूलक है।[2] स्वाविद्या के अभाव में कार्यकारणशून्य निर्गुण, निर्विकार, निष्प्रपंच, निराभास ब्रह्म स्वतः आभास-कारण नहीं हो सकता अतः आभास को उसी प्रकार अविद्याकृत[3] कह दिया जाता है यथा जगत् को ब्रह्म और अविद्या इन दोनों से उत्पन्न कहा जाता है। जैसे लोक में रज्ज्वादिस्वभाव शब्दित स्वाज्ञान के कारण सर्पादि के रूप में आभासित होते हैं उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव अर्थात् अज्ञान के कारण आभास के कारणत्व का निर्वहण करता है अतः अविद्या व्यतिरिक्त ब्रह्म आभास का कारण नहीं।[4]

आभास का अधिष्ठान और आश्रय—

जैसे मुखाभास का अधिष्ठान मुख और आश्रय दर्पण है उसी प्रकार आभास का अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म[5] और आश्रय अविद्या तथा अविद्याकृत संसार है।[6] अधिष्ठान के लिए शंकराचार्य ने आधार[7] शब्द का भी प्रयोग किया है।

---

१. बिम्बं विना यथा नीरे प्रतिबिम्बो भवेत्कथम्।
विनात्मानं तथा बुद्धौ चिदाभासो भवेत्कथम्॥ (अद्वैतानुभूतिः, श्लोक ५४, पृ० ६१।)
२. सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः, श्लोक १५६, पृ० १८७।
३. आभासस्य चाविद्याकृतत्वात्...(ब्र० सू० शा० भा० २।३।५० पृ० ५६१)
४. 'न हि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम्। (मा० का० शा० भा० १।९ पृ० ३७) 'विषयिविषयाभासमित्यर्थः। किं तद्विज्ञानस्पन्दितम्। स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया' (वही ४।४७ पृ० १८९) तथा शतश्लोकी, श्लोक ८१ पृ० ११९।
५. 'अधिष्ठानं चिदाभासो बुद्धिरेतत्त्रयं यदा।' (स्वात्मप्रकाशिका, श्लो० ३६ पृ० १२६) तथा 'गुंजावह्निवदेव सर्वकलनाधिष्ठानभूतोऽस्म्यहम्' (प्रौढानुभूतिः, ६ पृ० २७)
६. 'आभासस्य चाविद्याकृतत्वात्तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिः।' (ब्र० सू० शा० भा० २।३।५० पृ० ५६१)
७. अज्ञानं तदवच्छिन्नभासयोरुभयोरपि। आधारं शुद्धचैतन्यं यत्तुर्यमितीर्यते॥ (सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, श्लो० ३२८ पृ० १८५)

आभास-प्रकार—

आभास कोई सीमित पदार्थ नहीं अपितु त्रिविध जगदाकाररूप है।[1] जगत् के जितने भी ग्राह्य और ग्राहक अर्थात् विषय और विषयी हैं, वे सभी आभास हैं।[2] जगत् के पदार्थ-सार्थ का त्रिभाजन जाति, क्रिया और वस्तु-इन तीन भागों में किया गया है। अतः गौडपाद तथा शंकर ने अज, अचल, अवस्तु, शान्त, अद्वय तथा परिच्छिन्न-पदार्थ रहित विज्ञान के आभासों को—(१) जात्याभास, (२) चलाभास तथा (३) वस्त्वाभास—इन तीन प्रकारों में उपन्यस्त किया है।[3] जैसे एक ही देवदत्त जाति, स्पन्दित तथा गौरत्व-दीर्घत्व आदि के धर्मों के रूप में जात्याभास, चलाभास तथा वस्त्वाभास आदि पदों से व्यवहृत होता है उसी प्रकार एक ही अज, अचल तथा शान्त परमात्मा भी जात्यादि आभासों के रूप में अवभासित होता है।

आभास की उपयोगिता—

शंकराचार्य ने आभास को आत्मज्योति तथा आत्म-द्वार के रूप में भी अंगीकृत किया है, जिसके द्वारा आभास की निम्नलिखित उपयोगिताओं को अवगति होती है—

(१) विषयावभासनक्षमता—आभास चिदात्मा की ज्योति है।[4] यह ज्योति सम्पूर्ण जगत् और चक्षु आदि का आभासन करती हुई उसी प्रकार तदाकारकारित हो हो जाती है जैसे सूर्य का प्रकाश प्रकाश्यभेदों से संयुक्त होने पर हरित, नील, पीत एवं लोहितादि भेदों से अभिन्न और उन्हीं प्रकार का भासता है।[5] बुद्धि के प्रत्ययों का दीपन भी इस चिदाभास के द्वारा ही सम्भव है। यह मान्यता कि साक्षिचेतन की सन्निधिमात्र से बौद्ध प्रत्ययों का प्रकाशन हो जायगा; अतःचिदाभास को कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है–उपयुक्त नहीं क्योंकि निर्विकार कूटस्थ साक्षि में किसी प्रकार ऐसा उपकारित्व धर्म स्वीकार भी करें तो उसकी सन्निधि सबके साथ समान होने के कारण

---

१. शतश्लोकी, श्लोक २७, पृ० ११०।

२. मा० का० शा० भा० प्रकरण, ४, का० ४७ पृ० १८६।

३. 'जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम्॥ (मा० का० ४।४५ तथा शा० भाष्य पृ० १८८)

४. उप० सा०, खंड २, प्रकरण १६, श्लोक ६० पृ० १६४ तथा वही प्रक० १८ श्लो० ७१ पृ० २४१।

५. 'यथा चाऽऽदित्यज्योतिरवभास्यभेदैः संयुज्यमानं हरितनीलपीतलोहितादिभेदैरविभाव्यं तदाकाराभासं भवति। तथा च कृत्स्नं जगदवभासयच्चक्षुरादीनि च तदाकारं भवति।' (बृ० उ० शा० भा० ४।३।३० पृ० ५७५)

अन्यत्र अर्थात् काष्ठलोष्ठादि में भी प्रत्यय-प्रकाशन के सामर्थ्य का प्रसंग उपस्थित होगा।[1] बुद्धि का विषयावभासन भी अभास के अभाव में असम्भव है क्योंकि जड़ बुद्धि में स्वतः विषय-प्रकाशन की क्षमता कहाँ?[2] चिदाभासव्याप्त बुद्धि विषयों का प्रकाशन उसी प्रकार करती है जैसे शीतल जल वह्नितप्त हो तापयुक्त देह का तापक होता है।[3]

(२) उपदेशवाक्यों की सार्थकता—आभास आत्मा का द्वार है। आभास के अभाव में तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों के उपदेश का कोई अर्थ नहीं होगा क्योंकि जब सत्स्वरूप ब्रह्म अकेला है, अन्य कोई उपदेष्टव्य नहीं, तब फिर इन उपदेश वाक्यों का विधान किसके लिए किया जाय? चैतन्य आत्मा का धर्म नहीं, अपितु स्वरूप है और बुद्धि जड है। चिदाभास युक्त बुद्धि चैतन्यधर्मवती प्रतीत होती है। यदि उसमें आत्मा का आभास न माना जाय तो केवल आत्मा या बुद्धि में शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि एक निर्धर्मक है और दूसरी जड़ है। कहने का अभिप्राय यह है कि चिदाभास विशिष्ट बुद्धि वेद के उपदेश को ग्रहण करती है और उसी के द्वारा लक्षणया वेद आत्मा का बोध कराता है।[4] यदि चित्त में चिदाभास की सत्ता न हो तो 'चेतनोऽहम्' यह प्रतीति भी नहीं हो सकती[5] और सत्स्वरूपात्मक ज्ञान न होने पर तत्त्वमस्यादि महावाक्य व्यर्थ होंगे क्योंकि इन वाक्यों की अर्थवत्ता 'युष्मद् अस्मद्' पदविवेकज्ञ के प्रति ही स्वीकृत है।[6] आशय यह हैकि केवल चिदाभास स्वीकार करने पर 'सत्स्वरूपोऽहम्' यह ज्ञान संभव है, अन्य किसी प्रकार नहीं। यदि आभास न स्वीकार किया जाय तो द्वाराभाव होने के कारण 'तत्त्वम्' इत्याकारक उपदेश व्यर्थ होगा।[7]

---

१. अध्यक्षस्य समीपे तु सिद्धिः स्यादिति चेन्मतम्।
नाध्यक्षेऽनुपकारित्वादन्यत्रापि प्रसंगतः।
(उप० सा० खंड २, प्रक० १८ श्लोक ७५ पृ० २४२)

२. वही, प्रकरण ५ श्लो० ४ पृ० ३१ तथा प्रक० १८ श्लोक १२० पृ० २६२।

३. 'वह्नितप्तजलं तापयुक्तं देहस्य तापकम्।
चिद्भास्या धीस्तदाभासयुक्तार्थं भासयेत्तथा॥ (लघुवाक्यवृत्तिः, वृत्ति ६, पृ० ३२)

४. चैतन्याभासता बुद्धेरात्मनस्तत्स्वरूपता।
स्याच्चेत्तं ज्ञानशब्दैश्च वेदः शास्तीति युज्यते॥ (उप० सा० द्वितीय खंड, प्र० १८, श्लो० ५०, पृ० २३२)।

५. 'न च धीर्हं शिरस्मीति यद्याभासो न चेतसि।' (वही प्र० १८, श्लो० ८६ पृ० २३२)

६. 'सदस्मीति धियोऽभावे व्यर्थं स्यात्तत्त्वमस्यपि।
युष्मदस्मद्विभागज्ञे स्यादर्थवदिदं वचः॥ (वही प्र० १८, श्लो० ९० पृ० २४८)

७. इत्येवं प्रतिपत्तिःस्यात्सदस्मीति च नान्यथा।
तत्त्वमित्युपदेशोऽपि द्वाराभावादनर्थकः॥ (वही प्र० १८, श्लो० ११०, पृ० २५८)

आत्मा के परिणामित्व की शंका तथा समाधान

आभास मानने से आत्मा का परिणाम सिद्ध होगा यह कथन ठीक नहीं क्योंकि परिणाम तो वस्तु का वस्तुरूप ही होता है पर आभासस्वरूप-निरूपण करते समय आभास की वस्तुरूपता का खंडन करते हुए उसे रज्जु आदि में सर्पादि की कल्पना के समान तथा दर्पण में मुखाभास के समान मिथ्या, अवस्तु तथा अनिर्वचनीय आदि बताया गया है।[१]

चिदाभास तथा ब्रह्म का सम्बन्ध

ब्रह्म का आभास से कोई संस्पर्श नहीं क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त उसका अस्तित्व नहीं।[२] आत्मा आभास के कर्तृत्वादिक धर्मों से भी उसी प्रकार असंस्पृष्ट रहता है जैसे प्रतिबिम्ब के चंचलात्वादिक धर्मों से बिम्ब में कोई चंचलता नहीं आती।[३] आभास और ब्रह्म के सम्बन्ध का यह निषेध पारमार्थिक दृष्टि से है। व्यावहारिक दृष्टि से जन्यजनकत्वसंबंध होगा, यह पहले कहा जा चुका है।

आभास की शब्दावली के परिसर में जगत्, जीव और ईश्वर का निरूपण

आभास और जगत्—

जिसको परिच्छेदशब्दावली के प्रसंग में बाह्य तथा आध्यात्मिक दो रूपों में उल्लिखित किया गया है तथा जिसके समवेत स्वरूपनिदर्शन के लिए शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र महार्णव,[४] वृक्ष[५] आदि रूपकों का समाश्रयण किया है, ऐसे चिरकाल से अनुवर्तमान जगत् को यद्यपि अनादि, अनन्त[६] इत्यादि विशेषणों से व्यपदिष्ट

---

१. वही, प्रकरण १८ श्लो० ११४ पृ० २६०।
२. मा० का० तथा शा० भा० ४.२६ पृ० १७६।
३. प्रतिबिम्बचंचलत्वाद्या यथा बिम्बस्य कर्हिचित्।
न भवेयुस्तथा भासकर्तृत्वाद्यास्तु नात्मनः॥ (अद्वैतानुभूतिः, श्लो० ५५, पृ० ६१)
४. ऐ० उ० शा० भा०, प्रथम, अध्याय, द्वितीयखंड, पृष्ठ ३५-३६।
५. 'कर्ममूलोऽविद्याक्षेत्रो ह्यसौ संसारवृक्षः समूल उद्धर्तव्य इति। (बृ० उ० शा० भा० १।४।७ पृ० १००)'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।' (क० उ० २।३।१ तथा शा० भा० पृ० १०७-८) तथा 'आदौ मध्ये तथान्ते जनिमृतिफलदं कर्ममूलं विशालं। ज्ञात्वा संसारवृक्षं भ्रममदमुदिता शोकतानेकपत्रम्। कामक्रोधादिशाखं सुतपशुवनिता कन्यका पक्षिसंघं। छित्त्वाऽसंगासिना पटुमतिरमितश्चिंतयेद् वासुदेवम्।' (शतश्लोकी, श्लोक १०० पृ० १२२)
६. 'स एव बीजांकुरादिवदविद्याकृतः संसार आत्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणोऽनादिरनन्तः······।' बृ० उ० शा० भा० १।१।१ पृ० ६)।

किया गया है तथापि ब्रह्म से विलक्षण तथा ब्रह्मातिरिक्त रूप से आभासित होने के कारण यह मिथ्या[1] है और परिवर्तनास्पद होने के कारण प्रतिक्षण अन्यथा स्वभाव[2] वाला है। परस्पर मिले हुए अनेक प्राणियों की कर्मवासना से दृढ़ीकृत, साध्य-साधन-लक्षणों वाला, क्रिया-फलात्मक यह सम्पूर्ण जगत् नदी-स्रोत तथा प्रदीप-संतति के समान क्षणिक है, कदली-स्तम्भ के समान असार है तथा मृगमरीचिका और स्वप्न के समान अशुद्ध है, यद्यपि अविवेकियों को इसकी प्रतीति क्षणिकादि रूप में नहीं प्रत्युत अविकीर्यमाण, नित्य तथा सारवान् रूप में होती है।[3] विद्या तथा विषय रूप से सम्मत सम्पूर्ण जगत् असद्रूप तथा आभासमात्र है।[4] इस आभास रूप जगदाकार की उपलब्धि अज्ञान-सिन्धुप्रविष्ट विस्मृतात्मस्वरूप जीव को होती है[5] क्योंकि अज्ञानार्णवोत्तीर्ण स्वरूपापन्नजीव के लिए जगत् की स्थिति असंभव है। ग्रहण-ग्राहकाभास रूप जगत् अविद्या के कारण विज्ञान (प्रज्ञानघनचैतन्य) का स्पन्दन सा है।[6] असंगोदासीन निष्प्रपंच अद्वय ब्रह्म में जगत् उसी प्रकार आभासित होता है जैसे उपाधि की रक्तता या नीलता से स्फटिक में रक्तता अथवा अम्बर में नीलता का आरोप किया जाता है। वस्तुतः ब्रह्म में आभासित जगत् स्फटिकादि की रक्तता के समान असत्य है।[7] ब्रह्म में निखिल जगत् का आभास तभी तक संभव है जब तक ब्रह्म का अज्ञान बना है क्योंकि यह सर्वविदित तथ्य है कि रज्जु अपने अज्ञान क्षण में ही सर्पवती प्रतीत होती है।[8] अभिप्राय यह है कि जैसे रज्जु अपने अविद्या रूप स्वभाव के अभाव में सर्पादि आभासों का कारण नहीं हो सकती वैसे ब्रह्म

---

१. जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किंचन।
   ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या यथा मृगमरीचिका॥ (आत्मबोध, श्लो० ६३ पृ० १८)

२. '......प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो......।' (क० उ० शा० भा० २।३।१ पृ० १०७-८)

३. 'सर्वोलोकः साध्यसाधनलक्षणः क्रियाफलात्मकः संहतानेकप्राणिकर्मवासनावष्टम्भत्वात् क्षणिकोऽसारोऽशुद्धो नदीस्रोतःप्रदीपसन्तानकल्पः कदलीस्तम्भवदसारः फेनमाया मरीच्यम्भः स्वप्नादिसमः तद्गतात्मदृष्टीनामविकीर्यमाणो नित्यः सारवानिव लक्ष्यते।' (बृ० उ० शा० भा० १।४।२ पृ० ६६१-६२)।

४. 'दृष्टं ब्रह्मातिरिक्तं सकलमिदमसद्रूपमाभासमात्रम्।' (शतश्लोकी श्लो० ६४ पृ० ११६)

५. एकस्तत्रास्त्यसंगस्तदनु तदपरोऽज्ञान सिन्धु प्रविष्टो।
   विस्मृत्यात्मस्वरूपं स विविधजगदाकारमाभासमैक्षत्॥ (वही श्लो० २७, पृ० ११०)

६. मा० का० शा० भा० ४।४७ पृ० १८६।

७. अपरोक्षानुभूतिः, श्लोक ४४, पृ० ४।

८. रज्ज्वज्ञानात्क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी।
   भाति तद्वच्चितिः साक्षाद् विश्वाकारेण केवला॥ (अपरोक्षानुभूतिः, श्लो० ४४ पृ० ४)

अपने स्वभाव (अज्ञान) के अभाव में जगदाभास का कारण नहीं हो सकता।[१] जगत् को स्थान-स्थान पर अध्यारोप[२] कहने का यही रहस्य है कि शंकराचार्य इसे आभास स्वरूप मानते हैं। पर जगत् को आभास कहने का अभिप्राय यह नहीं कि शंकर को जगत् की सांव्यावहारिक या आपेक्षिक सत्ता भी अभीष्ट नहीं। उनका स्पष्ट कथन है कि जब तक जीव को आत्मैकत्व की प्रतिपत्ति नहीं होती तब तक उसे जगत् के प्रमाण-प्रमेय-फल लक्षण रूप व्यवहारों में अनृतत्व बुद्धि नहीं उत्पन्न हो सकती।[३] जगत् तब तक सत्य है जब तक उसके अधिष्ठान-भूत ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता।[४]

आभास तथा ईश्वर

शंकराचार्यकृत सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार संग्रह नामक प्रकरण ग्रन्थ के अनुसार मायोपहित साभास चैतन्य ईश्वर है।[५] एक अन्य प्रकरण ग्रन्थ में कहा गया है[६] कि माया, आभास तथा विशुद्धात्मा—ये तीनों मिलकर ईश्वर हैं। इसमें से कोई एक ईश्वर क्यों नहीं हो सकता ? यह प्रश्न सदा समाहित रहे, एतदर्थ आचार्य का कथन है[७] कि विशुद्धात्मा, पूर्ण निर्विकार तथा विशुद्ध होने के कारण स्वयं ईश्वर नहीं हो सकता, जड़ एकाकिनी माया में भी ईश्वरत्व दुर्घट है तथा अवस्तु आभास भी ईश्वर नहीं हो सकता। माया, आभास तथा विशुद्धात्मा तीनों का संहत रूप ईश्वर है, इसीलिए मायोपहित साभास चैतन्य को ईश्वर कहा गया है। सत्त्वगुणबृंहित, सर्वज्ञत्वादि गुणोपेत ईश्वर

---

१. 'नहि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम् ॥
(मा० उ० शा० भा० १।६ पृ० ३७)

२. बृ० उ० शा० भा० १। १। १ पृ० ६ तथा ६।

३. सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाण-प्रमेय-फल-लक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्य चिदुत्पद्यते। (ब्र० सू० शा० भा० २। १। १४ पृ० ३७७)

४. 'तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम्।
(आत्मबोधः श्लोक ७, पृ० १३)

५. श्लोक ३१०-११, पृ० १५७।

६. मायाभासो विशुद्धात्मा त्रयमेतन्महेश्वरः। (स्वात्मप्रकाशिका, श्लो० ३८, पृ० १३६)

७. मायाभासोऽप्यवस्तुत्वात्प्रत्येकं नेश्वरो भवेत्। पूर्णत्वान्निर्विकारत्वाद्विशुद्धत्वान्महेश्वरः। जडत्वहेतोर्मायायामीश्वरत्वं नु दुर्घटम् ॥ वही श्लो० ३८-३६ पृ० १३६।

जगत् की सृष्टि-स्थिति और अन्त का कारण तथा सभी के ज्ञान का अवभासक है।[1] चिदाकाश में ईश्वर उसी प्रकार कल्पित माना गया है यथा घटाकाश अथवा मठाकाश महाकाश में कल्पित माने जाते हैं।[2] कल्पित होने के फलस्वरूप ईश्वर की वास्तविकता परमार्थावस्था में बाधित है।[3] ज्ञानरूपी वह्नि से माया के दग्ध होने पर ईश्वर का नाश स्वयं सिद्ध है।[4] कल्पित ईश्वर के नाश से आत्मा का नाश उसी प्रकार कभी नहीं होता जैसे ताम्रकल्पित ईश्वर के नाश से ताम्र-नाश नहीं होता।[5]

आभास तथा जीव—

जीव के आभासात्मक स्वरूप-निरूपण के उद्देश्य से शांकर ग्रंथों के कतिपय विशिष्ट उद्धरणों को प्रस्तुत किया जाता है।

'आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः।' (ब्र० सू० शा० भा० २।३।५० पृ० ५६१)

'जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रम्। बुद्‌ध्यादिभूतमात्रासंसर्गजनित आदर्श इव प्रविष्ट पुरुषप्रतिबिम्बो जलादिष्विव च सूर्यादीनाम्।' (छा० उ० शा० भा० ६।३।२ पृ० २६६-६७) तथा—

'बोधाभासो बुद्धिगतः कर्त्ता स्यात्पुण्यपापयोः।' (लघुवाक्यवृत्तिः, वृत्ति २ पृ० ३२)

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि **बुद्धिगत चैतन्य का आभास जीव** है। बुद्धि आदि भूतमात्राओं के संसर्ग से उत्पन्न यह परमात्मा का आभासरूप जीव दर्पण में प्रविष्ट पुरुष-प्रतिबिम्ब अथवा जलादि में स्थित सूर्य के आभास के समान है। जैसे माया, आभास तथा चैतन्य के संपिंडित रूप को ईश्वर बताया गया है उसी प्रकार अधिष्ठान भूत चित्, चिदाभास और आधारभूत बुद्धि ये तीनों जब अज्ञान के कारण एक से

---

१. मायोपहित चैतन्यं साभासं सत्त्वबृंहितम्। सर्वज्ञत्वादिगुणकं सृष्टिस्थित्यंतकारणम्॥
अव्याकृतं तदव्यक्तमीश इत्यपि गीयते। सर्वशक्तिगुणोपेतः सर्वज्ञानावभासकः॥
(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः, श्लोक ३१०-११ पृ० १५७)

२. घटाकाशमठाकाशौ महाकाशे प्रकल्पितौ। एवं मयि चिदाकाशे जीवेशौ परिकल्पितौ।
(स्वात्मप्रकाशिका, श्लोक ४२ पृ० १२६)

३. 'परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते।' (ब्र० सू० शा० भा० २।१।१४ पृ० ३८३)

४. 'मायातत्कार्यविलये नेश्वरत्वं च जीवता' (स्वात्मप्रकाशिका, श्लो० ४३ पृ० १२६)

५. यथेश्वरादिनाशेन ताम्रनाशो न विद्यते। तथेश्वरादिनाशेन नाशो नैवात्मनः सह॥
(अद्वैतानुभूति, श्लोक ६७ पृ० ६२)

प्रतीत होते हैं तब जीव-भाव होता है।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त तीनों तत्त्व परस्पर मिलकर ही जीव के संपिंडित रूप हैं, पृथक्-पृथक् कोई नहीं, क्योंकि निर्विकार होने के कारण शुद्ध चित् स्वयं जीव नहीं हो सकता, अवस्तु होने के कारण चिदाभास की पृथक् रूप से जीवता संमत नहीं तथा जड़ बुद्धि में स्वतः जीवत्वभाव असंभव है।[2] उपाधि के कारण व्यवहित चिदाभास रूप जीव को न तो साक्षात् परमात्मा कहा जा सकता है और न 'स एष इह प्रविष्टः '(बृ० उ० १।४।७) इत्यादि अभेदवादिनी श्रुतियों के व्याकोप के कारण परमात्मा से भिन्न कोई वस्त्वन्तर माना जा सकता है।[3] इसलिए यह जीव अनिर्वचनीय है। चैतन्य के एक रूप होने के कारण भी जीव को परमात्मा से भिन्न मानना युक्ति संगत नहीं क्योंकि परमात्मा में जीवत्व रज्जु में सर्प-ग्रह के समान मिथ्या कहा जाता है।[4] जीव की औपाधिक अनेकता का स्पष्टीकरण करते हुए शंकराचार्य ने कहा है[5] कि जैसे एक ही सूर्य अनेक उदकाश्रय में आभासित हो अनेकरूपता को प्राप्त होता है उसी प्रकार एक ही परमात्मा सम्पूर्ण क्षेत्रों में आभासित हो अनेक सा हो जाता है। एक जीव के सुख-दुःखादि रूप कर्मफल से दूसरे जीव का सम्बन्ध क्यों नहीं होता? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि जैसे एक जलसूर्यक के कम्पित होने पर अवान्तर जलसूर्यक अकम्पित रहते हैं, उसी प्रकार एक जीव के कर्मफल से दूसरे जीव का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।[6] केवल आभासरूप से अनुप्रविष्ट देवता भी देहिकों के सुख दुःख से उसी प्रकार नहीं सम्बन्धित होता जैसे

---

१. अधिष्ठानं चिदाभासो बुद्धिरेतत्त्रयं यदा।
अज्ञानादेकवद् भाति जीव इत्युच्यते तदा॥ (स्वात्मप्रकाशिका, श्लो० ३६, पृ० १२६)

२. अधिष्ठानं न जीवः स्यात्प्रत्येकं निर्विकारतः।
अवस्तुत्वाच्चिदाभासो नास्ति तस्य च जीवता॥
प्रत्येकं जीवता नास्ति बुद्धेरपि जडत्वतः।
जीव आभासकूटस्थबुद्धित्रयमतो भवेत्॥ वही, श्लोक ३७-३८ पृ० १२६।

३. 'न स एव साक्षात्, न वस्त्वन्तरम्।' (ब्र०सू० शा० भा० २।३।५० पृ० ५६१)

४. चैतन्यस्यैकरूपत्वाद्भेदो युक्तो न कर्हिचित्।
जीवत्वं च मृषा ज्ञेयं रज्जौ सर्पग्रहो यथा॥ (अपरोक्षानुभूतिः, श्लो० ४३ पृ० ४)

५. 'तोयाश्रयेषु सर्वेषु भानुरेकोऽप्यनेकवत्।
एकोऽप्यात्मा तथा भाति सर्वक्षेत्रेष्वनेकवत्॥ (अद्वैतानुभूतिः, श्लो० ५२ पृ० ६१)

६. 'यथा नैकस्मिन् जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिन् जीवे कर्मफलसम्बंधिनि जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः। (ब्र० सू० शा० भा० २।३।५० पृ० ५६१)

पुरुष और सूर्य क्रमशः आदर्श तथा उदक में छायामात्र रूप से अनुप्रविष्ट होने के कारण आदर्श एवं उदक के मलिन्यादि दोषों से असंस्पृष्ट रहते हैं।[1] 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।' (कठ उ० २।२।११) तथा 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० उ० ४।३।७) आदि श्रुतियों से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। स्वतः जीव परमात्मा से अन्य होने के कारण अनृत या मिथ्या है[2] पर जैसे दर्पणस्थ मुखाभास मिथ्या होते हुए भी मुख रूप में प्रथित होता है उसी प्रकार यह बुद्धिस्थ चिदाभास (जीव) भी आत्मवत् प्रतीत होता है।[3] जीव को श्रुतियों में भी परमात्मा से भिन्न प्रतिपादित किया गया है। जीव षोडश कलाओं से युक्त अतएव अनित्य है इसके विपरीत परमात्मा 'निष्कल' होने के कारण लयरहित एवं नित्य है।[4] परमात्मा का पुण्य तथा पाप से कोई भी सम्बन्ध नहीं जबकि चिदाभास जीव पुण्य के उत्कर्षापकर्ष से उच्चावच होता रहा है।[5] जीव उत्पत्ति-विनाश-भाजन है क्योंकि यह चिदाकाश (ब्रह्म) में उसी प्रकार प्रकल्पित है जैसे मठाकाश महाकाश में प्रकल्पित है।[6] माया के कार्य अर्थात् बुद्धि के विलय होने पर जीवभाव संभव नहीं।[7] जैसे उदक तथा अलक्तक रूप हेतुओं के अपनय होने पर सूर्य-

---

१. 'च्छायामात्रेण जीवरूपेण अनुप्रविष्टत्वाद्देवता न देहिकैः स्वतः सुखदुःखादिभिः संबध्यते। यथा पुरुषादित्यादय आदर्शोदकादिषु च्छायामात्रेणानुप्रविष्टा आदर्शोदकादिदोषैर्न सम्बध्यन्ते तद्वद्देवताऽपि।' (छा० उ० शां० भा० ६।३।२ पृ० २९७)

२. 'नैवं सत्यं विकारजातं स्वतस्त्वनृतमेव। वाचारम्भणं विकारो नामधेयमित्युक्तत्वात्। तथा जीवोऽपीति। यक्षानुरूपो हि बलिरिति न्यायप्रसिद्धिः।'

(वही ६।३।२ पृ० २९८)

३ मुकुरस्य मुखं यद्वन्मुखवत्प्रथते मृषा।
बुद्धिस्थाभासकस्तद्वदात्मवत्प्रथते मृषा॥

(अद्वैतानुभूतिः, श्लो० ६३ पृ० ६२)

४. श्रुत्युक्ता षोडशकलाश्चिदाभासस्यनात्मनः। निष्कलत्वान्नास्य लयस्तस्मान्नित्यत्वमात्मनः॥

(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, श्लो० ६१७ पृ० १८३) तथा प्रश्न उपनिषद् (६।५)

५. सोयमाभास आनन्दश्चित्ते यः प्रतिबिम्बितः। पुण्योत्कर्षापकर्षाभ्यां भवत्युच्चावचः स्वयम्॥

(स्वात्म प्रकाशिका, श्लो ६४८ पृ० १८६)

६. वही श्लोक ४२ पृ० १२६।

७. वही, श्लोक ४३ पृ० १२६।

चन्द्र तथा स्फटिक के प्रतिविम्ब का विनाश हो जाता है और केवल सूर्यादि का स्वरूप ही परमार्थतः व्यवस्थित रह जाता है इसी प्रकार बुद्धिरूप उपाधि का अपनय होने पर चिदाभास जीव विनष्ट हो जाता है तथा प्रज्ञानघन, अनन्त, अपार, स्वच्छ परमात्मा केवल शिष्ट रहता है।'[१]

समीक्षण—

ए० सी० मुखर्जी ने कहा है[२] कि 'शांकर दर्शन में आभास पक्ष से अधिक प्रमुखता किसी की नहीं है।' शंकर की रचनाओं में आभास के विशदीकृत वर्णन को इस कथन का आधार कहा जा सकता है। आभास का वर्णन शंकराचार्य के बुद्धि की कल्पना हो यह बात नहीं क्योंकि शंकर के पूर्व भी सूत्रकार वादरायण ने कतिपय सूत्रों से[३] आभास-सुमनों को गूँथा है और इनके परमगुरु गौडपादाचार्यने माण्डूक्यकारिका की अनेक कारिकाओं में आभास की शब्दावली का प्रयोग किया है।[४] इतना होते हुए भी हम अपने पूर्व लेख को विस्मृत नहीं कर सकते कि शंकराचार्य ने सुविधानुसार अवच्छेद प्रतिविम्ब या आभास इन शब्दों का प्रयोग किया है ; किन्तु प्रस्थान के रूप में इनमें से किसी एक की भित्ति पर अपना अद्वैत-प्रासाद नहीं स्थिर किया।

---

१. 'यथोदकालक्तकादिहेत्वपनये सूर्यचन्द्रस्फटिकादिप्रतिविम्बो विनश्यति चन्द्रादि-स्वरूपमेव परमार्थतो व्यवतिष्ठते तद्वत्प्रज्ञानघनमनन्तमपारं स्वच्छं व्यवतिष्ठते।' (वृ० उ० शा० भा० २।४।१२, पृ० ३१६-१७)।

२. 'Nothing is more central in Sankara's philosophy than the theory of appearance.' 'The status of Appearance in Sankara's philosophy, Philosophical uarterly for 1931-32 Vol VII, p.217.

३. ब्रह्मसूत्र अध्याय २, पाद ३, सूत्र ५०, अध्याय ३ पा० २ सू० १५ तथा अ० ३, पा० २, सू० १८-२१।

४. मा० कारिका अद्वैत प्रकरण, का० २६-३० तथा ४६ अलातशान्तिप्रकरण, का० २६, ४५, ४७-५२, ६१ तथा ६२।

तृतीय अध्याय

सुरेश्वराचार्य प्रतिष्ठापित आभास-प्रस्थान

भूमिका :—

द्वितीय अध्याय में अद्वैत वेदान्त के यशस्वी आचार्य शंकर के भाष्य एवं प्रकरण ग्रन्थों में सुलभ अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास की शब्दावली में अद्वैत सिद्धान्त का निष्पक्ष विश्लेषण किया गया तथा यह भी सूचित किया गया कि शांकर ग्रन्थ सुलभ इन त्रिविध शब्दावलियों ने शंकरानुयायियों के हाथ में पड़ कर परस्पर विविक्त त्रिविध प्रस्थान का रूप धारण किया; जिनमें से एक इस निबन्ध का विषय आभासवाद भी है। आभासवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य सुरेश्वर हैं। प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य सुरेश्वराचार्य के ग्रन्थों के द्वारा उपन्यस्त-आभास-प्रस्थान के अध्ययन से संबंधित है, अतः यह आवश्यक है कि उनके आभास-प्रस्थान के निरूपण के पूर्व उनके व्यक्तित्व का संक्षिप्त परिचय दिया जाय।

सुरेश्वर का व्यक्तित्व :—

आचार्य सुरेश्वर शंकराचार्य के चार प्रमुख शिष्यों (पद्मपादाचार्य, सुरेश्वराचार्य, हस्तामलकाचार्य तथा त्रोटकाचार्य) में से एक थे। 'संन्यासोत्पत्ति' में इनका नाम स्वरूपाचार्य[1] भी बताया गया है। विद्वानों की ऐतिहासिक गवेषणा ने मंडन एवं सुरेश्वर की एकता या विभिन्नता के स्थापन में सुरेश्वर के साथ केवल मंडन की ही नहीं प्रत्युत् विश्वरूप, उम्बेक तथा भवभूति नामधारी व्यक्तियों को भी एक सूत्र में ग्रथित कर दिया है तथा मंडन मिश्र एवं मंडन-इन-मंडनद्वय की संभावना भी व्यक्त की है[2]। मंडन और

---

१. 'शंकराचार्यस्य चत्वारो शिष्या ॥ स्वरूपाचार्यः ॥१॥ पद्माचार्यः ॥२॥ नरा त्रोटकाचार्यः ॥३॥ पृथ्वीधराचार्यः ॥४॥ (संन्यासोत्पत्तिः, पृ० २ हस्तलिखित पुस्तिका, संवत् १८६६)।

२. "There is, of course, nothing impossible in the hypothesis that Mandana and Mandana-Misra were distinct, eventhough we shall then have to assume that both a like were Vedantins." (M.Hirriyanna : Sureshvara and Mandana Misra, The Journal of Royal Asiatic Society of the Great Britain and Ireland for 1923)

विश्वरूपादि सुरेश्वर हैं या सुरेश्वर से पृथक्-पृथक् हैं—इसका निर्णय ऐतिहासिक शोध से सम्वन्वित है, आभास-प्रस्थान-विवेचक शोध-प्रवन्ध से नहीं। ब्रह्मसिद्धि अवच्छेद-परक है और नैष्कर्म्यसिद्धि तथा वार्तिक[1] आभासपरक है। आभासवादी आचार्यो ने ब्रह्मसिद्धि सम्मत मत का प्रपंचन और खंडन भी किया है।[2] भले ही ब्रह्म-सिद्धिकार मंडन तथा वार्तिक एवं नैष्कर्म्यसिद्धिकार सुरेश्वर एक ही व्यक्ति हों, पर दोनों के नाम से विश्रुत रचनाओं में कुछ मूलभूत सैद्धान्तिक अन्तर स्पष्ट लक्षित होते हैं अतः आभासवादी आचार्य सुरेश्वर के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं[3] के आधार पर आभासपक्ष का उपन्यास उचित होगा।

आभास-स्वरूप :—

सुरेश्वर के ग्रन्थों में आभास का कोई प्रतिपदोक्त लक्षण नही प्राप्त होता है। एक स्थान पर उन्होंने प्रत्यङ्मात्र चेतन व्यतिरिक्त अन्य समस्त नाम रूपात्मक पदार्थों को चिदाभास कहा है।[4] अतः निष्कृष्टरूप में कहा जा सकता है कि चिदाभास न तो वास्तविक है, न अवास्तविक, न चैतन्य व्यतिरिक्त है और न चैतन्याव्यतिरिक्त है।[5] अविचारित-संसिद्ध तम के समान इसका उद्‌भव है अतः यह अविचारित—संसिद्ध है।[6] आभास कारणता का वह काल्पनिक तत्त्व है जिसके अभाव में नित्यशुद्धवुद्धमुक्त-स्वभाव, निद्वंय, निष्क्रिय, निरंजन, निर्लिप्त ब्रह्म का अनेक नाम—रूपात्मक प्रपंच के

---

१. 'उक्तानुक्तदुरुक्तादि चिन्तायत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थंवार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः।' सुरेश्वर वार्तिक तथा टीका में कोई अन्तर नहीं करते, ऐसा इस वार्तिकांश 'सुविष्णप्टार्थंतो भाष्यं टोका नैवव्यपेक्षते।' (३।२।१२१) से ज्ञात होता है।

२. वृ० उ० भा० वा० ४।४।७९६-८६५; वृ० उ० भा० वा० टी० पृ० १८५२-६२: 'जीवन्मुक्तिगतो यदाह भगवान् तत्संप्रदाय प्रभुः···नैतव्यं परिहृत्य मडनवचस्तद्वर्यंयया प्रस्थितम्।' (सं० शा० २।१७४ तथा, प्रपंचस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते। इति-प्राह ब्रह्मसिद्धिकारो वेदरहस्यवित्। 'अतोऽन्यनिषेधेन ब्रह्मवोधः समाप्यते।' (वृ० भा० सा० १८२-८३ पृ० ५७३।)

३. (१) वृहदारण्यकोपनिषद्‌भाष्यवार्तिकम्। (२) तैत्तिरीयोपनिषद्‌भाष्यवार्तिकम् (३) पंचीकरण वार्तिकम् (४) दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्तिकम् तथा (५) नैष्कर्म्यसिद्धि।

४. तदन्यद्यत्तदाभासं···।" वृ० उ० भा० वा० २।३।१६१)।

५. वही—२।३।२१-२२

६. 'अविचारित संसिद्धितमोवत्स्यात्तदुद्‌भवम्।
कृत्स्नं जगदतो मोहध्वस्तौ ध्वस्तं भवेच्चितिः॥
(वृ० उ० भा० वा० २ अ० १ ब्रा० ४ वा० १३२६)

रूप में अवभासन संभव नहीं क्योंकि आभास रूप फलक पर समारूढ़ होकर ही चेतन तत्त्व अज्ञान एवं अज्ञानज भूमियों में स्थित पर असंवद्ध रह ईश्वराद्यात्मक रूपों में प्रतीत होता है।[1] प्रत्यक् चैतन्यरूप[2] आत्मवस्तु के इस आभास को सुरेश्वराचार्य ने कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सम्पूर्ण अभिमान का मूल माना है।[3] यद्यपि अज्ञान तथा अज्ञानज वस्तुव्रात इन सब में आभास नित्य अन्वित रहता है,[4] तथापि अज्ञानादि उपाधियों के नाश होने पर आभास का संहार उसी प्रकार हो जाता है जैसे घटोदकादि के नेष्ट होने पर तद्गत अर्क का प्रविलयन हो जाता है।[5]

आभास का नामान्तर—

सुरेश्वराचार्य ने अपने आभास-प्रस्थान के प्रतिष्ठापक ग्रन्थों में केवल आभास[6] पद का ही प्रचुरतः प्रयोग किया हो यह बात नहीं, अपितु इस चित्शम्बन्त्रित आभास

---

१. स्वाभासफलकारूढ़ स्तदज्ञानज भूमिपु।
तन्स्थोऽपि तदसम्वद्ध ईश्वराद्यात्मतां गतः ॥
(वृ० उ० भा० वा०, अ० १ ब्रा० ३, वा० ५३)

२. वही, अ० ४ ब्रा० ३ वा० ११७४।

३. वही, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ७३।

४. कार्यकारणयोस्तत्त्वं प्रत्यगात्मा चितिर्यतः।
तस्मान्नित्यश्चिदाभासो वुद्धौ तत्प्रत्ययेषु च ॥ (वही, अ० ३ ब्रा० ४ वा० १५१)।
तथा—अपि प्रत्यक्तमो नित्यं भास्वच्चैतन्यविम्बितम्।
वुद्धितद्वृत्तयश्चैवं तप्तायो विस्फुलिंगवत् ॥
(वही, अ० १ ब्रा० ४ वा० ८३४)

५. बुद्ध्यादिकार्य संहारे प्रत्यक्चैतन्य रूपिणः।
चिद्विम्वस्यापि संहारो जलार्क प्रविलायवत् ॥
(वही, अ० ४ ब्रा० ३, वा० ११७४)

६. सम्बन्ध वार्तिक—वा० २६८, २६६, ७६२, तथा ८७६; वृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा० ३, वा० ६६; ब्रा० ४ वा० २७२, ५५६, ८७४, १०५६, १२३६ तथा १३२८; अ० २, ब्रा० १ वा० ५५२; ब्रा० ३, वा० १६१ तथा १६१; ब्रा० ४, वा० १२४, १८६, २६२, ३६० तथा ४२४; अ० ३ ब्रा० ४ वा० १०१, १०६, १४२, तथा १४६; ब्रा० ७ वा० ६०; अ० ४ ब्रा० ३, वा० ६६, २६६, ३१५, ३६१, ३८४, ४७३, ६७२, १०३२ तथा १६४८। तै० उ० भा० वा०, वा० १६, पृ० १७६; वा० ५०, पृ० १८३ तथा वा० ६८, पृ० २१८। पंची० वा० १३।५६ तथा ६१; नैष्कर्म्यसिद्धिः—अ० २, का० २५, पृ० ६७, अ० २, गद्य भाग, पृ० ७६ तथा अ० ३, का० ८५।

का उल्लेख स्वाभास,[१] चिदाभास,[२] चैतन्याभास,[३] स्वात्माभास,[४] आत्माभास,[५] कूटस्थाभास,[६] प्रत्यगाभास,[७] तथा दृष्ट्याभास[८] पदों से भी किया है। आभास के स्थान पर अवभास [९] तथा अवभास के अर्थ में स्वात्मावभास[१०] एवं चिदवभास[११] का प्रयोग भी यत्र-तत्र प्राप्त हो जाता है। चिदाभासार्थक चिद्बिम्ब[१२] तथा आभासित के लिए बिम्बित[१३] शब्द भी वार्त्तिकों में बहुशः संलक्ष्य है। आभास के अर्थ में प्रतिबिम्ब[१४] तथा

१. बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० २ वा० १२७ तथा १३७; ब्रा० ३, वा० ५३; ब्रा० ४, वा० १५१, ५०१, ५१४ तथा ११७७; अ० २, ब्रा० १, वा० १८७ तथा २२७; ब्रा० ३, वा० ८५; ब्रा० ४ वा० ४२५; अ० ३, ब्रा० ४, वा० ६०, ब्रा० ८ ब्रा० १७२; अ० ४, ब्रा० ३ वा० ८६, ८६, ६४, ३५२, ४१६, १००४, १२३२ तथा १३७७।
२. वही, अ० १ ब्रा० ३, वा० २६१; ब्रा० ४ वा० ३४१ तथा ७४१; अ० ३, ब्रा० ४, वा० ६०, १०५ तथा १५१; ब्रा० ७ वा० ३७ तथा ४३ ब्रा० ६, वा० ३; अ० ४ ब्रा० २ वा० ५८; ब्रा० ३ वा० ६६, ३६०, ३७३, ३६४, ३६८, ४०५, ४०६, ४१६, ८८७, ६२५, १०७६ तथा १२६६।
३. वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० १००१ तथा १३५०; अ० २ ब्रा० ४ वा० ३४६; अ० ३, ब्रा० ४, वा० १०१; ब्रा० ८, वा० १२८; अ० ४, ब्रा० ३, वा० ३५५-५८, ३८५, ४४२, १२२६, १२६३ तथा १५८३। पंचीकरणवार्तिक ३६।
४. बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० ४ वा० १६, ५०८ तथा ७४३।
५. वही, अ० १ ब्रा० ४, वा० २३; अ० २, ब्रा० ४, वा० ३१५; अ० ३, ब्रा० ४, वा० १०१ तथा अ० ४, ब्रा० ३, वा० १३२०।
६. वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ३७४।
७. वही, अ० २, ब्रा० ४ वा० ४२७ तथा अ० ३, ब्रा० ३ वा० ४१।
८. वही, अ० ३, ब्रा० ४, वा० ८६।
९. वही, अ० २ ब्रा० १ वा० ५५७।
१०. वही, अ० २ ब्रा० १ वा० २१८।
११. बृ० उ० भा० वा०—अ० २, ब्रा० १, वा० २१६ तथा २२५।
१२. वही—अ० १ ब्रा० ४, वा० ५४०, ६०८, ६०६, ६१७ तथा १३१२; अ० ३, ब्रा० ४ वा० १०५; अ० ४, ब्रा० ३, वा० ४१४, ४१५, १०२६, ११७४, ११७५ तथा १२५८; और अ० ४, ब्रा० ४, वा० २३६।
१३. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ८३४; अ० ४, ब्रा० ३, वा० ३६, २८५, ३८२ तथा १२५८; अ० ४, ब्रा० ४ वा० ७८।
१४. वही—अ० १, ब्रा० ४ वा० ५४१ तथा ६१६; अ० २, ब्रा० १ वा० ६८ तथा अ० ३, ब्रा० ६ वा० ५५।

आभासित के अर्थ में प्रतिबिम्बित[1] शब्द का भी प्रयोग किया गया है। महिमा,[2] 'अभिप्राय,[3] प्रसाद,[4] आकृति[5], वृत्ति,[6] आत्माच्छाया[7], चिदाभ,[8] तथा चिन्नभ[9] पदों से भी आभास का बोध कराया गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि सुरेश्वराचार्य ने आभास के लिए आभासादि अपरोक्ष पदों का ही प्रयोग नहीं किया है प्रत्युत तदर्थावबोधपरक महिमादि जैसी परोक्ष पदावलियों का भी अवष्टम्भ लिया है।

चिदाभास की द्विविधरूपता

अज्ञान तथा अज्ञानज कार्यावभासित आत्माभास को सुरेश्वराचार्य ने (१) कराणाभास तथा (२) कार्याभास—इन द्विविध रूपों में प्रतिपादित किया है।[10] उनके ग्रन्थों के परिशीलन से आभास के उक्त द्विविध रूपों के स्वरूपादि की प्रतिपत्ति इस प्रकार होती है।

(१) कारणाभास—मोहगत आभास कारणाभास है। कारणाभास चैतन्यमात्रोपादानक है, अतः इसे सुरेश्वराचार्य ने कूटस्थात्मैकहेतूत्य[11] एवं प्रत्यक्प्रज्ञोत्थित[12] कहा है। आत्मा के कारणत्वादि के प्रयोजक अज्ञान में नित्य संस्थित रहने के कारण[13] इस

---

१. वही—अ० १ ब्रा०४ वा० १३६७ तथा नैष्कर्म्यसिद्धि, अ० २ पृ० ९२ और ९९।

२. वृ० उ० भा० वा० अ० २, ब्रा० ३ वा० २३३; अ० ३ ब्रा० ५ वा० ७० तथा १३६; ब्रा० ८ वा० ११५।

३. वही—अ० १ ब्रा० ३ वा० ३१२।

४. वही—अ० ४, ब्रा० ३ वा० ७४ तथा २९५।

५. वही—अ०४ ब्रा० ३ वा० २२९ तथा ब्रा० ४ वा० ६५१।

६. वही— अ० १ ब्रा० ४ वा० ६३६।

७. वही—अ० १ ब्रा० ४ वा० ५६६ तथा ५७७।

८. वही—अ० १ ब्रा० २ वा० १५७; अ० ४ ब्रा० ३ वा० ९१, ३९२, ८८८, ८८९, ९०६, ९१०, ९२०, ११११ तथा ११७६।

९. वही—अ० २ ब्रा० १ वा० ३४०।

१०. आत्माभासोऽपि योऽज्ञाने तत्कार्ये चावभासते। कार्यकारणतारूपः············॥ (वही—अ० ४, ब्रा० ३ वा० १३२०।)

११. 'कूटस्थात्मैकहेतूत्यचिद्बिम्बोमोहगस्तु यः।' (वृ० उ० भा० वा० अ० ४ ब्रा० ३ वा० ४१५)

१२. 'प्रत्यक्प्रज्ञोत्थिताभास·········।' (वही, अ० २ ब्रा० ४, वा० ३९०)

१३. 'आत्माज्ञानमतः प्रत्यक् चैतन्याभासवत्सदा।' आत्मनः कारणत्वादेः प्रयोजकमिहेष्यते' ॥ (वही, अ० ४, ब्रा० ३ वा० ३५५); अ० ४, ब्रा० ३ वा० ९९ तथा अ० १ ब्रा० ४ वा० ८३४।

चिदाभास को कारणाभास कहा जाता है। स्वोपादान अर्थात् चैतन्यानुरोधी होने के कारण एक अन्य वार्तिक में[1] इसे चेतनाभास पद से भी व्यपदिष्ट किया गया है तथा आत्मलक्षणास्पद माना गया है। आत्मलक्षणानुरोधी होने के कारणाभास का किसी भी पदार्थ से वस्तुतः सम्बन्ध नहीं होता।[2] कारण चिदाभास को आत्मलक्षणास्पद कहने का अभिप्राय एतावन्मात्र है कि चिदाभास के द्वारा अज्ञान तथा अज्ञानज पदार्थ-सार्थ की सत्ता एवं स्फूर्ति होती है पर यह नहीं कि कारणाभास शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ब्रह्मवत् शुद्ध, असङ्ग, उदासीन, अविकारी, अनन्त तथा षड्विषयविकार रहित है। इसको कूटस्थात्मैकहेतूत्थ कहने से भी यह अभिप्रेत नहीं हो सकता कि आत्मा के कारणत्वादि की प्रयोजिका अविद्या के अभाव में कारणाभास का उत्थान हो जाता है क्योंकि कभी-कभी सुरेश्वराचार्य ने मोहोत्थ[3] कहकर इसके अज्ञान जन्यत्व को भी समर्थित किया है। आत्मलक्षणानुरोधित्व के समान आत्मैकहेतूत्थ से अभिप्रेत तथ्य यही है कि यह कारणाभास चित्समविशेषणावगाहि होता हुआ जड़ पदार्थों का प्रकाशनादि करता है। मोह के साथ इसका नित्यान्वय स्वीकार करने से यह सिद्ध हो जाता है कि कारण चिदाभास का आश्रय तथा विषय अज्ञान है।[4] चैतन्य सह विद्यमान होने के कारण इसका अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य होगा।[5] कारणाभास आभासवादी आचार्य सुरेश्वर सम्मत ईश्वर है—यह ईश्वर-स्वरूप-निरूपण के प्रसंग में स्पष्ट किया जायगा।

कारणाभास की चिदज्ञानोभयजन्यता का स्पष्टीकरण

कारणाभास के लिए चित् तथा अज्ञान—इन दोनों की कारणता के स्वरूप का स्पष्टीकरण आवश्यक है। चिदाभास का अर्थ है चित्प्रतियोगिक आभास। अज्ञान में सदैव संस्थित रहने के कारण इसे अज्ञानानुयोगिक कहा जायगा। आभास अपने

---

१. 'चेतनाचेतनाभास आत्मानात्मत्वलक्षणः।' (बृ० उ० भा० वा० अ० २, ब्रा० ४, वा० ४२४।)
२. स्वोपादानानुरोधित्वात्केनचिन्नास्य संगतिः।' (वही—अ० ४, ब्रा० ३, वा० ४१५)
३. एक नीडत्वहेतूत्या साक्षिणः साक्ष्य संगतिः॥
न तु मोहोत्थचिद्बिम्बहेतुवृत्त व्यपेक्षया॥ (वही अ० ४, ब्रा० ३, वा० ४१४)
४. चिदाभासाश्रयाज्ञानात्कार्यसंगति हेतुतः।
(बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ४१६)
५. 'आसमन्ताद्भासत इत्याभासः चैतन्यं तेन सह वर्तते इति तथा, चैतन्याधिष्ठितमित्यर्थः।'
(पंचीकरणवार्तिकविवरण पर रामतीर्थ कृत तत्त्वचन्द्रिका, पृ० ३३)

प्रतियोगी चित् तथा अनुयोग अज्ञान-इन दोनों से जन्य होने के कारण प्रतियोग्यनुयोग्यु-भयोपादानक होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रतियोगी रूप से कारणाभास का जनक चित् है तथा अनुयोगी रूप से कारणाभास का जनक अज्ञान है। प्रतियोगित्वेन कारणाभास की जनकता से ब्रह्म की निर्धमकता का कोई विरोध नहीं क्योंकि ब्रह्म अपने तुरीय रूप में तादृश प्रतियोगित्वोपलक्षित रहता है।

(२) कार्याभास—अज्ञानज वस्तु-व्रात में प्रतिफलित आभास को कार्याभास कहा गया है। नैष्कर्म्य सिद्धि[1] में सुरेश्वराचार्य ने कार्याभास का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

'यश्चायं क्रियाकारकफलात्मक आभास ईषदपि परमार्थवस्तु न स्पृशति तस्य मोहमात्रोपादानत्वात्।'

उपर्युक्त पंक्ति से यह स्पष्ट होता है कि क्रिया, कारक एवं फल रूप कार्याभास का उपादान (कारण) अज्ञान है। कारणचिदाभासविशिष्टाज्ञानोपादानक होने के कारण कार्य चिदाभास से आत्मवस्तु का वस्तुतः किंचित् संस्पर्श संभव नहीं। इस कार्याभास को अविद्या का परिणाम भी कहा जाता है।[2] सूक्ष्मतमादि से स्थूलतमान्त समस्त जगत् कार्याभास प्रोद्भासित होने के कारण कार्याभास-व्यवदेश्य है। यद्यपि कार्याभास को अचेतनाभास-इस अपर पर्याय से अभिहित कर आचार्य सुरेश्वर ने अनात्मरूप कहा है[3] तथापि अनात्मरूप कहने का अभिप्राय इसे आत्मा से व्यतिरिक्त बतलाना है न कि जड़ पदार्थों से अविलक्षण मानना क्योंकि यह जड़ पदार्थों का प्रोद्भासक है और न कि उनके समान पर-प्रोद्भास्य है। विश्वरूप होने के कारण कार्याभास की अनेकता सम्मत है।[4] अज्ञानोपादानक होने के कारण सर्वाभिमान का हेतु है। कार्याभास का आश्रय कारणाभास के समान अविद्या नहीं प्रत्युत् अविद्या-विजृम्भित अंतःकरणादि है।

कारणाभास तथा कार्याभास का अन्तर एवं संबंध

यद्यपि सुरेश्वर प्रतिष्ठापित आभास-प्रस्थान में कारणाभास या कार्याभास किसी को आत्मा की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उन्होंने आत्मा और

---

१. नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ० २ पृ० ६७।

२. परिणामो हि मोहादेश्चिदाभासः सदेष्यते॥
परिणामान्तरप्राप्तिस्तस्यापीति न युज्यते॥
(बृ० उ० भा० वा०-अ० ४, ब्रा० ३, वा० ३६४)

३. वही–अ० २, ब्रा० ४, वा० ४२४।

४. वही–अ० १ ब्रा० २ वा० १५७; ब्रा० ४ वा० १३२८; अ० २ ब्रा० ४ वा० ४२५ तथा अ० ३, ब्रा० ४, वा० १०५।

अनात्मा—दो ही पदार्थ निर्वारित किया है,[1] तथापि उपर्युक्त आभास-द्वयसंबंधित स्वरूपानुशीलन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि कारण चिदाभास प्राथमिक तथा नान्तरीयक चिदाभास है और कार्य चिदाभास पश्चाद्भाविक और व्यवहित है। कारणाभास अज्ञानगत होता है तथा कार्याभास वस्तुगत होता है। एक का उपादान चैतन्य है, दूसरे का उपादान अज्ञान। एक चैतन्यस्वभावानुरोधी तथा दूसरा मोहाद्युपाध्यनुरोधी है। अतएव कारण चिदाभास को चेतनाभास तथा कार्य-चिदाभास को अचेतनाभास भी कहा जाता है। एक आत्मरूप है, दूसरा अनात्मरूप। कारण चिदाभास की आत्मरूपता का तात्पर्य सत् और चित्स्वरूप आत्मा के अनुकारी होने के कारण अज्ञानादि पदार्थों में सत्ता-स्फूर्ति-प्रदत्त है। उसी प्रकार कार्याभास की अनात्मरूपता का अभिप्राय अज्ञान-स्वरूप होने के कारण संसार के पदार्थों में सुख-दुःख-मोहादि हेतुत्वापादकत्व है। सुरेश्वर के ग्रन्थों के परिशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि कारणाभास क्रिया-कारक-फलात्मक कार्याभास की कारणता का एक सहायक तत्व है। कारण चिदाभास और कार्य चिदाभास रूप में आभास द्वैविध्य के वर्णन से यह नहीं कहा जा सकता कि आभास के ये दो भेद हैं क्योंकि एक ही चिदाभास जब अज्ञान में आभासित होता है तब उसे कारणाभास कहते हैं। और जब अज्ञान के कार्यों में प्रतिफलित होता है तब उसे कार्याभास कहते हैं।

आभास की उपयोगिता:—

१. अनात्मवस्तु सिद्धि आभास निबंधन है:—आत्म व्यतिरिक्त समस्त अनात्म पदार्थों के स्वरूप की निष्पत्ति तथा सिद्धि आभास के द्वारा होती है। जगत् की कारणतादि की प्रयोजिका अविद्या से लेकर तत्कार्यभूत स्थावरान्त जगत्- इन सबके सत्ता लाभ एवं स्फुरण का कारण आत्म ज्योति या आभास है।[2] जिस प्रकार स्वतः जाड्य एवं मौढ्यविशिष्ट अविद्या[3] का वैश्वरूपात्मक प्रथन असंभव है उसी प्रकार तदुद्भूत भूत समूहों का आत्मरूप से अवभासन भी असंभव है क्योंकि जो वस्तु स्वतः सत्ता एवं स्फूर्ति से विरहित है वह न तो प्रपंच-विकल्पना कर सकती है और न आत्मरूप प्रतीत हो सकती

---

१. 'इह च पदार्थ द्वयं निर्वारितमात्मानात्मा।

(नै० सि० अ० ३ पृ० १०४)

२. ध्वान्तादि विषयान्तोऽर्थोजडत्वान्नात्म सिद्धिकृत्।

आत्म ज्योतिरभावेऽतो नाभावमपि विन्दति ॥(बृ०उ०भा०वा०-अ०४,ब्रा०३ वा०५६)

३. 'न च जाड्यातिरेकेण ह्यविद्या काचिदिष्यते' (वही-अ० १,ब्रा० ४,वा० २५६)

है। इसीलिए सुरेश्वर ने अज्ञान [1] तथा अज्ञान समुद्भूत-भूतजात[2] की स्वरूप सिद्धि का हेतु चित्प्रसाद अर्थात् चिदाभास को बताया है। आभास व्याप्त वस्तु अर्थात् आभासी का आभास-व्यतिरिक्त कोई सत्त्व नहीं होता [3] क्योंकि आभास उपाधि को उसी प्रकार सर्वावयव व्याप्त कर लेता है जैसे घटादि आकाश को व्याप्त कर लेते हैं।[4] चिदाभासाक्रान्त अज्ञान अथवा अज्ञानादित्रय-(अज्ञान, संशयज्ञान तथा मिथ्याज्ञान) की आभासीतिरिक्त सत्ता नहीं होती इसीलिए सुरेश्वराचार्य ने इन सभी को आभास कहा है।[5] प्रभा[6] प्रत्यक्ष[7], लिंग[8], आगमादि[9], प्रमाण[10], त्रिविध शरीर[11], मोह-कार्यनीड,[12] घट,[13], धूम[14] तथा रूपादि विषय[15] अर्थात् सम्पूर्ण अनात्म वस्तु आभास सिद्ध हो आभास बन जाती हैं।

---

१. 'यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम्। (वही-अ० ४, ब्रा,०३, वा० ७४) तथा 'चिदाभासैकमात्रेण तमः सिद्धिर्न मातृतः। (वही-अ०३, ब्रा०४,वा० १०५)

२. चैतन्याभासवत्प्रत्यङ् मोहान्तात्प्रत्यनात्मनः।
बुद्ध्यादेर्विषयान्तस्य सिद्धिः स्यात्साक्षिणस्ततः॥ (वही-अ०४,ब्रा०३,वा०३५६)तथा
आत्माभासैक संसिद्धेस्तदज्ञान समुद्भवम्॥
आत्मैव भण्यते मोहात्तदात्मा व्यतिरेकतः॥ (वही-अ०१, ब्रा०४, वा०२३)

३. 'न चाऽऽभासस्याभासिनोऽन्यत्र सत्त्वम्।' (बृ० उ० भा० वा० अ०१, ब्रा०४, वा० ५०८, पृ० ५३६)

४. विषयः प्रत्यगात्मा च स्वाभासे न विशेद्द्वयम्।
स्वाभावात्स्वयं साक्षा द्वियत्कुम्भादिगं यथा॥(बृ० उ० भा० वा०-अ०४,ब्रा०३वा० ९४)

५. 'चिदाभासं तमो ज्ञेयं नाज्ञासिषमितीक्षणात्' (वही अ० १,ब्रा०४,वा० ३४१)
अज्ञानादि त्रयं प्रत्यगाभासं यद्यपीष्यते। (वही अ० ३, ब्रा०३, वा०४१) तथा कूटस्थात्मचिदाभेऽस्य प्रत्यग्ध्वान्ते हितद्भवैः॥ विषयान्तैर्मवेद्भ्रान्तिः समानाधिकरण्यतः (वही अ० ४, ब्रा०३ बा० ३९२)

६. वही -अ० १ ब्रा० ४ वा० २७२, ८७४, १०५६; अ० २ ब्रा० १ बा० ५५२, तथा ब्रा० ४ वा० १२४।

७. वही- अ०१, ब्रा० ४, वा०५५९।

८. वही-अ० ४, ब्रा०३, वा० ६७२।

९. वही-अ० १, ब्रा०३,वा० ६९।

१०. वही-अ०१,ब्रा० ४,वा० १३२८।

११. वही-अ०१ ब्रा० २ वा० १५७।

१२. वही.-अ० १, ब्रा० ४ वा० ३७४।

१३. वही अ०४, ब्रा० ३ वा० ४७२।

१४. संबंध वार्तिक—वा० ८९७।

१५. बृ० उ० भा०वा०—अ० ३ ब्रा०४ वा० १४९।

(२) आभास कारणता का एक तत्त्व है:—

आभासवादी आचार्य सुरेश्वराभिमत आभास के सिद्धान्त से ईशादि-विषयान्त जगत् की दुखबोध कारणता की समस्या का सामाधान प्राप्त हो जाता है। निष्प्रपंच, निर्विकार, निर्गुण, निरंश, निष्कल, सत्यज्ञान, अनन्त, ब्रह्म जगत् का स्वतः कारण नहीं हो सकता। 'जड़ अविद्या भी स्वयमेव जगत् के कारणत्व की प्रयोजिका नहीं बन सकती। अद्वैत वेदान्त में अविद्यावष्टम्भपूर्वक ब्रह्म को जगत् का कारण माना गया है। जड़ अविद्या का निष्क्रिय ब्रह्म कैसे अवष्टम्भ करे ? यह अद्वैतनय के समक्ष एक जटिल प्रश्न था। सुरेश्वराचार्य अद्वैत वेदान्त के प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने अज्ञान तथा ब्रह्म के आविद्यक सम्बन्ध की सिद्धि के लिए आभासरूप वर्त्म[1] की कल्पना की। इस आभास-वर्त्म के द्वारा चित् का अज्ञान से सम्बन्ध हो सका चिदाभास व्याप्त अज्ञान के समुपाश्रयण[2] से ब्रह्म को जगत् का परम कारण माना जा सका।[3]

(३) आभास की सहायता से आत्मा का विषय-प्रकाशन

दृश्यमान बुद्धयादि स्थावरान्त जगत् क्यों प्रकाशित हो रहा है जबकि इसका प्रकाशन न तो सर्वप्रवृत्तिहीन, कार्यकारणातीत ब्रह्म कर सकता है और न तिमिर तथा मोहादिक पदाभिलप्यमान अविद्या कर सकती है। इस जटिल समस्या को भी सुरेश्वर ने आभास के अंगीकरण से समाहित किया है। उनका स्पष्ट कथन है कि आत्मा स्वाभाससाचिव्य से बुद्धयादि विषयों का प्रकाशन करता है।[4]

जगत्कारणता-विचार :—

वेदान्त सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।१) के अनुसार ब्रह्म जगदुत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है, किन्तु कार्यकारणातीत, परांग, निधर्मक और निर्विशेष होने के

---

१. बृ० उ० भा० वार्तिक अ० १, ब्रा० २, वा० १२७, अ० ३, ब्रा० ४, वा० ६०, अ० ३, ब्रा० ८, वा० १२८, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ३५२, ३८४, ३६८, १००४ तथा १३७७।

२. वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ३७१।

३. वही 'सर्वामुपनिषत्सैव कारणं नान्यदात्मनः श्रूयतेऽतः परात्मैव जगतः कारणं परम्॥ (अ० २, ब्रा० १, वा० ३६५)

४. वही-आत्मा स्वाभास सचिवोविषयमिच्छादि रूपिणीम्॥ अनुगृह्णाति कर्मोत्थां प्रत्यगज्ञानकारणात्॥ (अ० ४, ब्रा० ३, वा० १८६) मान्यादिदतो बुद्धि स्वाभासैकसहायवान्॥ अनुगृह्णाति कूटस्थः स्वात्माविद्यानुरोधतः। (अ० ४, ब्रा० ३, वा० ८६) तथा 'मनः करणसंबन्धाद्देह्यस्योपजायते॥ एवमाभासय त्यात्मा कृत्स्नं कार्यं सकारणम्॥ (अ० ४, ब्रा० ३, वा० ३६१)

कारण ब्रह्म की कारणता अज्ञानपाश्रयग के बिना संभव नही।[1] ब्रह्म की जगत्कारणता का स्वरूप क्या है ? इस विषय में सभी अद्वैतवेदान्त के आचार्यों का ऐकमत्य नहीं है। कुछ आचार्य ब्रह्म का विवर्तोपादानत्व मानते हैं, कुछ अभिन्ननिमित्तोपादानत्व मानते हैं, कुछ ईश्वरकारणत्व मानते हैं और कुछ जीव का जगदुपादानत्व।

पंचपादिका-विवरण के पंचम वर्णक में प्रकाशात्ममुनि ने अनिर्वचनीय मायाविशिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान है—यह सिद्ध करके माया विशिष्ट ब्रह्म की जगददुपादानता के विषय में अचार्यों के त्रिविध मत[2] का उपन्यास किया है (१) जैसे रज्जु के प्रति संयुक्त दो सूत्र कारण हैं, वैसे ही माया विशिष्ट ब्रह्म कारण है और माया भी विशेषण रूप से कारण है, अथवा (२) देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्, इत्यादि श्रुति के अनुसार माया शक्ति से युक्त ब्रह्म कारण है, अथवा (३) जगत् की उपादानभूत माया के आश्रय रूप से ब्रह्म कारण है। इन त्रिविध पक्षों का विश्लेषण करते हुए उनका कहना है[3] कि यद्यपि विशिष्ट (प्रथम) पक्ष में ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण रूप जगत्कारणत्व मायागत होता है तथापि ब्रह्म को माया से निष्कृष्ट कर लेने पर इससे और ज्ञानानन्दादि स्वरूप लक्षण अर्थात् दोनों से विशुद्ध ब्रह्म की सिद्धि होती है। द्वितीय तथा तृतीय पक्ष में जैसे अंशु (तन्तु के अवयव) के अधीन तन्तु से आरब्ध पट अंशुतन्त्र होता है, वैसे ही ब्रह्म परतन्त्र माया का कार्य भी ब्रह्म परतन्त्र होगा। अतएव उत्पद्यमान कार्य का जो आश्रयोपाधि (अज्ञान सत्त का हेतु) ज्ञान और-आनंद लक्षण हैं, वह ब्रह्म है, ऐसा सिद्ध होगा। सप्तम वर्णक में भी प्रकाशात्मन् ने सर्व ब्रह्म की निमित्तोनादानता सिद्ध की है तथा जगत्कारणता के विषय में ब्रह्म सिद्धिकार तथा इष्टसिद्धिकारादि के मतों का उल्लेख किया है।[4]

---

१. बृ० उ० भा० वा०-अ०१ ब्रा० ४वा० ३७१।

२. त्रैविध्यमत्र संभवति—'रज्ज्वाः संयुक्तसूत्रद्वयवन्मायाविशिष्टं ब्रह्म जगत्कारणमिति वा 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्' इति श्रुतेः मायाशक्तिमत्, ब्रह्म कारणमिति वा, जगदुपादानमाया-श्रयतया ब्रह्मकारणमिति वेति। (पंचपादिका विवरण, पंचम वर्णक, पृ० ६५२)

३. वही, पृ० ६५३।

४. पंचपानिकाविवरणम्, सप्तम वर्णक तथा चित्सुखकृत पंचपादिका विवरणव्याख्या, पृ० ६६३।

प्रकाशात्मन् के द्वारा पंचम वर्णक में उल्लिखित कारणता त्रैविध्य का विश्लेषण भारती तीर्थ ने अपने विवरण प्रमेय संग्रह में इस प्रकार किया है।[१] संयुक्त सूत्र द्वय वाले पक्ष में माया और ब्रह्म दोनों समप्रधान भाव से जगत् के उपादान हैं क्योंकि जगत् की सत्ता एवं स्फूर्त्ति अंश में ब्रह्म का उपयोग है और जगत् के जाड्य तथा विकारांश में माया का उपयोग है। द्वितीय अर्थात् शक्तिमत् ब्रह्म की कारणता में मायाख्या शक्ति ही साक्षात् जगदुपादान है, यद्यपि शक्ति नियमतः शक्तिमत् की परतन्त्र होती है अतः शक्तिमत् ब्रह्म में भी जगत् की उपादानता अर्थाक्षिप्त हो जायगी। तृतीय पक्ष में भी यद्यपि माया की ही साक्षादुपादानता है तथापि आरोपित माया का अधिष्ठान-ब्रह्मस्वरूप व्यतिरिक्त स्वरूपान्तर नहीं स्वीकृत हो सकता। अतः माया की अधिष्ठानता के कारण ब्रह्म की उपादानता आ ही जाती है। यहाँ इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि तीनों पक्षों में विशुद्ध ब्रह्म की उपादानता औपचारिक ही है।[२]

उपर्युक्त पंचम वर्णक के कारणता-त्रैविध्य के मतभेद का विवेचन, मधुसूदन परवर्ती अन्य वेदान्तियों ने भी किया, जिसका सारांश हमें मधुसूदन सरस्वती के 'अद्वैतरत्न-रक्षणम्' में इस प्रकार प्राप्त होता है।[३] माया विशिष्ट ब्रह्म के जगत्कारणत्वरूप प्रथम पक्ष में ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण होगा तथा ब्रह्म और माया दोनों की उपादान-कारणता होगी। मायाशक्तिमत् ब्रह्म की जगत्कारणता रूप द्वितीय पक्ष में ब्रह्म की प्रधान तथा माया की उपसर्जन कारणता होगी तथा अन्तिम अर्थात् जगदुपादान माया व्यापाश्रित ब्रह्म की कारणता मानने वाले पक्ष में उपादान कारणता केवल माया की होगी और ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान होगा।

इन पक्षों में से प्रथम पक्ष सुरेश्वराचार्याभिमत है, यह सुरेश्वर सम्मत कारणता-निरूपण के प्रसंग में स्पष्ट किया जायगा। द्वितीय पक्ष विवरणकार का हो सकता है। तृतीय पक्ष जिस किसी का भी हो, बाद में यह 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' के रच-यिता प्रकाशानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[४]

---

१. विवरण प्रमेयसंग्रहः पंचम वर्णक, पृ० २६३-२६४।

२. 'पक्षत्रयेऽपि विशुद्धब्रह्मणः औपचारिकत्वमेवोपादानत्वम्।' (वही, पृ० २६४)

३. 'तत्र प्रथम पक्षे ब्रह्मणोनिमित्तत्वम्, उपादानत्वं तु द्वयस्यैव। द्वितीय पक्षे तु ब्रह्मणः प्राधान्यं मायायाश्चोपसर्जनत्वम्। तृतीयपक्षे तु उपादानत्वं मायाया एवं, ब्रह्मणस्तु तदधिष्ठानत्वमिति, विवेचितंवृद्धैरिति॥ (अद्वैतरत्न रक्षणम्, पृ० ४३)

४. सिद्धान्तमुक्तावलीकृतस्तु—मायाशक्तिरेवोपादानं न ब्रह्म 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनवरम-बाह्यम्' 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यादि श्रुतेः। जगदुपादानमायाधिष्ठान-त्वेन उपचारादुपादानम्, तादृशमेवोपादानत्वं लक्षणे विवक्षितमित्याहुः।' (सिद्धान्तलेशसंग्रहः) प्रथम परिच्छेद, पृ० ८०।

ब्रह्मानन्द ने भी अद्वैत सिद्धि की व्याख्या में प्रमुख आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है।[1] प्रथम मत के अनुसार अज्ञानोपहित बिम्ब चैतन्य ईश्वर है तथा अंत:करण और उसके संस्कार से अवच्छिन्न अज्ञान प्रतिबिम्ब चैतन्य जीव है। इस मत में ईश्वर रूप बिम्ब तथा जीव रूप प्रतिबिम्ब इन दोनों में अनुगत शुद्ध चैतन्य साक्षिपद वाच्य होता है और शुद्धचित् जगत् का उपादान कारण है। दूसरा पक्ष अज्ञान प्रतिबिम्ब चैतन्य को ईश्वर तथा बुद्धिप्रतिबिम्ब चैतन्य को जीव मानता है। इस मत के अनुसार अविद्या बिम्बत्वोपहित चित् जगत का साक्षि तथा उपादान कारण है। यह दोनों मत क्रमश: विवरणकार एवं संक्षेप-शारीरिककार के नाम से उल्लिखित किए गये हैं। इसी संदर्भ में आभासवादी आचार्य सुरेश्वर का मत भी निर्दिष्ट है, जिसके अनुसार अविद्यागत चिदाभास ईश्वर है तथा अन्त:करणगत चिदाभास जीव है। इस आभास पक्ष के अनुसार जगत् का उपादान कारण ईश्वर है। उपर्युक्त त्रिविध मतों को प्रतिबिम्बवाद तथा आभासवाद से संबंधित कहा जाता है। इन मतों के अतिरिक्त अवच्छेद प्रस्थान से संबंधित चतुर्थ मत सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र का है। इस मत के अनुसार अज्ञान विषयीभूत चैतन्य ईश्वर है तथा अज्ञानाश्रयी भूत चैतन्य जीव है एवं अविद्या विषयत्वोपहित ईश्वर में तादात्म्य रूप से अनुगत स्वाज्ञानोपहित जीव ही जगत् का उपादान कारण है।

सिद्धान्तलेश संग्रह[2] में भी इन मतों का प्रपंचन किया गया है जो ब्रह्मानन्द द्वारा प्रस्तुत विश्लेषणों से आपातत: किंचित् वैशिष्ट्य रखते हैं। विवरणानुसारी आचार्यों के अनुसार माया शबल अर्थात् माया रूप उपाधि से विशिष्ट सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्वाद्युपेत ईश्वर रूप ब्रह्म जगत् के प्रति उपादान है। संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि के अनुसार शुद्ध ब्रह्म जगत् का उपादान है। इस पक्ष का विशद विवेचन सर्वज्ञात्मसम्मत प्रतिबिम्ब-आभास-समन्वयात्मक अध्याय में किया जायगा। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि जीवाश्रित माया से विषयीकृत ब्रह्म ही स्वत: जाड्य का आश्रयीभूत अर्थात् जड़ प्रपंच के आकार से विवर्तत्वेन उपादान है, अत: माया की सहकारि कारणता मात्र है, कार्यानुगत द्वार-कारणता नहीं।

जगत् की कारणता के विषय में सुरेश्वर का मत-आभास, अज्ञान और शुद्ध ब्रह्म त्रितय पर्याप्त कारणता

ब्रह्मानन्द के द्वारा उपन्यस्त सुरेश्वराचार्य के मत का निर्देश ऊपर किया गया।

---

१. ब्रह्मानन्दी (अद्वैतसिद्धिव्याख्या) पृ० ४८३, पंक्ति १३–१६ तथा सिद्धान्तबिन्दु: पृ० ६८।

२. सिद्धान्तलेशसंग्रह:, प्रथम परिच्छेद, पृ० ६३ तथा ७७-८६।

उनके ग्रन्थों की पर्यालोचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि वह आभास, अज्ञान और शुद्ध ब्रह्म त्रितय पर्याप्त कारणतावादी थे। यद्यपि प्रत्यक्प्रवणा दृष्टि से अविद्या तिमिरातीत, सर्वाभासविवर्जित, अमल, शुद्ध तथा मन और वाणी से अगोचर ब्रह्म[1] का कारणत्व कटाक्ष मात्र से नहीं देखा जा सकता[2] तथापि श्रुत्यादि में उपवर्णित कारणता के अनुरोध से आभास विशिष्ट अज्ञान शबल ब्रह्म की कारणता स्वीकार करनी पड़ती है।[3] ब्रह्म निष्क्रिय, निष्प्रपंच तथा निष्प्रदेश है और माया मौढ्य-मान्य-जाड्य-लक्षणा है। अतः न इन दोनों में क्रियाशीलता बन सकती है और न इन दोनों का योग ही बन सकेगा। फिर कारणता की उपपत्ति कैसे हो? एतदर्थ सुरेश्वराचार्य चिदाभासरूप तृतीय तत्त्व की कल्पना करते हैं। यह तत्त्व यद्यपि चिल्लक्षणविरहित है तथापि चिद्वत् अवभासमान हो न केवल अज्ञान तथा तद्विकल्पित वस्तु-व्रात के अन्तर्गत सत्ता एवं स्फूर्ति का ही संचार करता है अपितु चित् एवं अज्ञान को ग्रथित भी कर देता है। आभास के कारण अविद्या-ग्रथित अशरीर भी परमात्मा जगत्कारणत्व का निर्वाहक हो जाता है।[4] उनका स्पष्ट कथन है कि केवल ब्रह्म और अज्ञान-यही दो जगत् के कारण नहीं किन्तु (१) कूटस्थ ब्रह्म (२) प्रत्यङ् मोह तथा (३) चिदाभास-ये तीनों कारण हैं।[5] चिदाभास और अज्ञान-यह दोनों मिलकर जगत् के उपादान कारण हैं और ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण होते हुए भी आभासविशिष्ट अज्ञान से

---

१. पंचीकरणवार्तिक, वा० ६१।

२. कूटस्थात्मानुरोधित्वात्तावन्मात्रात्मकत्वतः।
न कार्यं कारणं चातः कटाक्षेणापि वीक्षते। (बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ३ वा० १३२१) तथा अध्याय १, ब्रा० ४, वा० ६२५ और १७८८।

३. सर्वामूर्तनिपतस्त्वेवं कारणं नान्यदात्मनः श्रूयतेऽतः परात्मैव जगतः कारणं परम्॥
(बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० १ वा० ३६५)
अविज्ञातं परं तत्त्वं जनिमत्कारणं श्रुतौ।
तेन तेनात्मकार्येण स्वात्माभासतमोवृधिः॥
विशिष्टः समृजे विष्णुस्तेजोवन्नादिमायया॥
(बृ० उ० भा० वा०; अ० १, ब्रा० ४, वा० १५-१६)

४. अविद्या-ग्रथितः सोऽयं परमात्माऽशरीरतः।
कर्त्ता भोक्तेव चाभाति..................॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ३ वा० १५६६)

५. कूटस्थ दृष्टितन्मोहौ दृष्ट्याभासश्च तत्त्रयम्॥
कारणं जगतः साक्षी नियन्तेति च मण्यते॥ (वही—अ० ३, ब्रा० ४, वा० ८६)

समन्वित होकर जगत् का उपादान कारण हो जाता है।[1] कहने का आशय यह है कि चिदाभासाक्रान्त अज्ञान के समुपाश्रयण से ब्रह्म जगत् का परम कारण माना जाता है। यद्यपि वृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्त्तिक में ऐसे वार्त्तिक[2] भी उपलब्ध होते हैं जो अविद्यावत् चित्तत्व की कारणता का निर्देश करते हैं किन्तु ऐसे वार्त्तिकों का यह आशय नहीं निकाला जा सकता कि 'सुरेश्वराचार्य को अज्ञान और ब्रह्म इन दोनों की ही कारणता अभीष्ट है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर उनकी वह मौलिकता व्याहत हो जायगी जो अविद्या को चिदाभास व्याप्त[3] सदैव बताती है। अविद्या, आभास और ब्रह्म त्रितय पर्याप्त कारणता सुरेश्वर-सम्मत है—इस तथ्य की पुष्टि निम्नोद्धृत कतिपय वार्त्तिकों से भी की जा सकती है—

> चिदाभासं स्वमज्ञानं संनिपत्य तदक्षरम्।
> कारणं सत्स्वकार्येषु नियन्तृत्वं प्रपद्यते ॥[4]
> प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभासं स्वकार्यनियतात्मकम्।
> तदुपाधिर्नियन्तैष पर प्रोक्तो न तु स्वतः ॥[5]
> स्वाभासवर्त्मनैवेतत्स्वात्माऽज्ञानज भूमिषु।
> इतं बहुत्वमेकं सद्वियद्यद्वदघटादिषु ॥[6]

अविद्या :

अद्वैन्त वेदान्त के पारमार्थिक सत्य पर ब्रह्म का स्वरूप अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद इन सभी प्रस्थानों में एक है। शंकराचार्य के परमगुरु गौड़-

---

१. अस्यदवैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् ॥
अज्ञानं समुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥ (वही अ० १, ब्रा० ४ वा० ३७१) तथा
एवंसंसरतस्तावत्परं ब्रह्म परायणम् ॥
जगतश्चाप्युपादानं स्वात्मा विद्यासमन्वयात् ॥ (वही—अ० ३, ब्रा०६ वा० १६०)

२. चित्तत्वं सदविद्यावत्कारणत्वं निगच्छति। चित्सामान्याद्यतः सिद्धं प्रागप्येतत्समीरितम् ॥ (वृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ५, वा० ८; अ० १, ब्रा० २ वा० १२८, १३०। ब्रा० ४ वा० १७, १०२ तथा १७८८, अ० २, ब्रा० १, वा० २१८, ब्रा० ३, वा० ७; अ० ३ ब्रा० ८, वा० १७८, तथा अ० ४ ब्रा० ३ वा० ३८३।

३. वही—अ० १, ब्रा० ४ वा० ८३४।

४. वृ० उ० भा० वा० अ० ३ ब्रा० ९ वा० ३।

५. वही-अ० ३ ब्रा० ७ वा० ४३।

६. वही-अ० १ब्रा० २ वा० १२७।

पाद से लेकर अद्यतन वर्तमान श्रुत्यन्तवेत्ताओं को भी इस संबंध में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है कि यह सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म अक्रिय[1], अकर्त्ता[2], अकारक,[3] अविकारी[4], अविक्रिय,[5] अव्यय,[6] अमृत,[7] अफल,[8] असुप्त,[9] अकर्म,[10] अहेतु,[11] अद्वय[12] असंग,[13] असंहत,[14] आत्मकाम,[15] अमात्राद्यगोचर[16] आत्मप्रत्यय-गम्य,[17] निष्क्रिय[18], निर्गुण,[19] नियि,[20] रिसंग,[21] परमात्मा,[22] प्रत्यगात्मा,[23] परमात्मा,[24]

---

१. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० १००० तथा ११४६ । २. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ६१२ ।
३. वही-अ० २ ब्रा० १ वा० १०७; अ० ४ ब्रा० ३ वा० ४२०, ८८१, ६६४ तथा १४८६ ।
४. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ६८४ ।
५. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० १२३२ । ६. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ६४१ ।
७. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ६४१ ।
८. वही अ० ४ ब्रा० ३ वा० ४२० तथा ८८१ ।
९. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ६३१ ।
१०. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ६३१ ।
११. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ६३१ ।
१२. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ६३७, ११५२ ११८१, १४८६, तथा १५०६ ।
१३. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० १००१ तथा १४०८ ।
१४. वही-अ० ४ ब्रा ३ वा० १०४ तथा ६१२ ।
१५. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० १३३६ तथा १३४४ ।
१६. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० १८६ ।
१७. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ४२० तथा अ० ४ ब्रा० ४ वा० ३४८ ।
१८. वही-अ० ३, ब्रा० ४ वा० १०२, : अ० ४ ब्रा० ३ वा० ४२०, ८८१, ६४२ तथा १२५२ ।
१९. वही-अ० २ ब्रा० ३ वा० ११६ तथा अ० ४ ब्रा० ३ वा० ६१२ ।
२०. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ३४८ तथा १५५७ ।
२१. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० १०२५ तथा १०७४ ।
२२. वही-अ० १ ब्रा० ४ वा० ५१६ अ० ३ ब्रा० २ वा० ८६, अ० ४, ब्रा० ३ वा० ३२० तथा अ० २ ब्रा० १ वा० ३६५ ।
२३. वही-अ० १ ब्रा० ४ वा० १४०० तथा १६६५ अ० ४ ब्रा० ३ वा० ६४, १४५, ४०८, ४१३, ४२१, ६०४, ६८०, ११०६, ११७३, ११८०, ११६२, १२२३, १२६० तथा १२७६ ।
२४. वही- १४। १२७८, ४।३। ११५१, ११८१, १५६६ ।

कूटस्थ,[१] जिति,[२] चेतन[३] चैतन्य,[४] स्वयंज्योति,[५] स्वयं-प्रमाण[६] स्वतः-सिद्ध,[७] विषय विलक्षण[८] अव्यावृत्ताननुगत,[९] देशान्तराद्यसंबद्ध[१०], दृष्टि- मात्र स्वभाव,[११] शब्दादिगुणहीन[१२] तथा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त[१३]स्वभावादि विशेषणों से उपलक्षित है। अतः इन्हीं विशेषणों से उपलक्ष्यमाण परमतत्त्व का स्वरूपोपपादन पिष्टपेषण समझ कर नहीं किया जाता। उपर्युक्त अक्रियादि स्वरूप ब्रह्म आभास-विशिष्ट अज्ञान के कारण जगत्कर्त्ता सिद्ध होता है अतः आभास-पक्षानुमोदित अज्ञान के स्वरूप का निरूपण किया जाता है।

---

१. अ० १ ब्रा० ४ वा० ३७८ तथा १२३६, अ० ४ ब्रा०३ वा० ६१, ६८, १८८, ३४६, ३५२, ३८२, ३८४, ३९२, ४०८, ४०९, ४१२, ४१३, ४१५, ५३०, ५६२, ७१५, ८८७, १०२६, १०४५, १३२१, १४४१, १४४२, १५६८, १६३० तथा अ० ४ ब्रा०४ वा० ६३७।

२. वही- अ० ४ ब्रा०३ वा० ११९, १२१, १२३५,१२३६, १३४०, १४९३ तथा १४९६।

३. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ११४९।

४. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० ११७, २४२, ३८८, ११४५, १२२२, १३३० तथा १४०९।

५. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० १४५, १८९, ३८९, ४४६, ४५१, ८८१, ८८३, ८८४, ८८७, ८९५, ८९७, ९२९, ९४६, ९५४, ९६७, ९७४ तथा ९७३।

६. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० २९५ तथा ३४२; अ० २, ब्रा० १ वा० ८८।

७. वही-अ० ४ ब्रा०३ वा० ११०।

८. वही-अ० ४ ब्रा०३ वा० ९१२।

९. वही-अ०१ ब्रा० ४ वा० ५२९,६५६,७४५, १०७६, १२७२ तथा १४४५; अ० २ ब्रा० १, वा० ८८,३६१, ३७१; ब्रा०३ वा० २४० : ब्रा० ४ वा० ११०, ४११, ४७३; ब्रा० ५ वा० ३७; अ० ३ ब्रा० ४ वा० २०, ३८; ब्रा० ७ वा० ५५ ब्रा० ८ वा० ५२; अ० ४ ब्रा०३ वा० ३६८, १८१५; अ० ४ ब्रा० ४ वा० ५६९, ८४६, ८४७ तथा १२९८।

१०. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० १०५।

११. वही-अ० ४ ब्रा० ३ वा० १०४।

१२. वही-अ० ४ ब्रा०३ वा० १०४।

१३. वही, अ० ४ ब्रा० ३ वा० ११५७-५८ तथा अ० ४ ब्रा० ४ वा० ५३०।

अविद्या का स्वरूप

आभास-प्रस्थान-प्रतिष्ठापक बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक में सुरेश्वराचार्य ने स्थान-स्थान पर अविद्या को अविचारित संसिद[1] तथा दुःस्थित सिद्ध[2] कहा है जिससे अविद्या की अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है। अविद्या या अज्ञान न तो सत् है, न असत्, न आत्मभिन्न है, न आत्मा से अभिन्न, न विभाज्य है, न अविभाज्य और न सभाग-निर्भग उभय रूप है।[3] सुरेश्वर ने अपने ग्रंथों में अविद्या का लक्षण कई प्रकार से दिया है। एक लक्षण के अनुसार अविद्या 'अहमेवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उपलक्षित स्वरूप की असंबोधकारिणी है।[4] आत्मसाक्षात्कार की प्रतिबंध-भूता होने के कारण इसे आत्मा की अनभिव्यक्ति[5] तथा ऐकात्म्य की अप्रतिपत्ति[6] रूप में भी विवेचित किया गया है। अविद्यात्व अविद्या का प्रमुख लक्षण है और इसीलिए जब हम इसकी सिद्धि के लिए प्रमाण का आश्रयण लेते हैं या इसे प्रत्यक्प्रवणा दृष्टि से देखते हैं, तब इसका वस्तुत्वाभाव प्रसक्त होने लगता है।[7] यद्यपि वस्तुदृष्टि से अविद्या नहीं है पर अविद्या दृष्टि से इसका सद्भाव माना गया है। किसी से इसकी उत्पत्ति नहीं होती, अतएव यह निर्हेतुक[8] तथा अनादि है।[9] तिमिरादि पदवाच्य होने के कारण इसे दुःखराशि की चिरन्तनी, भ्रान्ति तथा संसार-वृक्ष का मूल भी बताया जाता

---

१. बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० ४, वा० ३३२–३३, ११७०, १३४२; अ० २, ब्रा० ३, वा० २२४; अ० ३, ब्रा० ५, वा० ४२, ७३; अ० ३ ब्रा० ८ वा० ३१; अ० ४ ब्रा० ३, वा० ३५२, ३८२, ६२१, ११११; अ० ४, ब्रा० ४ वा० ३०९, ६४६ तथा ६६८।

२. वही–अ० ४, ब्रा० २, वा० ६३।

३. पंचीकरण वार्त्तिक, वा० ४०-४१ पृ० ३४-३५।

४. 'अहमेव परं ब्रह्मेत्यस्यार्थस्याप्रबुद्धता ॥ अविद्येति वयं ब्रूमो···।' (बृ० उ० भा० वा० अ०१, ब्रा० ४, वा० ११५७)।

५. 'अज्ञानमनभिव्यक्तिः······ आत्मनः।' (वही–अ० ३, ब्रा० ३, वा० ६५)

६. 'ऐकात्म्याप्रतिपत्ति र्या ·····साऽविद्या···।'नैष्कर्म्यसिद्धिः, (अ०१, का० ८ पृ०६)

७. 'अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम् ॥ मानाघातासहिष्णुत्वम् साधारण-मिष्यते।' (सम्बन्ध वार्त्तिक, वा० १८१) तथा १७९-८०।

८. निर्हेत्वविद्याक्लृप्तौ तु दोषः कश्चिन्न विद्यते ॥ (वार्त्तिकम्, वा० १५८)

९. बृ० उ० भा० वा०–अ० ४, ब्रा० ४ वा० ६२१-२२।

है।[1] 'नञ्' पदपूर्विका अविद्या का अनादित्व विद्या का अभाव कारक नहीं प्रत्युत् विद्या-विरोधित्व या विद्या-विपरीत लक्षण से उसी प्रकार का अवस्थान है जैसे मित्र विरोधी के रूप में अमित्र की स्थिति रहती है।[2] सारांश यह है कि अज्ञान नैयायिक सम्मत ज्ञानाभाव का रूप नहीं। 'अविद्यां गमयित्वा' इत्यादि श्रुतियों का समुपाश्रयण कर अविद्या की त्रिगुणात्मिका स्वरूप का अनुपादान तथा केवल जाड्य-मौढ्य-मान्द्य रूप से अविद्या का स्वरूप-निरूपण[3] सुरेश्वराचार्य के आभास-प्रस्थान की मौलिक विशेषता है। जाड्यादि स्वरूपावलम्बिनी अविद्या स्वतः न तो आत्मा का अपह्नव कर सकती है, न आत्मा के कारणत्वादि में प्रयोजक हो सकती है न सम्पूर्ण द्वैत-प्रपंच की विकल्पना में समर्थ हो सकती है और न विश्व विमोहन में प्रवृत्त हो सकती है। पर जब चिद्वत्प्रकाशमान आभास जड़ एवम् सत्ता-स्फूर्ति-रहित अज्ञान में व्याप्त होता है तब अज्ञान में उक्त सम्पूर्ण कार्य-क्षमता आ जाती है। आभास विशिष्ट अविद्या के कारण विमुह्यमान पुमान् अविद्या के तिमिर से आच्छन्न-सा हो जाता है और अपनी वास्तविक स्थिति का बोध न कर पाने के कारण नाना दुःखों का संभाजन होता है।[4] चिदाभास से प्रोद्भासित तथा लब्ध सत्ताक[5] होने के कारण अविद्या को आभास स्वरूप[6] भी कहा गया है। अविद्या की यह आभासरूप मान्यता आभास-प्रस्थान को अवान्तर प्रतिविम्ब तथा अवच्छेद इन दोनों प्रस्थानों से पृथक् कर देती है।

अविद्या-माया-भेद-निरास

अविद्या और माया एक ही है या पृथक्-पृथक् हैं—इस विषय में अवच्छेद, प्रतिबिम्ब और आभासवाद के प्रवर्तक आचार्यों का मतैक्य नहीं। अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति मिश्र माया और अविद्या में भेद करते हैं तथा अविद्या को प्रतिजीव भिन्न

---

१. 'दुःखराशेर्विचित्रस्य सेयं भ्रान्तिश्चिरंतनी। मूलं संसारवृक्षस्य……।' (नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ०२ वा० १०३ पृ० ६५)

२. 'आत्मग्रहातिरेकेण तस्याः रूपं न विद्यते।'
अमित्रवदविद्येति सत्येवं घटते सदा॥ (तै० उ० भा० वा० वा० ७९ पृ० ८३)

३. 'न च जाड्यातिरेकेण ह्यविद्या काचिदिष्यते। अविद्यां गमयित्वेति श्रुतितोऽप्यवसीयताम्।' (बृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा०४, वा० २५६) तथा 'मौढ्यं जाड्यमविद्यास्यान्नित्यंबुद्धात्मवस्तुनः।' (वही, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ४५७)।

४. तै० उ० भा० वा०, ब्रह्मवल्ली, प्रथमखंड, वा० ६६-१२९ पृ० ८१-९२।

५. बृ० उ० भा० वा०—अ० ४ ब्रा० ३, वा० ७४ तथा अ० ३ ब्रा० ४, वा० १०५।

६. वही—अ०१ ब्रा० ४, वा० ३४१; अ० ३, ब्रा० ३, वा० ४१ तथा अ० ४, ब्रा० ३ वा० ३९२।

मानते हैं।[1] इसके विपरीत प्रतिबिम्बवादी पद्मपाद अविद्या, माया, अव्याकृत, प्रकृति, अग्रहण, तम, कारण, लय, शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, अक्षर तथा आकाश को एकार्थक मान कर अविद्या एवम् माया की एकता प्रतिपादित करते हैं।[2] पद्मपाद के समान सुरेश्वर ने भी अविद्या तथा माया में कोई अन्तर नहीं किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि माया अर्थात् अविद्या में स्वतः कोई भेद नहीं बनता।[3] उनके ग्रन्थों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह माया का प्रयोग अविद्या के अर्थ में करते हैं। वृहदारण्यक वार्तिक में जैसे 'स्वात्ममाया' के[4] कारण ब्रह्म का सष्टृत्व समर्थित है उसी प्रकार स्वात्माविद्या के समन्वय से भी समर्थित है।[5] सुरेश्वराचार्य ने जगत्कारणत्व प्रयोजक इस तत्त्व के लिए केवल अविद्या[6] और अज्ञान[7] का ही प्रचुर प्रयोग नहीं किया है अपितु मोह[8], तम[9], ध्वान्त[10], सम्मोह[11], असंबोध[12], अबोध[13], अनवबोध[14], तथा माया[15], पदों का भी प्रयोग किया है।

---

१. 'न वयं प्रधानवदविद्यां सर्वजीवेष्वेकामाचक्ष्महे, येनेवं उपालभमहि, किंत्वियं प्रतिजीवं भिद्यते ।।' (भामती, पृ० २६७, पंक्ति ४-५)

२. 'येयं श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणेषु नामरूपं-अव्याकृतं अविद्या-माया-प्रकृतिः अग्रहणम् अव्यक्तं तमः कारणं लयः शक्तिः महासुप्ति. निद्रा अक्षरम् आकाशम् इति च तत्र तत्र बहुधा गीयते।' (पंचपादिका, पृ० ९८)

३. स्वतस्त्वविद्याभेदोऽत्र मनागपि न विद्यते।' (बृ० उ० भा० वा० ४।३।१२४ तथा ४।४।५९९)

४. वही—अ० ४ ब्रा०३ वा० ९१९, ९४४ तथा ९८१। ५. वही—३।९।१९०।

६. वही–अ० १ ब्रा० ३ वा० १८८; ब्रा० ४ वा० ७६, ९६, ९७, १३४, ३१५, ४३६, ४८६, ७९२, ८९०, ८९३, १०१०, १०५५, १०८३, ११५९, ११८२, ११८३, १२०७, १३३९, १३४२, १४१३, १५४०, १४५४, १४९६, १४९३, १५०९, १५१०, १५१९, १५८०, १७४६–७४, तथा १७५८; ब्रा० ५ वा० १६५; अ० २ ब्रा० १ वा० १०, १९, २७२, तथा २७९; ब्रा० ३, वा० १३१; ब्रा० ४ वा० ५४, १९५-१९६, ४२०, ४६८, तथा ४७७-७८; ब्रा० ५, वा०१ तथा ३७; अ० ३, ब्रा० २ वा० २७, ९२ तथा ९४-९५; ब्रा० ३ वा० २३, ३९ तथा ४२; ब्रा० ४ वा० ५७; ब्रा० ९ वा० १५७; अ०४ ब्रा० ३ वा० १७, ११५१, ११७६, ११८०, १२९३, १३५४, १५३४-३५ तथा १८२६; ब्रा० ४ वा० १६६, १९९, २८७, २९१, ३५०, ३५२, ५४, ३७२-७३, ३८३, ५०३, ६१५, ८५५, ९१४-१९, ९५६, १०७७, १२८०, तथा अ० ५ ब्रा० १ वा० २१।

७. बृ० उ० भा० वा०—अ० १ ब्रा० ३ वा० ५२, ५४, ९१, १००, १०५, २२९, ३१५; ब्रा० ४ वा० २५९, २९६, ४१९, ४३८, ५९९, ९९७, ७२१, ७२८,८९२,

(क्रमशः)

अविद्या द्वैविध्य-प्रतिपादक मतद्वय

सुरेश्वराचार्य के बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक की पर्यालोचना से तत्सामयिक उन द्विविध प्रस्थानों का अवगम होता है जिसमें क्रमशः अग्रहण, मिथ्याग्रहण तथा नैसर्गिकी-आगन्तुकी के भेद से अविद्या का द्वैविध्य अंगीकृत है। कहने का अभिप्राय यह है कि कुछ वेदान्तियों ने पहले से प्रचलित अग्रहण तथा मिथ्याग्रहण—इन दो शब्दों

१०१८, ११००, १२१२, १२८१, १३०७, १३५४, १४५२, १४६०, १४६७, १६८७; अ० २ ब्रा०३, वा० १६६, २१०, ब्रा० ४ वा० १६७, २०५, २०८, २३६, ३३१; अ० ३, ब्रा० २, वा० १६; ब्रा० ३, वा० ३७, ५८, ६१-६७, १००; अ० ४ ब्रा० ३ वा० ३३६, ३६५, १११२, १३००, १५२१; ब्रा० ४, वा० २७७, ३०१, ३०२, ३२३, ३७६, ३८८, ७६५, ७७७, ८४१, ८५५, ६२२, ६२३, ६४२, ११७२, १२८१, १२८३, १३२०, १३२४, तथा अ०५ ब्रा०१ वा० २२।

८. वही—अ० १ ब्रा० ३ वा० ५६, १०२; ब्रा० ४ वा० ३१२, ३१४, ८१७, ८१६, ८२१, १०६६, १३२६, १४४८, १४५५; अ० २, ब्रा० १ वा० ३८०, ५२१; ब्रा०३ वा० २३५; ब्रा० ४ वा० २५, ४८१, ४८६; अ०३ ब्रा० ४, वा० १२६, १८१; ब्रा० ५ वा० ४८, ७७, १८७; ब्रा० ८, वा० ४८; ब्रा० ६ वा० १६२; अ० ४ ब्रा० ३ वा० १२७२, १३०७, १५३५, १८२३; ब्रा० ४ वा० २६५, ३००, ३०७, ३२३, ५६६, ७४४, तथा ८४१।

६. वही—अ० १, ब्रा० ३ वा० ८७, १८३; ब्रा० ४ वा० ७५, ७६१, ८६५, ११४२, १२६०–६१, १३०६, १३२६, १३४२, १३५६, १४१०, १४१६, १४३५, १४६५, १५०६; अ० २, ब्रा० १, वा० २७२, ५२२; ब्रा० ४ वा० १०१, १५१, १६७, २०६, २३१, २३८, २५७, ४३६-३७, ४४४; ब्रा० ५, वा० १; अ० ३, ब्रा० ३, वा० ४०, ७३, ६४; ब्रा० ४, वा० ३३, ४८, ४६; अ० ४, ब्रा० २ वा० ६८; ब्रा० ३ वा० १८२, १२८३, १३६६, १५२३, १७३३; ब्रा० ४ वा० १७७–८७, ५५२, ५६६, ६८७, ७५४, ६५३, तथा १२००।

१०. वही—अ० १, ब्रा० ४ वा० ३१४, ८६६, ११६२, १२७७, १४१३, १४३०, १४५१, १७४५; अ० २ ब्रा० ३, वा० १५७; ब्रा० ५ वा० २, ६३; अ० ३, ब्रा० ७ वा० ३६; ब्रा० ८ वा० ८०; अ० ४, ब्रा० २ वा० ८६; ब्रा० ३, वा० ३६२, १०७८; ब्रा० ४ वा० ५५२।

११. वही—अ० १ ब्रा० ४ वा० ७६५; ब्रा० ६ वा० २; अ० ४ ब्रा० ३ वा० १८२३ तथा ब्रा० ४ वा० ७८३।

१२. वही—अ० ४ ब्रा० ३ वा० १३६६ तथा १३६६।

१३. वही—अ० ३, ब्रा०८ वा० ४३ तथा अ० ४ ब्रा० ४ वा० ६५१।

१४. वही—अ० ३ ब्रा० ४ वा० १, नै० सि०–अ०१ पृ० ३, ४ तथा ५०।

१५. बृ० उ० भा० वा० अ० २ ब्रा० ५ वा० १२७।

को अविद्या के दो भेद के रूप में मान लिया है[1] और कुछ यूथ्यों ने अविद्या का नैसर्गिकी और आगन्तुकी दो भेद स्वीकार किया है।[2]

प्रथम मत का खंडन

अग्रहण तथा मिथ्याग्रहण के भेद से अविद्या द्वैविध्य वाला मत मंडन-सम्मत माना जाता है।[3] यद्यपि सुरेश्वर ने अविद्या के दो कार्यों के रूप में इनका खंडन नहीं किया है तथा नामान्तर से इन्हें संशय ज्ञान और मिथ्या ज्ञान कहा है[4] तथापि अविद्या के द्वैविध्य के रूप में इनका अंगीकार नहीं करते। अग्रहण और मिथ्याग्रहण अज्ञान के कार्य है अतः इन्हें अज्ञान से पृथक् मानना उपयुक्त नहीं। अविद्या का आश्रय और विषय एक अर्थात् प्रत्यगात्मा है तथा अग्रहण एवम् मिथ्याग्रहण के रूप में अवभासित अनात्म-वस्तु व्रात का कारण प्रत्यगज्ञानातिरिक्त कोई नहीं, अतः अविद्या का एकत्व ही सिद्ध होता है, द्वैविध्य-दुर्घट है।[5]

द्वितीय मत तथा खंडन

नैसर्गिकी तथा आगन्तुकी के भेद से अविद्या द्वैविध्य मानने वाले आचार्य कौन हैं? यह यद्यपि नहीं ज्ञात होता तथापि इस मत का प्रपंचन सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिकों[6] मे इस प्रकार किया है—'अविद्या नैसर्गिकी और आगन्तुकी इन दो भेदों वाली है। आगन्तुकी अविद्या विषय में तथा नैसर्गिकी अविद्या आत्मा में रहती है। इनमें से जो आगन्तुकी अविद्या है, वह वाक्य श्रवणकालोत्पन्न सकृत्-ज्ञान-निवर्त्य है पर नैसर्गिकी अविद्या वाक्यश्रवण समकालोत्पन्न ज्ञान से ध्वस्त अर्थात् अभिभूत होकर भी विद्यमान रहती है, क्योंकि तत्काल हमें आविद्यक रागादि का प्रत्यक्ष होता रहता है। इस नैसर्गिक अज्ञान की निवृत्ति विद्याभ्यासोत्पन्न ब्रह्म साक्षात्कार से सम्भव है। प्रस्तुत अविद्या द्वैविध्यवाद का रहस्य यह है कि एक अविद्या तत्वमस्यादि वाक्यों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान से निवृत्त होती है पर दूसरी अविद्या इस ज्ञान से अभिभूत होती है, निवृत्त नहीं। इसकी निवृत्ति के लिये 'प्रज्ञां कुर्यात्' श्रुति के द्वारा निर्दिष्ट ज्ञानाभ्यास अपेक्षित है।

---

१. आनन्दगिरि टीका– बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ४, वा० १९९।

२. नैसर्ग्यागन्तुकी चेति ह्यविद्या द्विविधा स्मृता।' बृ० उ० भा० वा०–अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८८१।

३. Lights on Vedanta, p. 96, ls. 20-23.

४. 'अज्ञानं संशयज्ञानं मिथ्याज्ञानमिति त्रिकम्। अज्ञानं कारणं तत्र कार्यत्वं परिशिष्टयोः।' (बृ० उ० भा० वा, अ० ४, ब्रा० ३, वा० १३६८)

५. वही—अ० २, ब्रा० ४ वा० १९९-२०१।

६. वही—अ० ४, ब्रा० ४, वा० ४८१-८८१।

खंडन--

इस मत का खंडन करते हुए आचार्य सुरेश्वर का कहना है[1] कि जब हम अज्ञान, संशयज्ञान और मिथ्याज्ञानात्मिका अविद्या को प्रत्यङ्मात्रस्था मान लेते हैं तब प्रत्यक् के अद्वय और निर्विशेष होने के कारण अविद्या में भी भेद की संभावना नहीं की जा सकती, अतः भ्रान्त्यादि की निदान अविद्या एक ही है। अविद्या को नैसर्गिक (स्वाभाविक)[2] माना जा सकता है, पर आगन्तुक नहीं क्योंकि आगन्तुक मानने पर अनिर्मोक्ष-प्रसक्ति होगी।[3] अविद्या द्वैविध्यवादियों का यह तर्क नहीं माना जा सकता कि ज्ञान से आगन्तुकी अविद्या की निवृत्ति होती है, नैसर्गिकी अविद्या की नहीं, क्योंकि तत्त्वमस्यादि वाक्यों से सर्वज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान की प्रसूति होते ही सम्पूर्ण अज्ञान की अपनुत्ति तथा ज्ञेय कार्य की समाप्ति हो जाती है।[4] जब सकृदुत्पन्न ज्ञान से अशेष फल की प्राप्ति हो जाती है फिर साक्षात्कारार्थ विज्ञान के अभ्यास का प्रश्न ही नहीं उठता।

अविद्या का आश्रय तथा विषय

अविद्या के स्वरूपादि के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो चुका है कि अविद्या पारमार्थिक सत्य न होने पर भी व्यवहारतः अनादि तथा व्यावहारिक प्रपंच की बीज है। संसार के समस्त पदार्थ आश्रय-विषय सापेक्ष होते हैं, अतः यह एक स्वाभाविक प्रश्न है कि अविद्या का आश्रय और विषय क्या है? अवच्छेद-प्रस्थान-प्रतिष्ठापक वाचस्पति मिश्र

---

१. 'यदाऽसाधारणाऽविद्या प्रत्यगात्मैक गोचरा ।।
अज्ञानाद्यात्मिका सिद्धा द्वैविध्यं स्यात्तदा कुतः ।।

(बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८६२)

२. 'स्वाभाविक्यप्यविज्ञेयमनुभूत्या वभासिता ।
तमः सूर्योदयेनेव ज्ञानेनोत्कृत्य नाश्यते ।।'

(सम्बन्ध वार्त्तिक, वा० १०८८)

३. 'आगन्तु चेदिहाज्ञानमनिर्मोक्षं प्रसज्यते ।'

(बृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा० ४, वा० ३६)

४. तत्त्वमस्यादि वाक्येभ्यः सर्वज्ञानप्रसूतितः ।
सर्वाज्ञानापनुत्तेश्च ज्ञेयकार्य समाप्तितः ।।'

(वही, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ६१२)

के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव और विषय ईश्वर है।[1] वाचस्पति के विसदृश आचार्य सुरेश्वर ने अविद्या का आश्रय तथा विषय एक माना है। अविद्या की आश्रयता का निरूपण करते हुए उनका कहना है कि यह चिदाभास विशिष्ट-अविद्या इतती धृष्ट है कि जिस प्रमाण वस्तु के आभास की अपेक्षा से अपना स्वरूप सिद्ध करती है[2] उसी प्रमाण वस्तु का अनादर कर स्वयं परमात्मकल्प ही बनी रहती है।[3] अविद्या का यह परमात्मकल्प अवस्थान कहीं अन्यत्र नहीं प्रत्युत् परमात्मा में होता है तथा प्रत्यक् चैतन्य में इसकी स्थिति तब तक सिद्ध रहती है, जब तक सम्यक्ज्ञान नहीं उत्पन्न होता।[4] उनके ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्राप्त प्रत्यङ् मोह,[5] प्रत्यग्ध्वान्त,[6] प्रत्यगज्ञान,[7] प्रत्यङ् ङ्विद्या,[8] प्रत्यक्तम,[9] स्वमोह,[10] स्वात्माविद्या,[11] तथा

---

१. 'नाविद्या ब्रह्माश्रया किं तु जीवे······।'

(भामती, पृ० ८०) तथा सिद्धान्तबिन्दुः, पृ० २९।

२. बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ७४।

३. 'अहो धाष्ट्र्यमविद्याया न कश्चिदतिवर्तते।
प्रमाणवस्त्वनादृत्य परमातेव तिष्ठति ॥'

(नैष्कर्म्यसिद्धिः अ० ३, का० १११ पृ० १७०)

४. 'प्रत्यक्चिदामाविद्यास्तो ह्यविचाविचारितसिद्धिका ॥
सिद्धायते प्रतीचीयं प्राक्सम्यग्ज्ञानजन्मनः ॥

(बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ११११)

५. वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ५०४; अ० २, ब्रा० ३, वा० २३५; ब्रा० ४, वा० ११३, अ०, ब्रा० ४, वा० ११२; अ० ४, ब्रा० ३ वा० ३५६, ४१७ तथा ९०९।

६. वही, अ० २ ब्रा० ५ वा० २ तथा अ० ३ ब्रा० ७ वा० ४३।

७. वही, अ० १, ब्रा० ३, वा० ३१५-१६; ब्रा० ४, वा० ६९, १५०, ५९९, ६०५, ६७१; अ० ४, ब्रा० ४, वा० १९३, २०१; अ० ३, ब्रा० ३, वा० १००; ब्रा० ५, वा० ११४; अ० ४, ब्रा० ३, वा० ८६, ८८, ३४६, ब्रा० ४, वा० ६९१, ७७५ तथा ८४०।

८. वही, अ० ४, ब्रा० ३, वा० २४७।

९. वही, अ० २, ब्रा० ४, वा० २५७।

१०. वही, अ० ४ ब्रा० ३ वा० १, ३५२, ३७९।

११. वही, अ० ३ ब्रा० ९ वा० १९०; अ० ४ ब्रा० ३ वा० ८९, ३८३ तथा १२२१।

आत्माविद्या[1] आदि के प्रचुर प्रयोग से भी यह सुव्यक्त हो जाता है कि वह आसाधारण अज्ञान को आचार्य वाचस्पति के समान जड़ अन्तःकरणाश्रित नहीं, प्रत्युत् प्रत्यक् चैतन्याश्रित मानते हैं ।[2] अज्ञान का विषय क्या है ? इसके उत्तर में उन्होंने 'आत्म विषयम्' ।[3] कह कर अज्ञान की आत्म विषयता की पुष्टि की है । यद्यपि सुरेश्वराचार्य ने अविद्या को जड़ बताया है,[4] तथापि इसके प्रत्यक् चैतन्याश्रित होने में कोई विरोध नहीं क्योंकि नित्यचिदाभास-अन्वित अविद्या को उन्होंने कूटस्थाभासरूप[5] माना है । कूटस्थाभासवत्रु होने के कारण वह प्रत्यक् चैतन्याश्रित[6] हो जायगी । न्याय की पारिभाषिक शब्दावली में अज्ञान की ब्रह्माश्रयता स्वानुयोगिकाभासप्रतियोगित्वरूपा होगी ।

ब्रह्म तथा अविद्या का सम्बन्ध

ब्रह्म तथा अविद्या के सम्बन्ध का स्वरूप क्या है ? इस विषय में अद्वैत वेदान्त के प्रस्थान त्रय प्रतिष्ठापक आचार्यों मे विप्रतिपत्ति है । प्रतिबिम्बवादी आचार्य पद्मपाद और प्रकाशात्मन् के अनुसार अविद्या तथा ब्रह्म का सम्बन्ध आश्रयाश्रयी तथा विषयविषयी दोनों रूपों में है । अवच्छेद प्रस्थान के प्रतिष्ठापक वाचस्पति जीव तथा अविद्या का संबंध आश्रयाश्रय्यात्मक तथा ईश्वर एवं अविद्या का सम्बन्ध विषयविषय्यात्मक मानते हैं । प्रतिबिम्बवादियों के समान आभासवादी आचार्य सुरेश्वर ने भी अविद्या और ब्रह्म का आश्रिताश्रय एवं विषयीविषय दोनों सम्बन्ध माना है ।[7] यह सम्बन्ध एक प्रकार से अनादि एवं नैसर्गिक है क्योंकि अविद्या विद्याविरोधी रूप से आत्मा को सदैव अपना

---

१. बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ३ वा० १८८; ब्रा० ४, वा० १०५५; अ० ४ ब्रा० ३ वा० ३३८, ३४८, ३६८, १२१६ तथा १२९६ ।

२. 'असाधारणमज्ञानं प्रतीच्येवं यतः स्थितम् ।'
(वही, अ० १ ब्रा० ४, वा० १७९)

३. 'किं विषयं पुनस्तदात्मनोऽज्ञानम् । आत्मविषयमिति ब्रूमः ।'
(नैष्कर्म्य सिद्धिः अ० ३, पृ० १०६)

४. बृ० उ० भा० वा०, अ० १ ब्रा० ४, वा० २५६ तथा अ० ४ ब्रा० ३ वा० ४५७ ।

५. मोहतत्कार्यनीडं यत्कूटस्थाभासरूपकम् ।'
(वही, अ० १, ब्रा० ४ वा० ३७४)

६. 'मोहतत्कार्यनीडो यस्तस्याज्ञानसमन्वयात् ।
प्रत्यगात्माऽपि तद्ब्रह्म परोक्षमभवन्मृषा ॥'
(वही, अ० २, ब्रा ४ वा० ४३४)

७. Lights on Vedanta, P. 105.

आश्रय एवं विषय बनाये रहती है।[1] अविद्या आत्मा की सर्वशक्यसर्जनात्मिकता शक्ति है[2] अतः आत्मा अविद्या से सदैव सम्बन्धित रहता है। इस नैसर्गिक सम्बन्ध के विपरीत सुरेश्वराचार्य ने अपने आभास-प्रस्थान में एक अन्य प्रकार का भी सम्बन्ध माना है, जो अविद्या की आभासरूपता के अनुरूप है। आभास के द्वारा यह कूटस्थ आत्मा से सम्बन्धित होती है अतएव आत्मा से इसका संबंध भी आभासात्मक हो जाता है। इस आभासात्मक सम्बन्ध के द्योतनार्थ उन्होंने आत्मा और आत्माज्ञान का सम्बन्ध 'आत्मात्मवत्त्व रूप'[3] बताया है। यह सम्बन्ध अविद्या तथा आत्मा के आध्यासिक तादात्म्य का स्पष्टीकरण है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि आत्मा से अविद्या का सम्बन्ध अविद्या प्रकल्पित[4] अविद्योत्संग संस्थ[5] है तथा अविचारित संसिद्ध है।[6] स्वतः या परतः किसी भी प्रकार यह प्रत्यगात्मा में नहीं रह सकती। अतः 'आत्मा की अविद्या' इस प्रसिद्धि के कारण ही अविद्या को आत्मसंबंधित कहा जाता है।[7] ससंग, विकारी एवं अनात्म अविद्या का निःसंग, कूटस्थ तथा पूर्ण चित्तत्व से वास्तविक योग असंभव है[8] अतः जैसे घृत पिंड प्रदीप्त वह्नि का आलिंगन निराकृत रूप से करता है, उसी प्रकार अविद्या भी प्रत्याख्यात रूप में ही एकल प्रत्यगात्मा का आलिंगन करती है।[9] अविद्या का यह नैसर्गिक

---

१. 'अमित्रवदविद्येति सत्यैवं घटते सदा।
(तै० उ० भा० वा० ब्रह्मवली, वा० ७६, पृ० ८३)

२. बृ० उ० भा० वा०, अ० ४ ब्रा० ३, वा० १७८४-८५।

३. बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० ३८१ तथा १८८०।

४. वही, 'योऽयमविद्यादि सम्बन्धः सोऽप्यविद्याप्रकल्पितः।'
(अ० ४, ब्रा० ३, वा० ६५)

'प्रत्यगात्मन्यविद्येति त्वविद्यापरिकल्पना।'
(अ० २, ब्रा० १ वा० २७२)

५. 'अन्वयः संगतिः सेयमविचारितसिद्धिका।
अविज्ञात चिदुत्संग संस्थैवेयं न वस्तुनि॥' (वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० १३२३)

६. वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० २१७, १३२३ तथा अ० ४, ब्रा० ३, वा० ११८१।

७. आत्माविद्या प्रसिद्ध्येव ह्यविद्याऽस्यात्मनो यतः॥
न स्वतः परतो वाऽतो वस्तुतः प्रत्यगात्मनि॥
(वही, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ११०६)

८. वही, अ० १, ब्रा० २, वा० ३०५, अ० ४, ब्रा० ३ वा० ७६, ११७७ तथा ११७६।

९. 'प्रत्याख्याताऽऽत्मनैवेयं प्रत्यगात्मानमेकलम्।
अविद्याऽऽलिंगते वह्निं घृतोल्कणम्॥
(वही, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ११८०)

अर्थात् अनादि तथा आविद्यक द्विविध प्रकार का सम्बन्ध निरूपण तथा चित्तत्त्व की असंगता का प्रतिपादन सुरेश्वराचार्य के उन द्विविध वृत्तों का परिणाम है, जिनको वह तमोवृत्त तथा वस्तुवृत्त कहते हैं। तमोवृत्त या मोहदृष्टि से आत्मा की अविनाभावता या तमस्विता बनी रहती है।[1] पर वस्तु वृत्त या प्रत्यगदृष्टि से अविद्यात्म-सम्बन्ध की कल्पना भ्रम मात्र है तथा व्योम में नीलता का आरोप करना है।[2] अविद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध आभास रूप होता है इसलिए यह सम्बन्ध स्वानुयोगिकाभास प्रतियोगित्व रूप होगा।

आभास और ब्रह्म का सम्बन्ध

आभास के नामान्तर के परिगणन करते समय यह प्रतिपादित किया गया है कि सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थों में आभास के लिए चिदाभास, चैतन्याभास तथा स्व रूपाभासादि अनेक पदों का प्रयोग किया है। अतः एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि चित् का आभास से क्या सम्बन्ध है ? पारमार्थिक या वस्तु वृत्त से सर्वभासविवर्जित, असंहत, अपास्तसमस्तसंसर्ग, एकल, कूटस्थ, चैतन्य का आभास से कोई सम्बन्ध न हो, यह ठीक है, किन्तु व्यवहार भूमि में दोनों के सम्बन्ध का अपलाप असंभव है। इस व्यावहारिकी दृष्टि से आभास-प्रस्थान में आभास और ब्रह्म का वही सम्बन्ध माना जाता है, जो प्रतिबिम्ब प्रस्थान में प्रतिबिम्ब और बिम्ब का है। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे प्रतिबिम्ब और बिम्ब में जन्यजनकत्व सम्बन्ध है, उसी प्रकार चिदाभास और चित् में भी जन्यजनकत्व सम्बन्ध होगा। इतना होते हुए भी प्रतिबिम्ब-प्रस्थान सम्मत तथा आभास-प्रस्थानानुमोदित जन्यजनकत्व सम्बन्ध में एक सूक्ष्म अन्तर है। प्रतिबिम्ब मतानुयायियों के अनुसार प्रतिबिम्ब बिम्बाभिन्न है, पर आभासमत के अनुसार आभास चिद्भिन्न और अनिर्वचनीय है। अतः प्रतिबिम्ब पक्ष में जन्यजनकभाव सम्बन्ध अभेदात्मक होगा पर आभासवाद में आभास और चित् का जन्यजनकत्व-सम्बन्ध स्वप्रतियोगित्व रूप होगा।

आभास और अज्ञान का सम्बन्ध

सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिकों में बहुशः कहा है[3] कि अज्ञान सदा स्वात्माभास संश्लिष्ट रहती है। उनके एतादृश कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अज्ञान और

---

१. वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ६३।
२. बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० ४, वा० ३४०, ६८४ तथा १३३२।
३. 'अपि प्रत्यक्तमो नित्यं भास्वच्चैतन्यबिम्बितम् ॥' वही अ० १, ब्रा० ४ वा० ८३४; अ० ४, ब्रा० ३ वा० ६६ तथा ३५५।

आभास इन दोनों का अनादि संबंध है। तथा इस अनादि सम्बन्ध के कारण वे बीजां-कुरवत् अनादि हैं। अतः इस प्रसंग में आभास और अज्ञान के सम्बन्ध का निरूपण आवश्यक है। आभास तथा अज्ञान का सर्वप्रथम एवं मुख्य सम्बन्ध आश्रिताश्रयत्वरूप है। आभास अज्ञान में सदैव स्थित रहता है, इसलिए वह अज्ञान का आश्रित होगा तथा अज्ञान उसका आश्रय होगा। अज्ञान तथा आभास का अन्यतम सम्बन्ध पारस्परिक जन्यजनकत्व है। सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन आभास अज्ञान का जनक है और अज्ञान आभास का आश्रयत्वेन जनक है। इस आश्रयत्व रूप जन्य-जनकभाव को न्याय की पारिभाषिक शब्दावली में चित्प्रतियोगिका-भासानुयोगित्व रूप कहा जा सकता है। इस अन्योन्य जन्य-जनक-भाव-सम्बन्ध में भी यह अन्तर है कि आभास अज्ञान का उपादानत्वेन जनक है और अज्ञान आभास का निमित्तत्वेन जनक है। आभास का उपादेयत्वेन जन्य मानने के कारण ही आभासवादी आचार्य सुरेश्वर ने अनेक वार्तिकों[1] में अज्ञान को आभास रूप माना है। कार्य स्वभावतः उपादानात्मक होता है, अतः अज्ञान को आभास मानने में कोई विरोध नहीं है।

अज्ञान और आभास का अन्तर

सुरेश्वर के ग्रन्थों के आमूलतः परिशीलन से यद्यपि यह सुनिश्चित हो जाता है कि आभास और अज्ञान दोनों तत्त्व पूर्णतः काल्पनिक, अनात्म, अविचारितसंसिद्ध एवं तत्त्वज्ञानापनोद्य होने के कारण समान सत्ताक हैं, फिर भी इनके कथित स्वरूपादि के विश्लेषण से कुछ अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अज्ञान स्वरूपतः जड़, निष्क्रिय तथा मोहमान्द्यादि रूप है इसके विपरीत आभास आत्मवत् सत्ता-स्फूर्तिप्रद तथा अवभासक है। अज्ञान के कारण प्रपंच जाड्य, स्थौल्य तथा नानात्वादि गुणों से युक्त होता है पर आभास के कारण जड़ प्रपंच भी सत्ता एवं स्फूर्ति आदि से संवलित हो आत्मवत् प्रोद्भासित होने लगता है। जगत् की कारणता की दृष्टि से आभास वर्त्म है और अज्ञान भूमि है।[2] अविद्या का कार्य जन-जीवन को सर्वदा निज-तिमिर में मग्न किये रहता है, पर आभास का कार्य उसे प्रकाशित करना है।

ब्रह्म के भूयोभवन में दृष्टान्त तथा आभास की अपेक्षा

कारणता के प्रसंग में यह स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है कि सुरेश्वराचार्य केवल ब्रह्म और अविद्या इन दोनों को ही जगत् का कारण नहीं मानते प्रत्युत् आभास

---

१. बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० ४, वा० ३४१, ३७४; अ० २, ब्रा० २, वा० ४१; ब्रा० ७, वा० ४३; ब्रा० ६, वा० ३ तथा अ० ४, ब्रा० ३, वा ३६२।

२. वही—अ० १, ब्रा० २, वा० १२६।

को भी जगत् की कारणता में एक अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। आभास और अज्ञान इन दोनों के सान्निध्य से ब्रह्म का बहुभवन होता है। ब्रह्म के भूयोभवन के स्पष्टीकरणार्थ आभासवादी आचार्य सुरेश्वर ने जलचन्द्र[1], रज्जुसर्प[2], अकाश[3], कुम्भमणि[4], ऊर्णनाभि[5], अग्निविस्फुलिंग[6], अलात्[7] मायी[8] प्रभृति दृष्टान्तों को उपन्यस्त किया है। इन सब दृष्टान्तों का आशय यह है कि जैसे तत्-तत् जलपात्रों में एक आभासित चन्द्रमा ही बहुधा प्रतीत होता है अथवा अज्ञान के कारण एक ही रज्जु सर्प-मालादि नाना रूपों में विकल्पित होती है, या कुम्भादि उपाधियों में संश्रित अनन्त आकाश का बहुत्व देखा जाता है, अथवा एक ही कुम्भ नील-लोहितादि मणियों के सम्पर्क से तत्तद्रूपवान प्रतीत होता है या सचेतन ऊर्णनाभि अचेतन जाल से बहुत्व प्राप्त करती है, अथवा अग्नि से अग्निस्वभावक बहु विस्फुलिंग हो जाते हैं, या निश्चल एक रूप अलात् का वैश्वरूप्य संलक्षित होता है अथवा मायावी का मायावेशवश बहुत्व संभव हो जाता है, उसी प्रकार, अज, अव्यय, एक, सत्, अरूप, अनवयव परब्रह्म भी स्वाभासवर्त्म की अपेक्षा से अज्ञान और अज्ञानज वस्तुओं में स्थित-सा हो ईश्वरादि रूप में बहुभावापन्न प्रतीत होता है।[9] इन प्रचुर दृष्टान्तों के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरादि कल्पित बहुत्वों से परमात्मा के एकत्व या अद्वयत्व पर कोई प्रभाव

---

१. बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० ४, वा० १४२ तथा नैष्कर्म्य सिद्धिः; अ० २, का० ४७, पृ० ७४।
२. वही—अ० १, ब्रा० ३, वा० ६५, ३१४; ब्रा० ४, वा० ६७५ तथा अ० ४, ब्रा० ४, वा० १७८।
३. वही—अ० १, ब्रा० २, वा० १२७; अ० २, ब्रा० ३, वा० ५; अ० ३, ब्रा० ५, वा० ४३-४४; अ० ४, ब्रा० ३, वा० १२६ तथा तैत्ति० उप० भा० वा०-वा० ४८ पृष्ठ ७६।
४. बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० ४, वा० १४१।
५. वही—अ० २ ब्रा० १, वा० ३८३ तथा ३६१।
६. वही अ० २, ब्रा० १, वा० ३६३।
७. तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक—वा० ७२, पृष्ठ १२३।
८. वही—वा० ७३-७४ पृष्ठ १२३।
९. 'स्वाभासफलकारूढस्तदज्ञानज भूमिषु ।। तत्स्थोऽपि तदसंबद्ध ईश्वराद्यात्मतां गतः ।।' (वही, अ० १, ब्रा० ३, वा० ५३) तथा
स्वाभासवर्त्मनैवेत्थमात्माज्ञानजभूमिषु ।। इत्थं बहुत्वमेकं सद्वियद्यद्वद्घटादिषु ।।'
(वही—अ० १, ब्रा० २, वा० १२७)

नहीं होता। जैसे एक ही रज्जु वस्तु में स्वतः रज्जुत्व और अज्ञानतः बहुत्व दोनों संभव है उसी प्रकार प्रत्यगात्मा में भी स्वतः एकत्व और स्वमोहाभासवर्त्म के द्वारा बहुत्व संभव हो सकता है।[1] इन आध्यासि दृष्टान्तों के द्वारा सुरेश्वराचार्य ने यह भी स्पष्ट कहा है कि आभास और अविद्या के कारण संभाव्यमान अनवयव आत्मा का यह भूयोभवनभाक्त है, वास्तविक नहीं।[2] भूयोभवन के भाक्त या अवास्तविक होने के कारण आत्मातिरिक्त प्रतीयमान वस्तु आभास होंगे।[3]

आभास पदार्थों की विविधरूपता

सुरेश्वर के बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक मे चिद्व्यतिरिक्त ईशादिविषयान्त जगत् की आभासरूपता समर्थित है[4] तथा चेतन और अचेतन के रूप में आभास का द्वैविध्य अंगीकृत है।[5] चेतनाभास (कारणाभास) एवं अचेतनाभास (कार्याभास) में ईश्वरादि से लेकर सम्पूर्ण विषयों का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः आभासवादसम्मत आभास के इन विविध रूपों का स्वरूप क्रमशः निरूपित किया जाता है।

ईश्वर—कारणाभास के प्रसंग में यह उल्लिखित किया गया है कि अविद्यागत चिदाभास को सुरेश्वराचार्य सम्मत ईश्वर कहा जा सकता है। यद्यपि उनके ग्रन्थों में ईश्वरादि रूपों की काल्पनिकता निरूपित है, तथापि ईश्वर के स्वरूप-वर्णन में निम्न विविध शब्दावली प्राप्त होती है—

(१) स्वात्माभावविशिष्ट—अविद्योपाधिक अर्थात् अविद्योपहित चैतन्य ईश्वर है।[6]

---

१. रज्जुत्वाहित्वयोर्यद्वदेकस्मिन्नपि वस्तुनि ॥
स्वतस्तन्मोहतश्चैवं संभवस्तद्वदात्मनि ॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० ३, ब्रा० ५, वा० ३६)

२. न ह्यवयवस्यास्य बहुत्वं युज्यतेऽञ्जसा ॥
तस्माद्भाक्तं बहुत्वं स्याद्व्योम्नोयद्वद्घटादिभिः ॥
(तै० उ० भा० वा० वा० ७४, पृ० १२३)

३. तदन्यत्तदाभासम् ......। (बृ० उ० भा० वा० अ० २, ब्रा० ३, वा० १६१)

४. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ३८२ तथा अ० २, ब्रा० ३, वा० १६१।

५. 'चेतनाचेतनाभासः......।' (वही, अ० २, ब्रा० ४ वा० ४१४)

६. तेन तेनात्मकार्याणां स्वात्माभासं तमोवचिः ॥
विशिष्टःससृजे विष्णुस्तेजोवनादिमायया ॥
(बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० ४, वा० १६)
'बुद्धि तत्कारणोपाधी ईशनेश्वरसंज्ञकौ' (अ० १, ब्रा० ४, वा० ६१४) तथा
'अविद्यामात्रोपाध्येतद्ब्रह्म कारणमुच्यते।' (अ० २, ब्रा० ३, वा० ७)

(२) अज्ञान भूमिगत स्वाभास फलक समारूढ़ शुद्ध चैतन्य अर्थात् अज्ञानोपहित अज्ञान-तादात्म्यापन्न अज्ञानगत स्वाभास से अविविक्त अस्थूलाद्युक्ति गोचर चैतन्य ईश्वर है।[१] स्पष्ट शब्दों में अज्ञानभूमि निविष्ट चिदाभास से अपृथक् प्रतीयमान प्रत्यक्चैतन्य ईश्वर है। इस लक्षण में ईश्वर का वाच्यार्थ आभासानतिरिक्त चित् होगा।[२]

(३) उपर्युक्त ईश्वर के स्वरूप-द्वय उनके वार्त्तिकों में प्राप्त भले होते हैं, पर ये उनके आभास-प्रस्थान के पूर्णतः अनुकूल नहीं। सुरेश्वर प्रतिष्ठापित आभास-प्रस्थान के अनुसार ईश्वरादि समस्त प्रपंच आभास हैं। अतः ईश्वर का वाच्यार्थ आभास होना चाहिए। आभासानतिरिक्त चित् नहीं। इस दृष्टिकोण से अविद्यागत चिदाभास को सुरेश्वर ने ईश्वर कहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि अज्ञान से तादात्म्यापन्न अज्ञानोपहित आत्मा का स्वाविविक्त अज्ञान रूप उपाधि के अन्तर्गत जो आभास है, वही ईश्वर है।[३] प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय लक्षण में यह अन्तर है कि प्रथम और द्वितीय लक्षण में ईश्वर बोधक तत्पद का वाच्यार्थ अभासाविविक्त चित् तथा लक्ष्यार्थ शुद्ध चित् है, पर तृतीय पक्ष में उपर्युक्त तत्पद का वाच्यार्थ आभास है और लक्ष्यार्थ शुद्ध चित्। इसी अन्तर के फलस्वरूप प्रथम-द्वितीय लक्षण में तत्त्वम्पदार्थ-शोधन के लिए जहदजहल्लक्षणा का आश्रय लिया जाता है और तीसरे लक्षण में जहल्लक्षणा का। यद्यपि सुरेश्वर ने बिना किसी आग्रह के ईश्वर विषयक त्रिविध लक्षण दिया है, तथापि परवर्ती अद्वैत-वेदान्तियों में से अधिक ऐसे हैं जो अपने ग्रन्थों में सुरेश्वर-सम्मत ईश्वर का लक्षण अविद्यागत चिदाभासरूप से उपन्यस्त करते हैं।[४]

---

१. 'आभासानतिरिक्तं चैतन्यं तत्त्वं पदवाच्यम्। (पुरुषोत्तमकृत सिद्धान्तबिन्दु व्याख्या, पृ० २८, (गेयकवाड, ओरियण्टल सीरीज)

२. बृ० उ० भा० वा०—'स्वाभासफलकारूढ़स्तदज्ञानजभूमिषु 'तत्स्थोऽपि तदसंबद्धः ईश्वराद्यात्मतां गतः (अ० १ ब्रा० ३, वा० ५३) 'अपास्ताविद्यातज्जत्वाद्यस्थूलाद्युक्तिगोचरः। स्वाभासाविद्योपाधिः सन्साक्ष्यन्तर्यामितां व्रजेत्॥ (अ० १, ब्रा० ४, वा० १५१) तथा अ० ३, ब्रा० ९ वा० ३। सिद्धान्तबिन्दुः पृ० २८।

३. बृ० उ० भा० वा०—ईश्वरादि विकल्पानः प्रत्यग्वस्त्वविकल्पितम्। (अ० १, ब्रा० ३ वा० ६१), 'ईशादिविषयान्तं यत्तदविद्याविजृम्भितम्।' (अ० १ ब्रा० ४ वा० ३८२, 'तदेकल्पितं सर्वं सहेतुफलवज्जगत्॥ (अ० २, ब्रा० ५, वा० ११३३।)

सिद्धान्तबिन्दुः, पृ० २६-२७। ब्रह्मानन्दी (अद्वैतसिद्धिव्याख्या, पृ० ४८३ पंक्ति १४-१५)

४. सर्वज्ञात्ममुनिः संक्षेपशारीरकम्, अ० १, श्लो० १६९ तथा पंचप्रक्रिया, शब्दशक्ति, विवेक प्रकरण पृ० . ३; मधुसूदन सरस्वतीः सिद्धान्तबिन्दुः पृ० २७-२८; ब्रह्मानन्दः लघुचन्द्रिका (अद्वैतसिद्धि व्याख्या) पृ० ४८३, पंक्ति १४-१५; सदानन्द यतिः अद्वैत ब्रह्म सिद्धिः, चतुर्थ मुद्गर प्रहारः, पृ० २०३।

केवल मधुसूदन-सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु में आभासपरक ईश्वर-लक्षणोल्लेख करने के पश्चात् वैकल्पिक अभासाविविक्त चिद्रूप पक्ष का भी निर्देश किया है।[1]

अद्वैत वेदान्त की पारिभाषिक शब्दावली में उपर्युक्त वर्णित ईश्वर के त्रिविध लक्षण इस प्रकार हैं:[2]—

(१) चिदाभासविशिष्टाऽविद्यासंवलित ईश्वरः।

(२) अज्ञानोपहिताऽज्ञानतादात्म्यापन्ना तद्गतस्वाभासाऽविविक्ता चिदीश्वरः।

(३) अज्ञानोपहितात्मनोऽज्ञानतादात्म्यापन्नस्य आत्माऽविविक्ताज्ञानोपाध्यन्तर्गताभास ईश्वरः।

(२) साक्षी अन्तर्यामी—अद्वैत वेदान्त के आचार्यों का साक्षि स्वरूप के विषय में मतभेद है:—

वेदान्त-कौमुदीकार का मतः—है[3] कि 'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः' इत्यादि देवत्व प्रतिपादक श्रुति से ज्ञात होता है कि ईश्वर का कोई स्वरूप विशेष साक्षि है। यह जीव की प्रवृत्ति और निवृत्ति का अनुमन्ता तथा स्वयं उदासीन है। ईश्वर का स्वरूप विशेष होने पर भी वह कारणत्व आदि धर्मों के न रहने से अपरोक्ष है और जीवगत अज्ञानादि के अवभासक होने के कारण जीव का अत्यन्त अन्तरंग भी है। सुषुप्त्यादि में अन्तःकरण तथा तद्वृत्तियों के उपरम होने पर जीवगत अज्ञानमात्र की व्यंजक होने के कारण साक्षि को प्राज्ञ भी कहा जाता है। एक ही ईश्वर नियम्य माया तथा तत्कार्य के नियन्तृत्त्व की अपेक्षा से नियन्ता तथा साक्ष्य अर्थ के साक्षित्व से साक्षि हो जाता है।[4] स्पष्ट शब्दों में साक्षि, अन्तर्यामी एवं ईश्वर-इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है केवल कार्य की दृष्टि एक ही ईश्वर के पृथक्-पृथक् नामों का व्यपदेश होता है। फलतः जो ईश्वर का लक्षण होगा, वही साक्षि और अन्तर्यामी का भी होगा। अतः पृथक्-पृथक् लक्षण प्रस्तुत करना समीचीन नहीं। स्वलेख की पुष्टि के लिए एक-दो उद्धरण पर्याप्त होंगे—

---

१. सिद्धान्तबिन्दुः, पृ० २८।

२. Lights on Vedanta, p. 114।

३. सिद्धान्तलेशसंग्रहः, पृ० १८४-८६।

४. नियम्यं कार्यमापेक्ष्य नियन्तेष तमोवृधिः॥
तेष्वेव चित्स्वभावः सन्साक्षितां प्रतिपद्यते॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० १ ब्रा० ४, वा० ३४५)

चिदाभासं स्वमज्ञानं संनिपत्य तदक्षरम् ।
कारणं सत्स्वकार्येषु नियन्तृत्वं प्रपद्यते ॥[1]
कूटस्थ दृष्टितन्मोही दृष्ट्याभासश्च तत्त्रयम् ॥
कारणं जगतः साक्षी नियन्तेति च भण्यते ॥[2]
द्रष्टेद्र्ष्टामित्यत्र यः साक्षि प्रागुदाहृतः ।
अन्तर्यामीति सोऽत्रापि नातोऽन्योऽस्तीतिमण्यते ॥[3]

(३) जीव—ईश्वर-स्वरूप बोधक त्रिविध लक्षणों के समान सुरेश्वर के ग्रन्थों में जीव का भी त्रिविध लक्षण प्राप्त होता है—

(१) बुद्धि उपहित चित् अर्थात् चिदाभास विशिष्ट व्यष्टिपुघयुपहित चित् जीव है।[4]

(२) चिदाभास विशिष्ट अज्ञान से उत्पन्न बुद्धि में व्याप्त चिदाभास अर्थात् बुद्धयुपहित बुद्धितादात्म्यापन्न बुद्धिगत स्वाभास से अविविक्त चित जीव है।[5] निष्कृष्ट रूप में बुद्धिगत स्वाभास से अपृथक प्रतीयमान चैतन्य जीव है।

उपर्युक्त दोनों लक्षणों में 'त्वं' पदाभिध जीव का वाच्यार्थ आभास न होकर आभासानतिरिक्त चित् होता है।

(३) यद्यपि यह दोनों लक्षण सुरेश्वर के ग्रन्थों में सुलभ है पर इन लक्षणों के अतिरिक्त ईश्वर के समान जीव का भी आभासात्मक लक्षण प्राप्त होता है। इस लक्षण के अनुसार अविद्या के कार्यभूत बुद्धि में परमात्मा का आभास जीव है।[6]

---

१. वही, अ० ३, ब्रा० ६, वा० ३।
२. वही, अ० ३, ब्रा०४, वा० ६०।
३. वही, अ० ३, ब्रा० ७, वा० ५३।
४. बुद्धितत्कारणोपाधी क्षेत्रज्ञेश्वरसंज्ञकौ।' : वही, अ० १ ब्रा० ४ वा० ६१६) तथा तदेव ज्ञातृतामेति बुद्धयुपाधिसमाश्रयात्।' (वही, अ० २, ब्रा ३, वा० ७।)
५. बृ० उ० भा० वा०—स्वाभासवदविद्योत्थबुद्धयदिव्याप्रृ विभ्रमात्। तदात्मत्वाभिमानित्वाद्विज्ञानमयताऽऽत्मनः॥ (अ० २, ब्रा० १, वा० ३८७)
बुद्धयुपाध्यविविक्तश्च विज्ञानमय उच्यते।' (अ० ४, ब्रा० ३, वा० २१०)
तमः सत्त्वरजोयोगादयाति क्षेत्रज्ञतामजः। (अ० १, ब्रा० ४, वा० १५२) तथा परमात्मा ग्रहीताऽत्र स्वाभासाभिन्नविग्रहः॥ (अ० २, ब्रा० १, वा० २२७)।
६. वही, अविद्याकार्य बुद्धिस्थ प्रत्यगाभासरूपवत्।
बोद्धेत्यादि समुत्थानं भण्यते परमात्मनः॥ (अ० २ ब्रा० ४ वा० ४२७) तथा 'स्वाभासैर्बहुताभेति मनोबुद्धयाधुपाधिभिः॥ (अ० २, ब्रा० ४ वा० ४२५)।

अर्थात् बुद्धितादात्म्यापन्न बुद्ध्युपहित आत्मा का स्वाविविक्त बुद्धिरूप उपाधि के अन्तर्गत आभास जीव है। इस लक्षण की अभिसंधि एतावन्मात्र है कि बुद्धिगत चिदाभास जीव है। तीनों लक्षणों के अन्तर के विषय में अनावश्यक विस्तार न कर केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि प्रथम एवं द्वितीय लक्षण में तत्त्वमस्यादि वाक्यों के अखंडार्थ बोध के लिए जहदजहल्लक्षणा का आश्रय लिया जाता है पर तृतीय लक्षण में जहल्लक्षणा का। जीव का तृतीय लक्षण आभासवादी आचार्य सुरेश्वर के नाम से जितना प्रख्यात है, उतना प्रथम द्वितीय लक्षण नहीं।[१]

वेदान्त की पारिभाषिक-शब्दावली में जीव के त्रिविध लक्षणों का स्वरूप इस प्रकार है[२]—

(१) चिदाभासविशिष्टव्यष्टि बुद्ध्युपहितो जीवः

(२) बुद्ध्युपहिता बुद्धिगतस्वाभासाऽविविक्ता बुद्धितादात्म्यापन्ना चित जीवः।

(३) बुद्ध्युपहितात्मनो बुद्धितादात्म्यापन्नस्य आत्माऽविविक्त बुद्ध्याद्यन्तर्गताभासो जीवः।

जीवैक्यवाद तथा कल्पित नाना जीववादः—

सुरेश्वर सम्मत आभास-प्रस्थान के अनुसार जीव प्रत्यगात्मा का आभास है। चिदाभास वस्तुतः एक है अतः स्वरूपतः जीव एक ही होगा। परन्तु यदि जीव एक हो तो प्रत्येक शरीरों में सुख-दुःख की प्रतीतिवैचित्र्य के साथ कैसे संभव हो सकेगी। इस प्रश्न के समाधान में उनका कहना है कि चिदाभास जब तत्तद् नानाविध अन्तःकरणवृत्तियों में आश्रित होता है तब भेदभावापन्न हो ना जीवरूपता को प्राप्त होता है।[३] कहने की अभिसंधि यह है कि एक जीववाद मानने से भी अनेक धीवृत्तिविषयोन्मुख एक ही चिदाभास (जीव) का काल्पनिक अनेकत्व युक्तिसंगत है।[४] और इस काल्पनिक नानात्व से सुख-दुःख की वैचित्र्यात्मक प्रतीति संभव हो जायगी। चिदाभास की अविवेक भ्रान्ति से कार्यकारण रहित चैतन्य को भी संसारी समझ लिया जाता

---

१. संक्षेपशारीरकम् । अ० १, श्लोक १६६; पंचप्रक्रिया, पृ०१३; सिद्धान्त बिन्दुः पृ० २७-२८; ब्रह्मानन्दी, पृ० ४८३, पंक्ति १४-१५ तथा अद्वैत ब्रह्मसिद्धिः, चतुर्थ मुद्गर प्रहारः, पृ० २०३।

२. Lights on Vedanta, p. 144.

३. बृ० उ० भा० वा०—अ० २,ब्रा० ४, वा० ४२५ तथा २७।

४. वही, अ० ४, ब्रा०३, वा० ११३४।

है[1] तथा काल्पनिक चिदाभासों से उसमें जीव नानात्व का आरोप किया जाता है।[2] सुरेश्वर प्रतिष्ठापित आभास प्रस्थान में अद्वय, ब्रह्म न तो स्वतः जीव माना जा सकता है और न बन्ध मोक्ष का अधिकारी क्योंकि उसमें संसारित्व उसी प्रकार क्लृप्त है जैसे नभस्तल में नीलिमा,[3] अतः इन चिदाभास जीवों के वर्त्म से उसका बन्ध-मोक्षाधिकारित्व संभव होता है।[4]

(४) **परमात्मा और जीवात्मा का अवस्थानुसार भेद**—मूलाज्ञान[5] अर्थात समष्टि अज्ञान रूप उपाधि में निविष्ट कारण-चिदाभास रूप परमात्मा (ईश्वर) और अज्ञान कार्यभूत अन्तःकरण–रूप उपाधि में आहित चिदाभास रूप जीव सुषुप्ति, स्वप्न एवं जाग्रत-इन तीन अवस्थाओं में विभिन्न नामों से व्यपदिष्ट होते हैं। सुरेश्वराचार्य के ग्रन्थों के आधार पर उनकी त्रिविध रूपता का निरूपण किया जा रहा है।

परमात्मा की त्रिविध-रूपता --

(१) **ईश्वर**—सुषुप्ति-अवस्था के अभिमानी परमात्मा को ईश्वर कहा जाता है। पंचीकरण वार्तिक[6] के अनुसार अविक्रिय, नित्यमुक्त ब्रह्म का स्वमाया-समावेश युक्त रूप ईश्वर है। सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, अव्याकृत, जगद्बीज ईश्वर सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है।[7] इसे कारण-शरीराभिमानी भी कहा जाता है। सम्पूर्ण प्रपंच का उपरम स्थानीय होने के कारण इसको सुषुप्त-स्थान कहते हैं। जैसे सुषुप्त-स्थान स्वप्न-स्थान का कारण होता है, उसी प्रकार यह सुषुप्त स्थानीय

---

१. वही अ० ४, ब्रा० ३, वा० ४०६।

२. वही अ० २, ब्रा० ४ वा० ४२५।

३. आत्मा संसारितां यातोऽथया कार्ष्ण्यं वियत्तया, (वही, अ० २, ब्रा० ४ वा० ४३६)

४. वही, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ३७३।

५. मृत्युर्वै तम इत्येवमाप एवेदमित्यपि। अविद्या प्रथते मौली व्यक्ताव्यक्तात्मनाऽनिशम्॥
(वही, अ० १, ब्रा०३, वा० १३६) तथा
न भेदो न च संसर्गो नाप्यभावोऽवसीयते॥
तन्मूलाज्ञानविध्वस्तैर्यथोक्तागमहानतः॥(वही, अ० ५, ब्रा० ३ वा० २२)

६. 'आसीदेकं परं ब्रह्म नित्यमुक्तमविक्रियम्।
तत्स्वमायासमावेशाद् बीजमव्याकृतात्मकम्॥ (पं० वा०, वा० २ पृ० ११)

७. सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सर्वात्मा सर्वगो ध्रुवः।
जगज्जनिस्थितिध्वंस हेतुरेष सदेश्वरः॥ (बृ० उ० भा० वा०–अ० १ ब्रा० ४, वा० ३७६ तथा अ० ३, ब्रा० ७, वा० ४४)

ईश्वर स्वप्नादि स्थानों के अभिमानी हिरण्यगर्भादि का कारण है। स्पष्ट शब्दों में ईश्वर अपंचीकृत तथा पंचीकृत रूप से उत्पद्यमान सम्पूर्ण जगत् का बीज है।

(२) सूत्रात्मा—स्वप्न स्थान के अभिमानी परमात्मा को सूत्रात्मा कहा जाता है। बुद्धि तथा क्रियाशक्ति के प्राधान्य से इसे हिरण्यगर्भ और प्राण भी कहते हैं। प्रत्यगाभासवती मायामय अपंचीकृत आकाशादि पंचभूतों से उत्पन्न समष्टि बुद्धि से उपहित परमात्मा का नाम हिरण्यगर्भ है[1] पर यही (परमात्मा) जब प्रत्यगाभासवती समष्टि प्राणोपाधि से उपहित होता है तब उसे सूत्रात्मा कहते है।[2] कहने का आशय यह है कि बुद्धि की संपिण्डित उपाधि से युक्त चेतन को हिरण्यगर्भ तथा प्राण की संपिण्डित उपाधि से युक्त चेतन को सूत्रात्मा अथवा प्राण की संज्ञा दी जाती है। इस सूत्रात्मा का एक नाम विरिंच[3] भी कहा है। एक अन्य वार्तिक[4] (जिसमे ईश्वर के द्वारा सूत्र की उत्पत्ति का निर्देश है) से यह ज्ञात होता है कि अपचीकृत पंचमहाभूत तथा तत्कार्यात्मक लिंग सूत्र (सूत्रात्मा) है, पर जब तक यह अपंचीकृत पंचमहाभूतो की संपिण्डित क्रिया शक्ति से युक्त रहता है तब तक 'प्राण' पद वाच्य होता है पर जब अपंचीकृत महाभूतों की संपिण्डित ज्ञान शक्ति से युक्त होता है तब इसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है। प्राण को समष्टि क्रिया-शक्तिमान् तथा हिरण्यगर्भ को समष्टि ज्ञान शक्तिमान् कहने का अभिप्राय यह नही है कि प्राण मे बुद्धि का और हिरण्यगर्भ मे क्रियाशक्ति का पूर्णतः अभाव रहता है। वस्तुतः सूत्रात्मा क्रियाप्रधानज्ञानोपसर्जन-शक्तियुक्त होता है और हिरण्यगर्भ ज्ञान प्रधान क्रियोपसर्जनशक्ति संवलित होता है। अपंचीकृतभूतारब्धक्रियाशक्ति प्रधानज्ञानोपसर्जनक चैतन्यरूप सूत्रात्मा समस्त-व्यष्टि प्राणो का कारण है अतः इसे सुरेश्वराचार्य ने कर्तृस्वभावक कहा है।[5] अपंची-कृतभूतारब्ध ज्ञानशक्ति प्रधान क्रियोपसर्जनशक्ति हिरण्यगर्भ पंचीकृत भूतज समस्त व्यष्टि बुद्धियो का कारण है, अतएव इसे जगत् के बुद्धिजात् का उपादान कहा गया

१. 'हिरण्यगर्भत्वं बुद्ध्युपाधिः स एव तु ॥' (वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० १५२)

२. वही।

३. वही—अ० १, ब्रा० ३, वा० २६२ तथा ब्रा० ४, वा० २०।

४. ज्ञानकर्मादि तन्त्रं यत्सूत्रं जज्ञे ततो विभोः।
ज्ञानक्रियाशक्तिमद्यत्रेदं जगदाहितम् ॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ,४ वा० १८)

५. पयोम्भोवन्नमर्पं क्रियाविज्ञानशक्तिमत्।
कर्तृस्थनारकं स्यान्नु चन्नं कर्मस्वभावकम् ॥ (वही, अ० १, ब्रा० ४ वा० ५०६)

है।[1] अनादि होने के कारण सूत्रात्मा स्थास्नु है पर वस्तुतः औपाधिक होने के कारण चल तथा कार्यरूप है और आद्यन्तवान् होने के कारण कर्मस्थ भावक है।[2] ब्रह्मादि से लेकर भूरादि सप्त लोक तथा सम्पूर्ण भूत इस सूत्रात्मा के द्वारा अक्षवत् ग्रथित और विधृत है। कहने का अभिप्राय यह है कि सूत्रात्मा ब्रह्मादिभूत पर्यन्त में सूत्रवत् अभिनिविष्ट रहता है तथा ब्रह्मादि का विधारक तत्व है इसीलिए इसका नाम सूत्रात्मा है; सर्व सत्त्वों में समाश्रित रहने के कारण इसे अत्यन्त सूक्ष्म तथा पृथिव्यादि का विष्टम्भक कहा गया है।[3] सूक्ष्म-अपंचीकृत भूतों से सम्बन्धित आत्मा का यह हिरण्यगर्भादिरूप सूक्ष्मशरीराभिमानी एवं ईश्वर का स्वप्न-स्थानीय है।

(३) विराट्—जाग्रत् अवस्था का अभिमानी परमात्मा विराट् है। परिष्कृत शब्दावली में पंचीकृत भूत पंचकारब्ध समष्टि—उपाध्युपहित परमात्मा को विराट् कहा जाता है।[4] सूत्रादि का हेतु मायावी आत्मा ही पृथिव्यादि भूतपंचक वाले देशादिविभागों से युक्त स्थूलप्रपंचात्मक स्थान को प्राप्त कर 'विराट्' पद वाच्य होता है।[5] सुरेश्वर के शब्दों में यह विराट् त्रैलोक्यात्मदेहवान्[6] तथा स्थूल जगत् का वह 'प्रथम शरीरी' है[7] जिसकी उत्पत्ति व्यष्टिभूत स्थूलपिंड की सृष्टि के पूर्व होती है। जैसे हिरण्यगर्भ को व्यष्टिबुद्धियों का उपादान माना गया है, उसी प्रकार यह समस्त भूतों अर्थात् व्यष्टि शरीरों का कारण है।[8] 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' (छा० उ० ५।१८।२) आदि श्रुतियों तथा 'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः॥' आदि स्मृति से

---

१. बुद्ध्यात्मनोभिनिर्वृत्तिर्व्यवसायात्मनस्ततः॥
हिरण्यगर्भं यं प्राहुरुपादानं जगद्धियाम्॥ (वही–अ० १, ब्रा० ४, वा० ५१०)

२. वही–अ० १, ब्रा० ४, वा० ५०९।

३. वही–अ० ३, ब्रा० ६ वा० ४-१५।

४. पंचीकरण वार्तिक, वा० ७, पृ० १४।

५. 'वैराजं स्थानमासाद्य क्ष्मादि देशविभागवान्॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ०१
देवताकरणो देव एष एवोच्यते विराट्॥ ब्रा० ४, वा० ५११)

६. 'विराडपि ततो जातस्त्रैलोक्यात्मक देहवान्।' (वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० १९)

७. सर्वै शरीरी प्रथमः सर्वै पुरुष उच्यते॥ आदि कर्त्ता स भूतानां ब्रह्माऽग्रे समवर्तत।'
(वही–अ० १, ब्रा० ४, वा० २१)

८. वही–अ० १, ब्रा० ४ वा० २१।

भी विराट् की त्रैलोक्यात्मकता तथा इन्द्रादि देवताओं की तदुपादानमात्रता सिद्ध होती है।[1]

त्रिविधावस्था तथा जीवात्मा का त्रिविध भेद

जैसे समष्टिफलक पर परमात्मा के ईश्वर, हिरण्यगर्भ एवं विराट्, यह त्रिविध भेद प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार व्यष्टिफलक पर सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत्, अवस्था के कारण जीवात्मा के भी त्रिविध भेद होते हैं—

सुषुप्ति-अवस्था तथा प्राज्ञ—

जाग्रत तथा स्वप्नावस्था के स्थूलात्मक एवं वासनात्मक भोगों को भोगने के कारण श्रान्त प्राणि-जगत का चिदाभास विशिष्ट अविद्या में विश्रामार्थ अवस्थान सुषुप्ति है।[2] पंचीकरण वार्तिक के अनुसार[3] सुषुप्ति वह अवस्था है जहाँ ज्ञान चैतन्य (cognitive Consciousness) के अतिरिक्त स्थूल-सूक्ष्मार्थ विषयक जाग्रत् एवं स्वप्नावस्था सम्बन्धित सभी प्रकार के ज्ञानों से वर्जित केवल अविद्या रहती है तथा जीवान्तःकरण अपने सूक्ष्म एवं कारण रूप में अविद्यात्मना उसी प्रकार अवस्थित रहता है जैसे सूक्ष्म बीजात्मना विशाल वटवृक्ष। कतिपय वार्तिकों[4] में सुरेश्वराचार्य ने सुषुप्ति अवस्था में निःशेष द्वैत हेतुभूता अविद्या का अभाव बताया है, किन्तु इन वार्तिकों का यह आशय निकालना भ्रान्त होगा कि सुषुप्ति में मोहाभाव रहता है। नैष्कर्म्य सिद्धि[5] में उनका स्पष्ट कथन है कि सकल अनर्थों का कारण आत्मानवबोध सुषुप्ति अवस्था में भी बना रहता है और यदि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान की स्थिति न मानी जाय, तो वेदान्त-वाक्यों के श्रवण-मनन-निदिध्यासन के बिना भी 'अहं ब्रह्मास्मि' 'इत्याकारक अध्यवसाय होने से प्राणियों की सुषुप्ति से मुक्ति का कोई अन्तर नहीं होगा। तथा सुषुप्ति के स्वर-

---

१. तस्य च मंत्रवर्णो त्र हृग्निर्मूर्धेति दृश्यते। तदुपादानमात्राःस्युर्देवतः स्वाभिमानजाः।
(वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ५१२)

२. बृ० उ० भा० वा०, अ०४, ब्रा० ३, वा० ११७१-७२।

३. 'ज्ञानानामुपसंहारो बुद्धेः कारणता स्थितिः।

वट बीजे वटस्येव सुषुप्तिरभिधीयते ॥ (वा०४२, पृ० ३८)

४. बृ० उ० भा० वा०-अ०४, ब्रा०३, वा० १३०६-७, १५१२ तथा १५२०।

५. 'सर्वानर्थबीजस्यात्मानवबोधस्य सुषुप्ते संभवात्। यदि हि सुषुप्ते अज्ञानं न भविष्यदन्तरेणापि वेदान्त-वाक्य श्रवण मनन-निदिध्यासनान्यहं ब्रह्मास्मीत्यध्यवसायात् सर्वप्राणभृतामपि स्वरसत एव सुषुप्तप्रतिपत्ते सकलसंसारोच्छित्ति प्रसंगः। (अ०३, पृ० १४०)

सतः प्राप्त होने से सकल संसार के उच्छेद का प्रसंग होगा। अतः इस अनिष्ट के परिहारार्थ सुषुप्ति में अज्ञान की सत्ता अनिवार्य है। यदि सुषुप्ति अवस्था में भेद हेतुक अज्ञान बना है तो द्वैत का भान क्यों नही होता ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सुरेश्वराचार्य का कथन है कि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान का अभिव्यंजक उपाधिभूत अन्तःकरण अविद्या में ही प्रविलीन रहता है। इसीलिए अभियंजक के अभाव में अनभिव्यक्त अज्ञान, ग्राह्य, ग्रहण, ग्राहक तथा भावाभाव प्रयुक्त भेदज्ञान का कारण नहीं बन सकता।

सुषुप्ति में अनभिव्यक्त रहने के कारण ही सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान का प्रध्वंस या अभाव कह दिया जाता है, वस्तुतः अभाव-द्योतनार्थ नहीं। जैसे कतक के सम्पर्क से जल अत्यन्त निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार संसृति की अशेष भावनाओं के अपास्त हो जाने के कारण जीवात्मा को सुषुप्ति में अत्यधिक प्रसन्नता होती है। इसीलिए इस सुषुप्ति अवस्था का एक श्रुतिप्रोक्त नाम 'संप्रसाद' भी है।[1] सुषुप्तिकाल में विज्ञानात्मा प्राज्ञ (इस अवस्था का अभिमानी जीव) परात्मा से संपरिष्वक्त होने के कारण आनन्दमय रहता है क्योंकि भेद के कारणभूत अभिव्यक्त अज्ञान के न रहने से भेदज्ञान नहीं होता।[2] सुषुप्ति के बाद होने वाली 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रत्यभिज्ञा से भी सुषुप्ति की संप्रसाद स्थानीयता समर्थित होती है। इस अवस्था में जीवात्मा का अद्वयभाव रहता है, अतः उसे माता-पिता आदि के सम्बन्धों का भान नहीं होता।[3] कहने की अभिसंधि यह कि सुषुप्ति अवस्था में समस्त शेष एवं शेषियों के तिरोभूत[4] रहने के कारण क्रिया-कारकादि एवं तद्भेदों की प्रतीति नहीं होती। सुषुप्ति अवस्था में केवल अज्ञान उपाधि है अतएव इसे जाग्रत तथा स्वप्नावस्था का बीज कहा जाता है।[5] वेदान्त की संज्ञा में सुषुप्ति और कारण शरीर (अज्ञान) इन

---

१. वृ० उ० भा० वा०—अ०४, ब्रा० ३, वा० ९७५-७८।

२. विज्ञानात्मा परिष्वक्तं प्राज्ञेनैव परात्मना।
भेदकारणविध्वस्तौ भेदधीर्विनिवर्तते॥ (वही, अ० ४, ब्रा०३ वा० १३२३)

३. परं रूपं समापन्नः कर्माविद्या निमित्तकम्। पितृमात्रादि संबंधं सुषुप्ते सोऽति-वर्तते। (वही-अ० ४,ब्रा० ३, वा० १३६९)

४. शेषशेषितिरोभावे सुषुप्तिरिह भण्यते। (वही-अ० २, ब्रा० १, वा० ३१८)

५. केवलाज्ञानमात्राधिरिह प्रत्यङ् व्यवस्थितः॥ कारणात्मा यतस्तस्माज्जाग्रतस्वप्नाख्य कार्यकृत्॥ (वही-अ०४, ब्रा०३, वा० ९७९), : नैष्कार्म्यसिद्धिः, अ० ४, का० ४०-४३ पृ० १९२-९३ तथा मा० का०—आ० प्रकरण, का० १३—१५ पृ० ४८—५०।

दोनों के अभिमानी जीव को 'प्राज्ञ' कहा जाता है[1] और सुषुप्ति को अव्याकृतावस्था कही जाती है।

सुषुप्तोत्थित पुरुष के 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्' इस ज्ञान के स्वरूप के विषय में विवरण प्रस्थान तथा आभास प्रस्थान में मतभेद है।

विवरणकार[2] ने 'अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा' इस योगसूत्र का अभ्युपगम करके सुषुप्ति को तमोगुणात्मिका तथा आवरणमात्रालम्बना वृत्तिरूप माना है जिससे यह स्पष्ट होता है कि वह तामसी वृत्ति को सुषुप्ति मानते हैं। इस अवस्था में उनके मतानुसार यद्यपि जाग्रत एवं स्वप्न संबंधी भोग्य पदार्थों के ज्ञान का अभाव रहता है फिर भी अज्ञानाकार, सुखाकार और साक्ष्याकार ये त्रिविध वृत्तियाँ रहती हैं। इन वृत्तियों के सद्भाव रहने के कारण सुषुप्तोत्थ पुरुष के 'न किंचिदवेदिषम् इस परामर्श को विवरणकार प्रतिष्ठापित प्रतिबिम्ब-प्रस्थान में सुषुप्ति कालिक भोग्य निर्विकल्पक अनुभव के संस्कार से उत्पन्न स्मरण माना गया है। संक्षेप में सौषुप्त ज्ञान एक प्रकार का संस्कारोत्पन्न स्मरण है।

सुरेश्वराचार्य के ग्रन्थों के परिशीलन से यह अवगत होता है कि समस्त द्वैत-प्रपंचरूप कार्य अन्तःकरणादि उपाधियों के लय से विशिष्ट केवल अज्ञान सुषुप्ति अवस्था है। सुषुप्ति अवस्था में कोई वृत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि इस अवस्था में जीव की चिदाभासविशिष्ट इन्द्रियवृत्तियां तथा अन्तःकरणादि सभी अपने कारण अर्थात् आभासाविद्या में लीन रहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में अज्ञानाभिव्यंजक अन्तःकरणादि भूत उपाधियों के न रहने से सुषुप्त-व्युत्थित के प्रथम क्षणात्मक ज्ञान को स्मरण नहीं माना जा सकता।[3] सुरेश्वर के आभास-प्रस्थान के अनुसार यह सुषुप्तिसमाप्तिसमकालानुभूयमान ज्ञान विकल्प है।[4] सौषुप्त ज्ञानबोधक इस विकल्प पद का अर्थ आचार्यों ने भिन्न-भिन्न किया है। ब्रह्मानन्द ने मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि में उद्धृत प्रासंगिकवार्तिक

---

१. पंचीकरणवार्तिक ४२३ पृ० ४०।

२. अद्वैतसिद्धिः, प्रथम परिच्छेद, पृ० ५५८-५९।

३. न सुषुप्तगविज्ञानं नाज्ञासिषमिति स्मृतिः ॥
कालाद्यव्यवधानत्वान्न ह्यात्मस्थमतीतभाक् ॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा ३००)

४. न भूतकालस्पृक्प्रत्यङ् न चाऽऽगामिस्पृगीक्ष्यते ॥
स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थो विकल्पस्तेन स स्मृतः ॥

(वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ३०१)

में अन्तर्भूत विकल्प पद का अर्थ 'सविकल्पक अनुभव' [1] किया है। आनन्दगिरि ने 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तु शून्योविकल्पः' इस योग-सूत्र का आश्रय लेते हुए विकल्प पद का अर्थ किया है वह शब्दानुपाती ज्ञान जिसका निश्चय करते समय वस्तु-स्वरूप की अपेक्षा नहीं की जाती है।[2] यदि विकल्प का यह अर्थ माना जाय तो 'न किंचिदवेदिषम्' इस सुषुप्तग विज्ञान का स्वरूप होगा वह स्वरूपबोधनार्थक शाब्दज्ञान जो वस्तुतः विषय का संवादी नहीं। विकल्प का जो कुछ भी अर्थ हो पर इतना निश्चित है कि सुरेश्वर के आभास-प्रस्थान में सौषुप्त ज्ञान स्मृति रूप नहीं प्रत्युत् धारावाहिक अनुभव या विकल्प रूप है।[3] सुषुप्तिकालिक ज्ञान के लिए विकल्प पद का प्रयोग उनके आभासपरक विचारधारा का परिचायक है। 'ईश्वरादिविकल्पानां प्रत्यग्वस्त्वविकल्पितम्' (बृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा० वा० ४, ३८२) इस वार्तिक में विकल्प तथा अविकल्प पदों को क्रमशः आभास तथा प्रत्यग्वस्तु के लिए प्रयुक्त किया गया है, अतः यह कहा जा सकता है कि सुषुप्तग विज्ञान की आभासरूपता के स्पष्टीकरण के लिए ही सुरेश्वराचार्य ने विकल्प पद का अभ्युपगम किया है।

(२) स्वप्नावस्था तथा तैजस :—जब जाग्रत्काल के विविध प्रकार के भोगजनक कर्मों का प्रहाण हो जाता है और स्वप्नकालिक भोगों का उत्पन्न करने वाले कर्मों का उदय हो जाता है, तब जीवात्मा जाग्रत अवस्था से स्वप्नावस्था में संचार करता हुआ स्थूलदेह की सचेष्टता से रहित हो स्वप्नमाया अर्थात् स्वप्नावस्था का अनुभव करता है।[4] इस स्वप्न अवस्था में इन्द्रियां स्वाविष्ठित देवताओं के अनुग्रह के अभाव में लीन रहती हैं और अन्तःकरण जाग्रत्कालिक वासना-वासित अन्तःकरण के माध्यम से स्वाप्न पदार्थों का उपलम्भ कराता है। स्पष्ट शब्दों में जाग्रत्कालिक

---

१. ब्रह्मानन्दी (अद्वैतसिद्धिव्याख्या), पृ० ५५८, पं० २-१८।

२. 'सर्वोऽपि जडो रज्जवां भुजंगवद्जडेवर्तते अतः स शब्दज्ञानानुपाती वस्तु शून्यो वृद्धैरिष्टस्तत्र कुतोऽद्वैत हानिरित्यर्थः।' (शास्त्र प्रकाशिका, पृ० ४९०)।

३. बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० ४, वा० २९७-३०१ तथा अ० ३, ब्रा० ४, वा० १०२-४। अद्वैतसिद्धि, प्र० प० पृ० ५५८-५९, अद्वैतसिद्धिः, पृ० २४१।

४. 'जाग्रत्फल प्रयोगस्य यदा कर्म प्रहीयते।
व्युत्थानहेत्वसद्भावात्तदा कर्ता सुषुप्सति।'
बृ० उ० भा० वा० अ० २, ब्रा० १, वा० २१९, 'जाग्रत्कर्मक्षयादात्मा बाह्यदेहाभिमानतः।
व्युत्थाय स्वप्रधानः सत्स्वप्नमायां समीक्षते।' (अ० ४, ब्रा० ३, वा० ८९०), सिद्धांतबिन्दु, पृ० ९३ तथा अद्वैतब्रह्मसिद्धिः, चतुर्थमुद्गर प्रहारः, पृ० २२८।

विषयानुभवजन्य संस्कार से समुद्बोधित आभास विशिष्ट अन्तःकरण का चक्षुरादि इन्द्रियों के उपरत होने पर भी ग्राह्य और ग्राहक अर्थात् प्रमेय और प्रमाता दोनों रूपों में जाग्रत्काल के समान आभासन स्वप्न है।[१] इस अवस्था में जीव जाग्रत्काल के समान स्थूलदेहाभिमानी न रह कर सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन से सम्बन्धित रहता है। और वासनावासित मन के द्वारा कल्पित विषयों का भोक्ता बनता है। स्वप्नावस्था में जीव को इहलोक तथा परलोक दोनों का दर्शन होता है, अतः बृहदारण्यक उपनिषद्[२] में स्वप्न को 'संध्य' स्थान बताया गया है। स्वप्नावस्था में जीव को परलोक एवं इहलोक का दर्शन कैसे होता है? इसके समाधान में बाल्य, यौवन एवं वार्धक्य से भिन्न जीव की स्वभावसिद्ध त्रिविध अवस्था का आश्रय लेते हुए सुरेश्वराचार्य का कहना है कि बाल्यकाल में जीव पूर्व-भुक्त भावनाओं के कारण पारलौकिक अर्थात् पौर्वदैहिक, मध्यवय में अर्थात् युवावस्था में प्रत्यक्षादि प्रमाणोपलभ्यमान भावनाओं के कारण ऐहलौकिक अर्थात् तात्कालिक तथा अन्तिम वय में कर्माविद्यादिसम्भृत भावनाओं के कारण भाविलोक संबंधित अर्थात् आग्रकालिक स्वप्न देखता है।[३] सुरेश्वर के इस समाधान का आशय यह है कि प्रथम एवं अन्तिम अवस्था में जीव पारलौकिक स्वप्न देखता है तथा मध्यावस्था में ऐहलौकिक स्वप्न देखता है, अतएव स्वप्नावस्था संध्यस्थान है। स्वप्न प्रपंच का उपादान कारण क्या है? इस विषय में अद्वैत वेदान्तियों का एक मत नहीं है।[४]

कुछ लोगों के अनुसार गजतुरगादि रूप स्वाप्न विषय वासना संस्कृत मन के ही परिणाम हैं और मतान्तर के अनुसार अविद्या ही उक्त स्वाप्न-पदार्थों के रूप में परिणत हो जाती है। इन दोनों मतों में प्रथम मत आभासवादी आचार्य सुरेश्वर का है। उनका कहना है कि स्वाप्न में मातृभाव-प्रमेयादि विषयों के रूप में जाग्रत्कालिक

---

१. 'करणोपरमे जाग्रत्संस्कारोत्थं प्रबोधवत् ॥३७॥ ग्राह्यग्राहक रूपेणस्फुरणं स्वप्नमुच्यते ॥३७½॥
(पंचीकरणवार्तिक पृ० ३१) तथा मानसोल्लासवार्तिक, पृ० ६३, वा० २५।

२. 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः। इदं च परलोकस्थानं च संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिनसंध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च।
(बृ० उ० १०४।३।६)

३. बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ८३७-४८।

४ सिद्धांतबिन्दु, पृ० ६३, (गैयकवाड़, ओ० सीरीज) तथा अद्वैतब्रह्मसिद्धिः, चतुर्थ मुद्गर प्रहारः, पृ० २२९।

भोग-जन्य संस्कार रूप भावना प्रथित होती है अतः चिदाभास विशिष्ट अन्तःकरणाहित भावना ही स्वप्नकाल में जीव के द्वारा भोगे जाने वाले विषयों के प्रति कारण है।[1] स्पष्ट शब्दों में स्वाप्न विषयों का उपादान कारण सामासान्तः करणगत वासना है।[2]

स्वप्न-भ्रम के अधिष्ठान के विषय में भी अनेकमत हैं।[3] एक मत के अनुसार मनोऽवच्छिन्न जीव चैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान है। अन्य मतानुसार मूलावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य ही अधिष्ठान है। कुछ अन्य लोगों ने मनोविशिष्ट जीव चैतन्य को स्वाप्नाध्यास का अधिष्ठान माना है। इन मतों में प्रथम मत तथा तृतीय मत में कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों के अनुसार स्वप्न-पदार्थों का अधिष्ठान जीव ही होगा। विरोध इन मतों से द्वितीय मत का है जिसके अनुसार मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य को स्वाप्न पदार्थों का अधिष्ठान कहा गया है। जीवाधिष्ठानवादियों के अनुसार जाग्रत् काल में स्वाप्न कालिक विषयो का बोध हो जाता है क्योंकि जाग्रद्दशा में भ्रम के वास्तविक अधिष्ठान-जीव-का ज्ञान हो जाता है। इसके विपरीत अज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्याधिष्ठानवादियों का कहना है कि जाग्रद्दशा में स्वप्न भ्रम का तिरोभाव होता है, निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जाग्रत् अवस्था में भी स्वप्न-भ्रम का अधिष्ठान मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य-अज्ञात रहता है।[4] सिद्धान्त बिन्दु के व्याख्याकार अभ्यङ्कर ने उपर्युक्त तीनों मतों में प्रथम मत को प्रतिबिम्ब प्रस्थान से तथा तृतीय मत को अवच्छेद प्रस्थान से सम्बन्धित माना है।[5] द्वितीय मत को सुरेश्वराचार्य सम्मत कहा जा सकता है[6] क्योंकि उन्होंने जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के विषयों को एक, अद्वितीय, असंग ब्रह्म का आभास स्वीकार किया

---

१. 'अपास्ताशेषकरणदेवतस्याऽपि चाऽऽत्मनः । क्रिया कारकसिध्यर्थं भावनैवास्य-कारणम् । (वृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ८७४; अ० ४, ब्रा० ३, वा० ८७५-८८८ तथा अ० २, ब्रा० १, वा० १६०)

२. 'कूटस्थो वासनाः स्वप्ने चिदाभासाः करोत्ययम् ॥' (वही अ० ४, ब्रा० ३, वा० ८८७)

३. सिद्धान्तबिन्दुः, पृ० ६४ (गैकवाड, ओ० सीरीज) तथा, अद्वैतब्रह्मसिद्धिः पृ० २३०।

४. 'अधिष्ठानज्ञानाद्भ्रमनिवृत्तिरित्येकं मतम्, अधिष्ठानज्ञानाद्भ्रमतिरोभावः इत्यपरम्।' बिन्दु संदीपन (सिद्धान्तबिन्दु व्याख्या) पृ० ६४ (गै० ओ० सी०)

५. अभ्यंकर कृत सिद्धान्तबिन्दुव्याख्या, पृ० ११७ (पूना पब्लिकेशन)

६. न्याय रत्नावली (सिद्धान्तबिन्दु व्याख्या) पृ० ४११-१२ पृ० १०-१।

है। आभास, का अधिष्ठान ब्रह्म है[1] अतः तदुपादानक स्वप्न अवस्था के अधिष्ठानत्व की अनुपपत्ति नहीं। इस स्वप्न अवस्था एवं सूक्ष्म-शरीराभिमानी जीव को 'तैजस' तथा स्वप्नावस्था को व्याकृत सूक्ष्मावस्था कहा जाता है। व्यष्टि बुद्ध्युपाधिक तैजस की समष्टि व्यष्ट्युपाधिक हिरण्यगर्भ से साम्य है।[2]

· (३) जाग्रत अवस्था तथा विश्व—जब जाग्रत्कालिक विविध प्रकार के भोगजनक कर्म फलोन्मुख हो जाते हैं, तब जागरितावस्था का विलास प्रारम्भ होता है। जाग्रद-वस्था उपर्युक्त सुषुप्ति एवं स्वप्न अवस्था से विलक्षण ऐसी अवस्था है जहाँ पर केवल अज्ञान एवं अन्तःकरण ही नहीं प्रत्युत् समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी स्वाधि-ष्ठित देवताओं के अनुग्रह से अपना विषय ग्रहण करती हैं तथा स्थूल देह सर्वथा सचेष्ट रहता है।[3] इस अवस्था में वाह्य जगत् का स्थूल इन्द्रियों के द्वारा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-गुणगण सहित प्रविविक्त स्थूल रूपों में ग्रहण होता है। जागरितावस्था का अपरोक्ष तथा परोक्ष सभी प्रकार का ज्ञान अपने में पूर्ण है क्योंकि यहाँ प्रमाण, प्रमेय तथा फल इन तीनों का विविक्त एवं स्पष्ट भान होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा स्वाकाराकारित अन्तःकरण-परिणामरूप चैतन्य वृत्त्याभासित विषयों के स्थूल एवं विविक्त रूपों का प्रत्यक्ष होता है। इस अवस्था में अज्ञान के अतिरिक्त स्थूल देह एवं इन्द्रियादि भी उपाधि का काम करते हैं। विषयों के प्रभाव से न केवल अन्तःकरणादि अपितु देहावयव भी प्रभावित होकर अपेक्षित परिवर्तन संवलित हो जाते हैं। और इन सबों का चिदाभासविशिष्ट सामूहिक परिणाम जाग्रत्कालिक अनुभवों का रूप धारण करता है। अविद्या अन्तःकरण एवं स्थूल शरीर इन तीनों की अपेक्षा से युक्त जाग्रत् अवस्था के अभिमानी जीव को 'विश्व' कहा जाता है। इसकी समता विराट् से की गई है।[4] इस अवस्था को व्याकृत स्थूलावस्था भी कहते हैं।

अवस्थाभिमानी ईश्वरादि की आभासरूपता

समष्टि सुषुप्त्यादि अवस्थाओं के अभिमानी ईश्वर हिरण्यगर्भ तथा विराट एवं व्यष्टि सुषुप्त्यादि अवस्थाओं के अभिमानी प्राज्ञ, तैजस और विश्व ये सभी

---

१. बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० १२८०।

२. पंचीकरण वार्त्तिक, वा० ३८, पृ० ३२।

३. बाह्यान्तः करणैरेवं देवतानुग्रहान्वितैः।
स्वं स्वं च विषयज्ञानं तज्जागरितमुच्यते॥ (पंचीकरणवार्तिक, वा० २६, पृ० २६)

४. पंचीकरण वार्तिक, वा० ३०-३० ½, पृ० २७।

एक प्रत्यगात्मा के विकल्प या आभास हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि ईश्वर, सूत्र और विराट् अथवा जितने भी अविद्या क्षेत्रान्तर्गत पदार्थ हैं वे सब आत्मा में उसी प्रकार क्लृप्त हैं जैसे रज्जु में सर्प।[1] यह सभी मोहोत्थ, साधनसापेक्ष और परस्पर व्यभिचारि हैं अतः पारमार्थिक नहीं हो सकते[2] क्योंकि शांकराद्वैत प्रस्थान में आपेक्षिक या परायत्त वस्तुओं को आभासरूप तथा मिथ्या माना गया है।[3]

सृष्टि-क्रम

पिण्डाण्ड व्यपाश्रयेण तथा ब्रह्माण्ड व्यपाश्रयेण अव्याकृत, सूक्ष्म तथा स्थूल का क्रमशः सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थाओं के रूप में हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। इस प्रसंग में इन अव्याकृतादि अवस्थाओं का सृष्टि व्यपाश्रयेण विचार किया जाता है। सृष्टि-क्रम-निदर्शन के पूर्व सृष्टि के उन बीजों का निरूपण आवश्यक है, जिनके द्वारा निर्गुण, निर्लेप, निष्प्रपंच, निर्विकार तथा कार्यकारणातीत अद्वय ब्रह्म सृष्टि के आभासन में समर्थ होता है।

सृष्टिबीज—सुरेश्वराचार्य के अनुसार सृष्टि के तीन बीज हैं।[4]

(१) अविद्या—बुद्ध्यादि सूक्ष्मों में भी सूक्ष्मतम बुद्ध्यादि की कारण-भूता तथा कूटस्थवपु प्रत्यक् चैतन्य की संगकारिणी कारण चिदाभास गर्भित आत्मा-विद्या सृष्टि की प्रथम बीज है।[5] चिदाभास विशिष्ट इस अविद्या को साध्य-साधन-रूप-नामादि से व्याकृत होने से जगत् को अविनश्वरी बीजावस्था कहा जाता है।[6]

---

१. 'यथोक्ततत्त्वकान्येव रज्ज्वां क्लृप्तवस्तुवत्।
सूत्रं विराड् देवता च यावत्किंचिच्च वस्त्विह॥ (बृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा० ४ वा० ११४३)

२. नहि साधन सापेक्षं वस्तु स्यात्पारमार्थिकम्॥
परमार्थ न वस्त्वस्ति यत्परायत्त सिद्धिकम्॥
मोहोत्थाः पृथगात्मनः साध नायत्तसिद्धिकाः॥
सूत्रादयस्तृणान्ताः स्युन्योन्य व्यभिचारिणः॥
(वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ११४६-४७।

३. 'आपेक्षिकं तु यद्रूपं तन्मिथ्येत्युपपादितम्॥' (वही, अ० ४, ब्रा० ३, वा० १३२७)

४. 'अविद्या काम कर्माणि सृष्टिबीजमिदं दृशेः॥' (बृ० उ० भा० वा०-अ० ४, ब्रा० ३, वा० ९१५)

५. 'बुद्ध्यादिभ्योऽपि सूक्ष्मेषु यत्सूक्ष्मतममुच्यते।।बुद्ध्यादि कारणं नित्यमात्माविद्येति भण्यते॥
अपि कूटस्थवपुषः प्रतीचः संगकारकम्॥ (वही—अ० ४, ब्रा० ३, वा० ३४८-४९)

६. 'अथैतस्य यथोक्तस्य साध्यसाधनरूपिणः।जगतो व्याकृतस्याभूद्बीजावस्था विनश्वरी।
(वही—अ० १ ब्रा० ४ वा० १९७)

(२) काम—प्राणियों की उनके शुभाशुभ व्यामिश्र कर्मों के फल देने की इच्छा से ईश्वर में जगत् की सिसृक्षा काम है, जिसे सृष्टि का द्वितीय बीज कहा गया है।

(३) कर्म—जगत् के प्राणियों के कर्म जब परिपक्व होकर फलोन्मुख हो जाते हैं, तब वे सृष्टि के आरम्भ बीज बन जाते हैं। इस प्रकार कर्म सृष्टि का बीज माना जाता है।[१]

सृष्टि के इन तीन बीजों को भावना, ज्ञान एवं कर्म रूप साधन भी कहा गया है।[२] एक अन्य वार्तिक में अविद्या, कर्म तथा संस्कार रूप से भी इनका उल्लेख मिलता है।[३] यद्यपि साधन की दृष्टि से सृष्टि के बीज के रूप में तीन पृथक्-पृथक् नाम दिये गये हैं, पर अविद्या ही स्वातिरिक्त दोनों साधनों की मूल कारण है।[४] इन्हीं तीनों साधनों की व्यपेक्षा से सम्पूर्ण सृष्टि का व्याकरण संभव होता है।

सृष्टि-क्रम अर्थात् सृष्टि की त्रिविध अवस्था

सृष्टि को (१) अव्याकृत अवस्था (२) व्याकृत किन्तु सूक्ष्मावस्था तथा (३) व्याकृत किन्तु स्थूलावस्था रूप से तीन भागों में विभक्त किया जाता है। इन तीनों अवस्थाओं को क्रमशः अव्याकृत, मूर्त्त और अमूर्त्त भी कहा जाता है। सुरेश्वर सम्मत सृष्टि-क्रम अधोलिखित है—

(१) अव्याकृतावस्था—सृष्टि के पूर्व (प्रलयकाल में) सूक्ष्म एवं स्थूल सृष्टि की बीजभूता चिदाभास विशिष्ट अविद्या जगत् की अव्याकृतावस्था है। अविद्या यद्यपि स्वयं जाड्य-मौढ्य-मान्द्यापि लक्षणों वाली है, पर जड चिदाभास के द्वारा सत्ता-स्फूर्ति सम्पन्न होकर तथा जीवों के पूर्व-पूर्व फलोन्मुख कर्म संस्कार से प्रेरित होकर शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मक आकाश-वायु-तेज-जल तथा पृथिवीरूप पंच महाभूतों को पृथक्-पृथक् शुद्धरूप में उत्पन्न करती है। पूर्व पूर्व भूतभावापन्न साभासाविद्या उत्तरोत्तरभूतों की कारण है अतः उत्तरोत्तर भूतों में पूर्व पूर्व भूतों के गुण होते हैं।[५]

---

१. 'यावत्कार्यगतं किंचिद्, भावनादि समीक्ष्यते ॥ तमसावीजभूतंतद्व्यज्यते संस्कृतेः पुनः ॥ (वही—अ० १ ब्रा० ४, वा० ३४३)

२. 'भावना ज्ञानकर्माणि साधनानीति यद्यपि ॥' वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ११४५।

३. बृ० उ० भा० वा० १।४।२०५।

४. वही, १।४।११४५।

५. यद्यद्भूतं यथासंख्यं तत्तावद् गुणं स्मृतम् ॥
पूर्वैर्व्याप्तानि कार्यत्वादुत्तराणि यथाक्रमम् ॥
(तैत्ति० उ० भा० वा०, पृ० ७७, वा० ५२)

अतः आकाश में एक गुण (शब्द), वायु में दो गुण (शब्द-स्पर्श), तेज में तीन गुण (शब्द-स्पर्श-रूप), जल में चार गुण (शब्द-स्पर्श-रूप-रस) तथा पृथिवी में पाँच गुण (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) उपलब्ध होते हैं।[1] आचार्य सुरेश्वर ने साभास प्रत्यगविद्यारूप पंचभूतावलम्बित अपंचीकृत पंचमहाभूताश्रित आत्म सहवर्ति अविद्या कर्म तथा संस्कार को सृष्टि की अनभिव्यक्तया अव्याकृत या अव्यक्तावस्था मानी है।[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अवस्था में अविद्या-कर्म-संस्कार, अपंचीकृत पंचमहाभूत तथा आत्मा (ईश्वर) की स्थिति होती है। अविद्या-काम-कर्म-संस्कार-सध्रीचीन अव्याकृत पद व्यपदेश्य आविर्भूत शुद्ध पंचभूत अव्याकृत इसलिए कहे जाते हैं कि इनका केवल अस्तित्त्व समुज्जृम्भित होता है किन्तु तब भी नाम रूप व्यपदेशानर्ह बने ही रहते हैं। इस अव्याकृत अवस्था अथवा अव्याकृत अज्ञान को ईश्वर की उपाधि माना जाता है—यह पहले कहा जा चुका है।

(२) व्याकृत-सूक्ष्मावस्थाः—सृष्टि की सूक्ष्मावस्था के प्रारम्भ में उपर्युक्त अपंचीकृत पंचमहाभूतों के द्वारा आरब्ध समुदित ज्ञान तथा क्रिया-शक्ति के फल-स्वरूप हिरण्यगर्भ तथा सूत्रात्मा की सभूति होती है। हिरण्यगर्भ, प्राण व सूत्रात्मा का भेद सृष्टि की इस अवस्था में श्रुतिशिरोवेद्य है। परस्पर हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा में कोई भेद नहीं, क्योंकि एक ही परमात्मा संपिंडित ज्ञान शक्ति गत स्वाभास के कारण हिरण्यगर्भ की तथा संपिंडित क्रिया शक्ति गत स्वाभास के कारण सूत्रात्मा या प्राण की संज्ञा प्राप्त करता है। यह अपंचीकृत महाभूतों का समष्ट्यात्मक भेद है। इस अवस्था में अपंचीकृत महाभूतों का व्याष्ट्यात्मक भेद भी होता है। सर्वप्रथम इन अपंचीकृत महाभूतों के द्वारा ज्ञान क्रिया शक्त्यात्मक एक द्रव्य की उत्पत्ति होती है (जो बाद में अन्त-:करण-पद-व्यपदेश्य होता है।) यह समुत्पन्न द्रव्य अहंकार, चित्त, मन, और बुद्धि का संपिंडित, अविभक्त और अतिसूक्ष्म रूप है। इसके पंचभूतारब्ध ज्ञान शक्ति प्रधान अंश को अन्तःकरण कहा जाता है। अन्तःकरण के भी कार्यतः बुद्धि और मन यह दो भेद हो जाते हैं, यद्यपि बुद्धि एवं मन में वास्तविक भेद नहीं।[3] उक्त द्रव्य के क्रिया शक्ति प्रधान अंश को प्राण कहा जाता है। इसके भी कार्यतः प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान नाम से पाँच भेद माने जाते हैं।[4] इस प्रकार अपंचीकृत महाभूत से उत्पन्न समष्टि ज्ञान एवं क्रिया शक्ति का अभिमानी हिरण्यगर्भ तथा सूत्रात्मा

---

१. पंचीकरणवार्तिक, वा० ४-५½ पृ० १२-१३।
२. बृ० उ० भा० वा० अ० १,ब्रा० ४,वा० २०४-५।
३. बुद्धेश्च मनसश्चैक्यं विवक्षित्वोपसंहृतिः ॥' (बृ० उ० भा० वा० अ०१, ब्रा०५, वा०-५१५)
४. 'उत्सर्गो मुखनासाभ्यां पिंडस्य प्रणतिस्तया।
प्राणो नाम मरुद्वृत्तिरपानस्त्ववुनोच्यते ॥

अनेकों व्यष्टि अन्तःकरण मन, बुद्धि एवं प्राणों का कारण बन जाता है। इन मनो-बुद्ध्यादि उपाधियों में प्रतिफलित अथवा आभासित चैतन्य नाना जीव के रूप में परिगणित होता है। यद्यपि एक चिदाभास रूप जीव ही नाना चिदाभास-वपु जीवों के रूप में प्रतिभासित है तथापि स्वाभास के अविवेक से ब्रह्म को नाना जीव रूपों में माना जाता है।[1] इसके पश्चात् इसी अवस्था में प्रत्येक महाभूतों से एक-एक ज्ञानेन्द्रिय तथा एक-एक कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होता है। स्पष्ट शब्दों में आकाश से श्रोत्र-वाक् का, वायु से त्वक् पाणि का, तेज से चक्षु-पाद का, जल से रसना-वायु का तथा पृथिवी से घ्राण-उपस्थ का आविर्भाव होता है। कुछ लोगों ने 'तेजोमयी वाक्' (छा० उ० ६।५।४) श्रुति का आश्रय लेकर वागिन्द्रिय को तेज से तथा पाद को आकाश से उत्पन्न माना है।[2] जगत् की व्याकृत और सूक्ष्मावस्था में उत्पन्न सृष्टि का यही रूप है।

(३) व्यक्त स्थूलावस्था:—पंचीकृत भूतों से स्थूल भूतभौतिकादि संघात की उत्पत्ति होती है। अतः स्थूलावस्था की सृष्टि-निरूपण के पूर्व पंचीकरण का परिचय आवश्यक है।

पंचीकरण :—भूत भौतिकादि संघात की सृष्टि के लिए कुछ अद्वैतवेदान्ती त्रिवृत्करण मानते हैं और कुछ अद्वैतवेदान्ती पंचीकरण। अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति और उनके अनुयायियों का कहना है कि यद्यपि पंचीकरण सम्प्रदायसिद्ध है,

---

अवाग्वायोरपश्वासो देहस्यावाग्यतिस्तथा।
अपान एव कथितो व्यानः सांप्रतमुच्यते ॥
वीर्यवत्कर्महेतुत्वं व्याप्यदेहे च वर्तनम्।
व्यानवृत्तिरियंप्रोक्ताह्युदानाख्याऽपि कीर्त्यते ॥
योद्यमादि क्रियाहेतुस्तथाऽभ्युदय कर्मकृत्।
उत्कर्षहेतुर्देहे तु वृत्तिः सोदानसंज्ञिता ॥
समाहरति वृत्तीर्यो हृद्देशे कीलवस्थितः।
स समान इति ज्ञेयः सर्वकार्योपसंहृतिः ॥
(बृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा० ४, वा० १४५-४६)

१. 'स्वाभासैर्बहुतामेति मनो बुद्ध्याद्युपाधिभिः। (३. सिद्धान्तबिन्दु, पृ० ५६) से प्रो सी)
(बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ४, वा० ४२५)

२. पंचीकरणवार्तिकाभरण, पृ० १५ (गुजराती प्रिंटिंग प्रेस) तथा भामती, पृ० ५६२।

तथापि युक्ति विधुर होने के कारण आदरणीय नहीं। पंचीकरण पक्ष का खंडन करते हुए उनका कहना है कि पंचीकरण के फलस्वरूप जब पृथिव्यादि भागों का आकाश और वायु में प्रवेश होता है तब रूपवत्तत्व एवं महत्त्ववत् होने से आकाश और वायु का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, ऐसा होता नहीं, अतः पंचीकरण पक्ष युक्ति सह नहीं। 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकंकारवाणि' (छा० उ० ६।३।२[१])—इस श्रुति से भी त्रिवृत्करण पक्ष का निर्देश प्राप्त होता है, अतः त्रिवृत्करण पक्ष अमान्य नहीं। इसके विपरीत प्रतिबिम्बवादियों और आभासवादियों ने पंचीकरण पक्ष का समर्थन किया है। इन आचार्यों के मतानुसार पंचीकरण पक्ष व्यवहार भूमि पर आघृत है। पंचीकरण के कारण ही आकाश एवं वायु में अवकाश दानादि रूप स्थूल व्यवहार स्पष्ट देखा जाता है, अन्यथा आकाशादि में पृथिव्यंश न होने के कारण अवकाश दान आदि की कल्पना असंगत हो जायगी। अतः पंचीकरण मानना आवश्यक है। त्रिवृत्करणात्मिका श्रुति से पंचीकरण पक्ष का विरोध न हो एतदर्थ इन आचार्यों का कहना है कि जैसे वियदधिकरण (ब्रह्मसूत्र २।३।१) में भूत त्रय की सृष्टि पंचभूतोपलक्षणार्थक मानी गयी है, उसी प्रकार त्रिवृत्करण-श्रुति को भी पंचीकरण का उपलक्षण मानकर पंचीकरण में ही पर्यवस्थित समझना चाहिए। पंचीकरण पक्ष आभासपक्षानुमोदित है अतः आभासवादी आचार्य सुरेश्वर-सम्मत पंचीकरण-स्वरूप-निरूपण आवश्यक है।

पंचीकरण का स्वरूप—पृथिव्यादि पंचमहाभूतों का स्वार्धभागांश के साथ अन्य महाभूतों के अष्टमभागांश का ग्रहण अद्वैतशास्त्र में पंचीकरण के नाम से प्रसिद्ध है। पंचीकरण का क्रम इस प्रकार है—सर्वप्रथम प्रत्येक पृथिव्यादि महाभूत दो-दो भागों में विभक्त हो जाते हैं, पुनः अपने एक-एक भाग को चार-चार भागों में विभक्त कर लेते हैं, तदनन्तर अपने इन चारों भागों के एक-एक भाग को एक-एक भूत में समाविष्ट कर देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक भूत स्वार्धभाग तथा अन्य चार भूतों के अष्टम-अष्टम भाग से युक्त होकर पंचीकृत हो जाते हैं। पंचभूतों का यही आदान-प्रदान पंचीकरण कहा जाता है।[१] यद्यपि आकाशादि पंचीकृत भूतों में अन्यभूतों के अष्टमांश

---

१. "पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद्द्विधा।
एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत्पुनः॥
एकैकं भागमेकस्मिन्भूते संवेशयेत् क्रमात्।
ततश्चाकाशभूतस्य भागाः पंच भवन्ति हि।
वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत्॥
पंचीकरणमेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः॥
(पंचीकरण वार्तिक, वा० ८-१० पृ० १४)

का भी मिश्रण रहता है तथापि स्वभागाधिक्य के कारण पंचीकृत आकाशादि स्वशब्द से ही व्यपदिष्ट होते हैं।[१] पंचीकृतभूतों का स्वरूप निम्नलिखित प्रकोष्ठ के रूप में वर्णित किया जा सकता है।

आकाश	वायु	तेज	जल	पृथिवी		पंचीकृत भूत
१/२	१/८	१/८	१/८	१/८	=	आकाश
१/८	१/२	१/८	१/८	१/८	=	वायु
१/८	१/८	१/२	१/८	१/८	=	तेज
१/८	१/८	१/८	१/२	१/८	=	जल
१/८	१/८	१/८	१/८	१/२	=	पृथिवी

पंचीकृत भूत तथा सृष्टि की स्थूलावस्था

सृष्टि-बीज निरूपित करते समय यह उल्लिखित किया गया है कि जीवों के फलोन्मुख कर्म सृष्टि के मुख्य बीज हैं। परन्तु अब तक की अर्थात् व्याकृत सूक्ष्मावस्था पर्यन्त की सृष्टि जीवों को कर्मफलोपभोग कराने में समर्थ नहीं क्योंकि फलोपभोग में तीन तत्व अपेक्षित होते हैं—(१) ईश्वर (२) नाना जीव तथा (३) निखिल कर्म फलोपयोग्य त्रिविध-विचित्र-वस्तु-व्रातमय स्थूल जगत्। उपर्युक्त दोनों (अव्याकृत-व्याकृत) अवस्थाओं की सृष्टि में ईश्वर एवं जीव की अस्तिता हो जाती है, पर कर्म-फलोपभोगार्थक जगत् का अभाव रहता है। इसी अभाव को दूर करने के लिए अपंची-कृत महाभूतों का पंचीकरण होता है और यह पंचीकृत पंचमहाभूत इन्द्रियों के अधिष्ठान भूतभोगायतन को उत्पन्न करते हैं। इसी भोगायतन को शरीर कहा जाता है। शरीर का देव शरीर, मनुष्य शरीर तथा तिर्यगादि शरीरान्त शरीर-यह तीन भेद है। पंचीकृत भूतजन्य चतुर्दशभुवन तथा ऊर्ध्व-मध्यम-अधोभाव रूप से लोक के घटादि पर्यन्त पदार्थ-सार्थ इस अवस्था के विषय हैं। स्थूलावस्था के समस्त विषय अधिदैवत, अध्यात्म एवं अधिभूत रूप में विभक्त है।[२]

---

१. 'स्वस्यार्धभागेनेतरेषामष्टमभागेन च पंचीकरणम्मेलने अप्याधिक्यादाकाशादि शब्दप्रयोगः।' (सिद्धान्तबिन्दुः, पृ० ५८(गेयकवाड़, ओ० सीरीज)

२. पंचीकरण वार्तिक, वा० १२—२६, पृ०-२२-२६।

सृष्टि की आभास रूपता

उपर्युक्त अव्याकृत, व्याकृत तथा स्थूल क्रम से विकसित सृष्टि को जगत् भी कहा जाता है।[1] आविद्यक दृष्टि अर्थात् तमोवृत्त से सृष्टि अनादि है अतः आचार्य सुरेश्वर ने इस व्याकृताव्याकृतात्मक सृष्टि को नित्य, अनादि तथा दीपार्चिवत् प्रवाहवान् कहा है।[2] कारणता के प्रसंग में यह कहा गया है कि अविद्या, आभास और ब्रह्म-यह त्रितय पर्याप्त कारणता सुरेश्वर सम्मत है। कूटस्थ ब्रह्म को यद्यपि कारणता का एक तत्व माना गया है पर यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि अविद्यागत चिदाभास जिसे ईश्वर या सुरेश्वर सम्मत कारणाभास बताया गया है, वही सृष्टि का मूल उपादान तत्व है क्योंकि निष्क्रिय, निष्प्रपंच, निष्प्रदेश, निरासंग, कार्य-कारणातीत, अव्यावृत्ताननुगत परब्रह्म में कारणता की कल्पना या अनात्म-सृष्टि से सम्बन्ध मानना अविद्या के द्वारा या अविद्या दृष्टि से भी असंभव है।[3] मोहग चिदाभास अर्थात् कारणाभास जगत् का कारण है, पर चिदाभास से ब्रह्म की भेद प्रतीति न होने के कारण इस (ब्रह्म) को सृष्टि का कारण मान लिया जाता है, अन्यथा इसकी कारणता कथमपि उपपन्न नहीं। पूर्व-पृष्ठ-समालोचित तथ्य के पुनर्निदेश करने का अभिप्राय यह है कि सुरेश्वर सृष्टि का परिणामी उपादान चिदाभास विशिष्ट अविद्या या अविद्यागत चिदाभास को मानते हैं और ब्रह्म को केवल सृष्टि का विवर्तोपादान मानते हैं। सुरेश्वर ने स्पष्ट शब्दों में स्थान-स्थान पर इस सृष्टि को प्रत्यगाभासवती अविद्या-समुत्थित[4] कहा है। अतः प्रत्येक चैतन्य में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति,

---

१. 'सृज्यत इति सृष्टं जगदुच्यते सृष्टिः' (शांकर भाष्य, बृ० उ० १।४।५ पृ० ६३।, तथा बृ० उ० भा० वा-अ० १, ब्राह्मण ४, वा० २८, ६०६ तथा १३२५।)

२. 'एवं नृत्यज्जगन्नित्यमतद्वृत्त्याऽऽत्मनि स्थितम् ॥' (बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४ वा० १४८५); 'प्रवाहरूपो संसारो दीपार्चिवदवस्थितः।' (वही, अ० ३, ब्रा० ६, वा० १४४); 'ग्राहकग्रहणग्राह्यरूपोऽनात्मा प्रवाहवान्।' (वही, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ३३१) तथा 'अनादाविह संसारे'……। ('तैत्तिरीयोपनिषद्-भाष्यवार्त्तिकम्। वा० ३३, पृ० ६३)

३. 'अविद्याद्वारिकाऽप्यस्य संगतिर्नाजसेष्यते। निरात्मकपरार्थ त्वहेतुभ्यां शुक्तिरूप्यवत् ॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० १३२४) तथा वही-अ० १, ब्र० ४, वा० १३१८-२८, १२७२ और अ० ४, ब्रा० ४, वा० ५१६।

४. व्याकृताव्याकृतात्मकं विश्वं प्रत्यक्प्रत्ययमात्रकम् ॥ मोहोत्थाहमिति……।' (बृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा० ४, वा० १२८), युक्त्या नैव उपपद्यन्ते जगत्सृष्ट-याद्यो यतः। प्रत्यगज्ञानमात्रोत्या जगत्सृष्ट्या दयस्ततः ॥ (वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ६२५। तथा तै० उ० भा० वा० वा० ४३-४५, पृ० ७५।

और लय उसी प्रकार है जैसे अक्रिय एवं अविभाग व्योम में क्रिया तथा विभाग की कल्पना कर ली जाती है।[1] अज्ञान-कल्पित जगत् ब्रह्म में उसी प्रकार समध्यस्त है जैसे शुक्तिका में रजता या रज्जु में सर्प आदि।[2] इन विशिष्ट आध्यासिक दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि ब्रह्म में केवल संभावना[3] या परिकल्पना है। चिदाभासवती अविद्या को सृष्टि का उपादान माना जाता है। अतः सृष्टि वस्तु वृत्त से सत्य नहीं मानी जा सकती।[4] उपादेय उपादान के लक्षणों का अनुरोधी होता है। अतः उपादेय सृष्टि अपने उपादान अज्ञान के समान सद्सद्विलक्षण होने से अविचारित संसिद्ध, मिथ्या तथा वाच्य होगी।[5] आभास विशिष्ट अज्ञान को सुरेश्वर प्रतिष्ठापित आभास-प्रस्थान में आभास माना गया है।[6] अतः अज्ञान की कार्यभूत सृष्टि की आभास-रूपता स्वतः सिद्ध है।

सृष्टि में ब्रह्म का आभासाख्य प्रवेश[7]

'स एष इ ह प्रविष्टः' (बृ० उ० १।४।७), 'ता दृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत' 'स एतमेवं सीमानं विदार्येतया द्वारा प्रापद्यत' (उ० ३।१२) तथा 'सेयं देवतैक्षत हन्ताह मिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य' (छा० उ० ६।२।३) इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा का सृष्टि-कार्यों में प्रवेश अभिहित है। पर असंगोदासीन, असंहत, अप्रविष्ट स्वभाव, अव्यावृत्ताननुगत, अविकारी, अपरिणामी, अपरिच्छिन्न आत्मा का श्रौत-प्रवेश कैसे संगत हो? यह एक समस्या है। प्रवेश के विषय में अधोलिखित विकल्प हो सकते हैं :—

---

१. बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ६८८-६०।

२. 'किं नश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञान कल्पितम् ॥ अनात्मवस्तु यत्किंचित् तद्ब्रह्मानानवबोधतः ब्रह्मण्येव समदयस्तं शुक्तिकारजतादिवत् ॥' (बृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा० ४, वा० १२७६-८०। तथा अ० २, ब्रा० १, वा० ३८०)।

३. 'तस्मात्संभावनामात्रः संसारः प्रत्यगात्मनि।' (वही-अ० १ ब्रा० ४, वा० ४२१)

४. 'वास्तवं वृत्तिमापेक्ष्य न त्वियं सृष्टिरात्मनः।' (बृ० उ० भा० वा० अ० २, ब्रा० ४, वा० ३८३)

५. वही—अ० १, ब्रा० ४ वा० १३२६ तथा अ० ३, ब्रा० ४, वा० १२२६।

६. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ३४१, अ० ३, ब्रा० ३, वा० ८१ तथा अ० ४, ब्रा० ३, वा० ३६२।

७. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ५०१–६२३ तथा तै० उ० भा० वा०—३७८-४०३ पृ० १२५-२८।

(१) जैसे परिणामवश सर्पकृमि कीटादि-भावापन्न सर्वकार्यव्यापि पृथिव्यादि भूतों का उपर्युक्त सर्पादि आकार से पाषाण तथा काष्ठ आदि में प्रवेश संभव है, उसी प्रकार सर्वगत परब्रह्म का भी परिणाम द्वारा सृष्टि में प्रवेश संभव हो सकता है।[1]

(२) नारिकेलजलन्याय—अर्थात् जैसे नारिकेल के अन्दर जल व्याप्त रहता है उसी प्रकार परमात्मा सृष्टि में प्रविष्ट रहता है।

(३) जैसे जल में अर्क अथवा रविबिम्ब का प्रवेश होता है उसी प्रकार परमात्मा सृष्टि-प्रविष्ट है।[2]

(४) द्रव्य में गुण प्रवेश सम आत्मा का सृष्टि में प्रवेश है।[3]

(५) फल में बीज के समान परात्मा का तानाबाज्ञानोत्थ कार्यों में प्रवेश है।[4]

(६) मुख में हस्तादि के प्रवेश के समान आत्मा सृष्टि में प्रविष्ट है।[5]

आचार्य सुरेश्वर ने इन सभी विकल्पों का खंडन किया है। अपरिणामित्वादि शब्द-लक्ष्य आत्मा का परिणामाख्य प्रवेश न होने से प्रथम विकल्प संभव नहीं है। नारिकेलन्यायवत् प्रवेश स्वीकार करने पर आत्मा परिच्छिन्न हो जायगा और उसकी सर्वव्यापकता की हानि होगी, अतः द्वितीय विकल्प नहीं स्वीकृत हो सकता। आदित्यादि का जल में संयोग संभव हो सकता है, पर असंगानवच्छिन्न तथा संयोगादि रहित आत्मा का प्रवेश संभव नहीं, अतः जलार्क-प्रवेश रूप तृतीय विकल्प भी युक्तिसंगत नहीं। चतुर्थ विकल्प-विहित प्रवेश के समान भी आत्मा का सृष्टि में प्रवेश अनुपपन्न है क्योंकि सृष्ट्याश्रित न होने के कारण आत्मा को 'एष सर्वेश्वरः' इत्यादि श्रुतियों से स्वतंत्र बताया जाता है, इसके विपरीत गुणों की द्रव्य-परतंत्रता लोक सिद्ध है। सृष्टि में आत्मा का बीजवत् प्रवेश भी संभव नहीं क्योंकि वह बीज के समान सृष्टि के जन्मादि विक्रियारूप धर्मों से अनुगत नहीं हो सकता। कोई भी ऐसा कार्य अथवा देश ऐसा नहीं, जिसमें आत्मा अव्याप्त है, अतः सृष्टि में आत्मा का मुख-हस्तादिकल्पक प्रवेश भी नहीं हो सकता।

---

१. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ५३१-३२।

२. बृ० उ० भा० वा०-अ० १, ब्रा० ४, वा० ५४० तथा तै० उ० भा० वा० ८८ पृ० १२६।

३. बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० ५४२।

४. वही—अ० १, ब्रा० ४ वा० ५४४।

५. तै० उ० भा० वा० वा० ८३, पृ० १२४।

सभी विकल्पों का खंडन करने के पश्चात् सुरेश्वर ने अपने अभिमत आभासाख्य प्रवेश का प्रतिपादन किया है। उनका स्पष्ट कथन है[1] कि जैसे अज्ञान में प्रत्यक् का आभासाख्य प्रवेश रहता है उसी प्रकार अज्ञान-जन्य सृष्टि के निखिल वस्तुओं में भी परमात्मा का आभासात्मक प्रवेश संभव है। सृष्टि की अव्याकृतावस्था अर्थात् अविद्या-कर्म-संस्कारात्मिका साभास-प्रत्यग्वती अविद्या से लेकर सृष्टि को व्याकृत एवं स्थूलावस्था अर्थात् सूत्रादि से स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि में परमात्मा स्वाभास के द्वारा प्रविष्ट है। सुरेश्वर-सम्मत सृष्टि में परमात्मा का आभास संज्ञक प्रवेश सुरेश्वर के आभास-प्रस्थान को प्रतिबिम्ब प्रस्थान से व्यावृत्त कर देता है। सृष्टि कार्य में प्रतिबिम्बाख्य प्रवेशवादी प्रतिबिम्बवादियों के अनुसार सृष्टि बिम्बभूत ब्रह्म से अभिन्न है इसके विपरीत आभासाख्य प्रवेशवादी सुरेश्वर के अनुसार सृष्टि आभासरूप, काल्पनिक तथा अनिर्वचनीय है क्योंकि आभास अपने आभासी को स्वसमानुरोधी बना लेता है।[2]

बन्धस्वरूप

स्वरूपानवबोध के कारण जीवों के जीवन-मरण तथा अगणित, अनवसेय कर्मफलों की अविच्छिन्न भोग-परम्परा को बन्ध कहा जाता है। सुरेश्वराचार्य ने जीवों के लक्ष्यार्थ भूत शुद्ध बुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म की अनवबोध कारिणी अविद्या को बन्ध कहा है।[3] अविद्या को बन्ध मानने के कारण उन्होंने इस (अविद्या) को सकल अनर्थ हेतु का कारण[4] तथा आत्मा का मृत्यु बताया है।[5] एक अन्य वार्तिक में[6] कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि के कारणभूत चिदाभास को भी बन्ध का प्रमुख कारण माना गया है। अज्ञान

---

१. 'स्वात्माभासप्रवेशो यः प्रत्यङ्मोहनिबन्धनः। तज्जेष्वपि स एव स्यात् मरुद्बुद्ध्यादि मिषपु।' (बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० ४, वा० ५०८; 'सूत्रादि स्थाणुपर्यन्तं जगत्सृष्ट्वात्मभागया स्वाभासैक सहायात्मा तदेव प्राविशद्धरिः।' (बृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा० ४, वा० ५१४) तथा 'प्रविष्ट इत्यनेनात्र स्वाभासैक तमोन्वयात्। (वही—अ० १, ब्रा०४, वा० ५०१)

२. विवरणादि प्रस्थान विमर्शः, पृ० १२।

३. 'न चाविद्यातिरेकेण मुक्तेर्बन्धोऽन्य इष्यते॥'

(बृ० उ० भा० वा० अ० ३, ब्रा० ३, वा० २३)

४. वही—अ० २, ब्रा० ५, वा० १३०, तथा अ० ४, ब्रा० ४ वा० १७०।

५. वही—अ० ४, ब्रा० ३ वा० ४५२-४५७।

६. सर्वाभिमानहेतुं च चिदाभासं पुराऽत्रवम्॥
नगाद्भासनद्दृष्टान्तदर्शनेनाऽज्ञमचन्तुनः॥ (वही—अ० ४, ब्रा० ३ वा० ३७३)

को बन्ध-कारण मानकर आभास की बन्ध-कारणता स्वीकार करने में सुरेश्वर प्रस्थाना-नुसार कोई विरोध नहीं क्योंकि उनके मत में अज्ञान का स्वरूप आभास व्यतिरिक्त नहीं यह पहले निरूपित किया जा चुका है। आभास तथा अज्ञान स्वतः बन्ध के कारण नहीं हो सकते प्रत्युत् स्वकार्यात्मक संसाररूप अनर्थ के द्वारा जीवों को बन्धन-ग्रस्त करते हैं।[1] वार्तिककार के ग्रन्थों के परिशीलन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि विविध तथा विचित्र देव-तिर्यगादि की आभासात्मक योनियों में जीवों का घटीयन्त्रवत् अविरत परिभ्रमण ही बन्ध है।

बन्ध-के-हेतु

आचार्य सुरेश्वर के ग्रन्थों में बन्ध के अधोलिखित हेतु उपन्यस्त किये हैं[2]—

(१) अविद्या, (२) काम, (३) प्रवृत्ति, (४) धर्माधर्म तथा (५) देह।

इन हेतुओं में पूर्व-पूर्व हेतु उत्तर-उत्तर हेतुओं का बीज है। उपर्युक्त हेतुओं को बन्धमूलकता का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने नैष्कर्म्यसिद्धि में कहा है[3] कि घनतर अविद्या रूपी पटल से आवृत, स्वोपाधिभूत अन्तःकरण के कारण जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अशेष कर्माधिकार-कारणों को ग्रहण कर विधि-प्रतिषेध की प्रेरणा के संदष्ट से उपदष्ट हो विविध शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है और कर्मानुसार देवत्व कर्मों की अपेक्षा से देव-शरीर, निषिद्ध कर्मों के कारण तिर्यगादि नारकीय शरीर एवं व्यामिश्रित शुभ-निषिद्ध दोनों कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य-शरीर प्राप्त करता रहता है। कहने का आशय यह है कि शुभ-अशुभ तथा व्यामिश्रात्मक कर्मरूप वायु से समीरित जीव अधम, मध्यम तथा उत्तम सुख-दुःख-मोहरूपी चंचल विद्युत् के संपात की कारिणी नाना प्रकार की तिर्यक्, मनुष्य तथा देवादि योनियों में चंक्रमण करता हुआ घटीयंत्र के समान आरोहा-वरोह न्यायानुसार ब्रह्माद्यिष्ठानक सूत्रादि स्तम्ब पर्यन्त घोर दुःखोदधि भूत संसार में उसी प्रकार भटकता रहता है जैसे समुद्र मध्यवर्ति शुष्क अलाबु चण्ड, उत्पिंजलक तथा श्वसन इन विभिन्न प्रकार वाले वायु के वेगों से अभिहित हो निरन्तर चंचल होता रहता है।[4] इस प्रकार अविद्या काम एवं कर्मों के पाशों से बद्ध जीव सदैव जन्म-मरण-

---

१. वही—अ० ३, ब्रा० ५ वा० १-२ तथा ६४-६५।

२. अविद्या हेतवः कामः काममूला. प्रवृत्तयः। धर्माधर्मौ च तन्मूलौ देहोऽनर्थाश्रय-स्ततः॥ (तै० उ० भा० वा०-ब्रा० २५ पृ० ७१) तथा बृ० उ० भा० वा०-अ० १ ब्रा० ४, वा० १६८-७३)

३. नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ० १, पृ० २७।

४. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते घोर दुःखोदधौ घटीयन्त्रवदारोहावरोहन्यायेनाधममध्यमोत्तम सुख-दुःखमोह विद्युच्चपलसंपातदायिनीर्विचित्रयोनीश्चण्डोत्पिंजलकश्वसनवेगाभिहिताम्भोधि मध्यवर्तिशुष्कालाबुवच्छुभाशुभव्यमिश्रकर्मवायु समीरितः॥ वही, अ० १, पृ० २८।

भाजन होता रहता है।[1] मरण के बाद पुनर्जन्म होने में कोई विरोध नहीं क्योंकि आचार्य सुरेश्वर के अनुसार जैसे जन्म मरण का बीज है, उसी प्रकार मरण भी जन्म का बीज है।[2]

मरणस्वरूप विमर्श तथा देहान्तरप्राप्ति का विचार—

आभासवाद में (१) कारणात्मा में संसर्गरूप तथा (२) ज्ञान से ध्वान्त (अज्ञान) निवृत्तिरूप द्विविध मरण स्वीकृत किया गया है।[3] प्रथम मरण अज्ञानियों से और द्वितीय ज्ञानियों से सम्बन्धित है। स्पष्ट शब्दों में लिंग देह के द्वारा एक स्थूल शरीर का त्याग कर अन्य स्थूल शरीर का उपादान अज्ञानियों का मरण है तथा ज्ञान की अनलार्चि से निविडतम अज्ञान की निवृत्ति विद्वन्मरण है। प्रथम मरण में क्रिया कारकादि भेद के प्रत्यस्तमित होने का कोई प्रश्न नहीं, क्योंकि यहाँ अविद्या—काम तथा कर्म बने रहते हैं, इसके विपरीत द्वितीय मरण में संसृति—प्रवृत्ति हेतुक उक्त कारणों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस मरण के प्रसंग में हमें अविद्या निवृत्तिरूप द्वितीय मरण का वर्णन अभिप्रेत नहीं, प्रत्युत् लिंगोत्क्रमण रूप प्रथम का वर्णन अभीष्ट है। अतः इस मरण कालिक मुमूर्षु की स्थिति आदि का उपन्यास किया जा रहा है।

मरणोन्मुख जीव की दशा—

जब संसारी जीव जरा-रोगादि हेतुओं से दुर्बल हो संमोह अर्थात् विषयों को ग्रहण करने की अशक्ति को[4] प्राप्त होता है, उस समय उसके वागादि इन्द्रिय उसके अभिमुख हो जाते हैं। मुमूर्षु जीव का उत्क्रान्ति काल में चक्षुः श्रोत्रादि लक्षणों वाली तेजोमात्राओं का हृत्सद्म में सम्यक् अभ्यादान अर्थात् उपसंहार ही वागादि इन्द्रियों का

---

१. 'घटीयन्त्रवदभ्रान्ता एवमेव पुनः पुनः। परिवर्तन्ति संसारे कर्मवायुसमीरिताः।' (बृ० उ० भा० वा० अ० ६, ब्रा० २, वा० १५५) तथा 'एवं चंक्रम्यमाणोऽयमविद्याकामकर्मभिः। पाशितो जायते कामी म्रियते चानुस्यावृतः।' नै० सि० अ० १, का० ४२ पृ० २८।

२. 'मृतिर्बीजं भवेज्जन्म जन्मबीजं तथा मृतिः। तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिकम्, वा० २१, पृ० ९०।

३. अज्ञानिनः स्यान्मरणं संसर्गः कारणात्मनि।
ज्ञानद्ध्वान्तनिवृत्तिस्तु मरणं स्याद्विपश्चिताम्॥
(बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० १९७३)

४. उत्क्रान्ति काले प्राणा वा स्वस्थानादात्महेतुकाः।
स्वगोचरेष्वशक्तिर्या संमोहोऽस्याविहात्मनः॥ (वही, अ०४, ब्रा० ४ वा० १२)

आत्मप्रत्यभिमुखीभवन है।[1] वागादि प्राणों का जीवात्मा में सम्यक् उपसंहार मरण का कारण है क्योंकि इस अवस्था में जीवात्मा का अंगों से विमोक्षण[2] हो जाता है। सकल इन्द्रियों के हृदय में उपसंहृत हो जाने पर मरण काल में यियासु पुरुष के हृदय का अग्रभाग प्रद्योतित हो जाता है। चिदाभास विशिष्ट भाविदेह सम्बन्धित वासना प्रद्योत-पदाभिलप्य है।[3] मरण के षण्मास पूर्व से ही प्रारम्भ होने वाली 'अहमस्मि' इत्याकारक भावि देहाकारात्मिका वासना उत्क्रान्ति काल के समय जीव के हृदयाग्र में उपस्थित हो जाती है।[4] इसके पश्चात् पूर्वोक्त वासना के द्वारा मार्ग दिखाया जाता हुआ लिंग देहगत चिदाभासरूप जीव प्राप्तव्य देह में 'अहम्' इत्याकारक तादात्म्याभिमानी हो कर्मानुसार यथाश्रुत चक्षुरादि के द्वार से हृत्पटलतः उत्क्रान्त हो जाता है। यदि इसके कर्म आदित्यलोक की प्राप्ति कराने वाले होंगे तो लिंगात्मनिष्क्रमण चक्षुर्द्वार से होगा और यदि ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने वाले होंगे तो फिर से उत्क्रमण होगा। इसी प्रकार अन्य प्राप्तव्य लोकों के प्रद्योतित होने पर यह मुखादि अन्य द्वारों से उत्क्रान्त होता है। यद्यपि लिंगात्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, किन्तु उसकी गति लोह एवं समुद्र आदि में भी नहीं प्रतिहत होती है। अतएव इसकी गति सर्वत्र सम्भव है।[5] स्वामी विद्यारण्य ने अपने वार्तिकसार में इस लिंगात्मा की गति के लिए पट सूची की उपमा दी है।[6] पटसूची की उपमा का अभिप्राय यह है कि जैसे सूची किसी भी प्रकार के वस्तु में सद्यः निष्प्रतिपन्न

---

१. बृ० उ० भा० वा० अ० ४, ब्रा० ४, वा० १६-२३।

२. उक्तं विमोक्षणं तावत्करणानां स्वदेशतः।
असंविज्ञातता चोक्ता हृदये चोपसंहृतिः॥ (बृ० उ० भा० वा० अ० ४, ब्रा० ४ वा० ७२)

३. भाविलोकात्मिका याऽस्य प्रत्यक्चैतन्यबिम्बिता।
वासनैवाऽऽत्मनः प्रोक्ता प्रद्योतवचसा स्फुटम्॥ (वही—अ० ४, ब्रा० ४, वा० ७८)
तथा बृहदारण्यकवार्तिकसारः, अ० ४, ब्रा० ४, वा० २५, पृ० ८८३।

४. बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक टीका, पृ० १७३३।

५. लिंगं च सर्वतो गच्छन्नक्वचित्प्रतिहन्यते॥ अतिसूक्ष्मस्वभावत्वादपि लोहसमुद्रगम्'। (बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८६)

६. 'अतिसूक्ष्मस्वभावत्वात्सूक्ष्मसूची पटे यथा॥'
(बृ० वा० सार, अ० ४, ब्रा० ४, वा० २६ पृ० ८८३।)

समाविष्ट हो जाता है उसी प्रकार लिंगगत चिदाभासरूप जीव भी कर्मानुसार किसी भी शरीर में निर्बाध रूप से प्रविष्ट हो जाता है।

जीव के देहान्तर-गमन में हेतु—

देहाद्बहिर्गत लिंगात्मा के लोकान्तरगमन एवं देहान्तरारम्भ के लिए 'तं विद्या कर्मणी समन्वारभते पूर्व प्रज्ञा च' (बृ० उ० ४।४।२) इस श्रुति के द्वारा (१) विद्या (२) कर्म तथा (३) पूर्व प्रज्ञा—यह तीन हेतु श्रावित है। आचार्य सुरेश्वर के शब्दों में इन तीनों कारणों का स्वरूप तथा कार्य अधोलिखित है :—

(१) विद्या—विज्ञान, संशयज्ञान, मिथ्याज्ञान तथा प्रमाणजन्य अथवा अप्रमाणजन्य सर्वविध जैवज्ञान विद्या पदाभिधेय हैं।[1] उपनिषत्प्रोक्त 'विद्या' पद से यहाँ संसार कारण-प्रध्वंसि सम्पूर्ण कारणों की अपनुत्तिकारिणी ब्रह्म विद्या अभिप्रेत नहीं है, प्रत्युत् बन्ध हेतुक अज्ञान तथा उसके कार्यभूत मिथ्याज्ञान आदि का ही प्राक्कलन संभव है क्योंकि सुरेश्वर के अनुसार यह विद्या अविद्याजन्य होने के कारण अविद्यारूप है।[2] इस विद्या अर्थात् अविद्या का कार्य परिच्छेत्तृत्व एवं विनिर्मातृत्व है।[3] कहने का अर्थ यह है कि इसी अविद्या के द्वारा देहान्तर के रूप-परिमाणादि का विनिर्माण होता है।

(२) कर्म—शास्त्र से अथवा अन्य प्रमाण से दृष्ट विषयक अथवा अदृष्टविषयक वाणी, मन और शरीर से साध्य जो हो, वह कर्म है।[4] कर्म का कार्य देहविकर्तृत्व है।[5] तात्पर्य यह है कि विकार रूप देह के अवयवों का उपचय इस कर्म से होता है।

---

१. विज्ञानं संशयज्ञानं मिथ्याज्ञानं तथापि वा। प्रमाणतोऽप्रमाणाद्वा सर्वं विद्येति भण्यते॥ (बृ० उ० भा० वा० अ० ४, ब्रा० ४ वा० ११२) तथा बृ० वार्तिकसार, ४।४।८० पृ० ८८५।

२. बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ११३-११४।

३. वही, अ० ४, ब्रा० ४, वा० १२५।

४. वाङ्मनकायसाध्यं च शास्त्रतो यदि वाऽन्यतः।
दृष्टादृष्टार्थरूपं यत्तच्च कर्मेति गृह्यते॥

(वही—अ० ४, ब्रा० ४, वा० ११४)

५. वही—अ० ४, ब्रा० ४, वा० १२५।

पूर्व प्रज्ञा—क्रियमाण कर्म के चिदाभास विशिष्ट हृदयस्थित संस्कार को पूर्व प्रज्ञा कहा जाता है। स्पष्ट शब्दों में पूर्वोपचित संस्कार हेतुओं के द्वारा मरते हुए जीव के हृदयाग्र में पणमात्र शेष रहने पर ही भाविलोक की परिचायिका 'अहमस्मि' रूप से जो वासना अभ्युदित होती है, वही पूर्व प्रज्ञा है।[1] पूर्व प्रज्ञा का कार्य विद्या तथा कर्मों का निर्वहण है, इसीलिए यह विद्या और कर्म की 'बोढी' कही जाती है।[2] इसका एक नाम वासना भी है। मृत के विद्या और कर्म स्वरूपतः नहीं बने रह सकते क्योंकि वहाँ पर कारक भिन्न-भिन्न नहीं रहते। वासनात्मक रूप से उनकी स्थिति सम्भव है और इसीलिए वासना का पृथकतः परिगणन किया जाता है।[3] भुज्यमान-कर्म की परिशेषात्मिका भावना जायमान देह की मूल है, अतएव तीनों हेतुओं में इसकी प्रधानता अंगीकृत है।[4] इन्हीं तीनों हेतुओं की अपेक्षा से लिंगगत चिदाभास जीव का देहान्तर से संयोग होता है।

सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिक में लिंगगत चिदाभास रूप जीव के गमन के विषय में अनेक वादियों की विप्रतिपत्तियों को उपन्यस्त किया है :—

(१) दिगम्बर मतानुसार जैसे परिच्छिन्न पक्षी एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर चला जाता है उसी प्रकार जीव भी एक देह को छोड़कर देहान्तर की प्राप्ति करता है।[5]

(२) देवतावादियों का कहना है कि (देवता द्वारा) अतिवाहिक देह[6] से जीव देहान्तर को प्राप्त कराया जाता है।[7] विद्यारण्य ने वार्तिकसार में इस मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव देवता के द्वारा उसी प्रकार परलोक में ले जाया जाता है जैसे नाव के द्वारा मनुष्य जल में ले जाया जाता है।[8]

(३) सांख्यादि मतावलम्बियों का विचार है कि शरीरस्थ जीव की संकुचित इन्द्रियां मरने पर उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं तथा देहान्तर के प्रारम्भ होने

---

१. बृ० उ० भा० वा० अ० ४, वा० ११८-२०।

२. वही, अ०४, ब्रा०४, वा० १२५।

३. वही, अ०४, ब्रा० ४, वा० १२१।

४. 'कर्मणोभुज्यमानस्य परिशेषो हि भावना ॥ मूलं च जायमानस्य प्रधानं तेन भण्यते।
(वही, अ० ४, ब्रा०४, वा० १२४।)

५. वही, अ०४, ब्रा०४, वा० १२६।

६. देवता येन देहेन विशिष्टं जीवं परलोकं नयति सोऽयमतिवाहिकी देहः।'
(आनन्दगिरि टीका, बृ० उ० भा० वा० पृ० १७४४।)

७. बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा०४, वा० १२७।

८. 'अतिवाहिक देहेन यति नावो जलायथा ॥' (बृहदारण्यकवार्तिकसार, ४।४।४६
पृ० ८८७

पर पुनः संकुचित हो जाती है जैसे कुम्भस्थ प्रदीप की प्रभा बुझने के समय विकसित (विर्वाद्धत) हो जाती है तथा पुनः जलने पर संकुचित हो जाती है।[१]

(४) वैशेषकादि राद्धान्तों के अनुसार केवल मन एक देह से दूसरे देह में व्रजन करता रहता है क्योंकि आत्मा तो विभु है अतः उसके लिए एक देह से दूसरे देह में जाना संभव नहीं।[२]

उपर्युक्त पक्षों का खंडन करते हुए स्वाभिमत औपनिषद् पक्ष के अनुसार वार्तिककार का कथन है कि वाणी, मन तथा प्राण लक्षणात्मक जो भी करण (इन्द्रिय) हैं, वे सब सर्वात्मक हिरण्यगर्भ और प्राण पर अवलम्बित होने के कारण सर्वात्मक हैं और प्रति शरीर भिन्न-भिन्न होने के कारण पिंडात्मक अर्थात् व्यष्टिरूप भी हैं। इन इन्द्रियों का आध्यात्मिक और आधिभौतिक परिच्छेद जीवों के कर्म, ज्ञान तथा भावना के फलस्वरूप है। इस प्रकार स्वभावतः सर्वात्मक तथा अनन्त होने पर भी भोक्ता प्राणों के कर्म, ज्ञान और पूर्व प्रज्ञा के अनुसार देहान्तर के आरम्भवश तत्काल में प्राणों की वृत्ति का संकोच या विकास होता है।[३] 'समः प्लुषिणा समो मशके न' (बृ० उ० १।३।२२) इत्यादि श्रुतियों से भी अविद्या, कर्म तथा पूर्वप्रज्ञा के द्वारा प्राणों के परिच्छेद और विस्तार का समर्थन प्राप्त होता है।[४] करणों का जो भी स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्य तथा अणिमादि ऐश्वर्य है, वह सब विद्या, कर्म तथा भावना हेतुक है।[५] लिंगगत चिदाभास रूप जीव के देहान्तर-गमन-साधक श्रुति प्रोक्त तृणजलूकान्याय को स्पष्ट करते हुए आभासवादी आचार्य का कहना है[६] कि जैसे एक तृण के अग्रभाग पर स्थित जलूका अपने मुख से तृणान्तर का अवलम्बन करके अपने पूर्वावयव को उत्तरावयव में संहृत कर लेती है, उसी प्रकार लिंगगत चिदाभासरूप जीव कर्मों के क्षय हो जाने पर पूर्वोपात्त शरीर को निहत कर स्वात्मलिंगोपसंहार के कारण उक्त शरीर को अचेष्ट कर देता है। कथित जड़ शरीर को इस प्रकार संज्ञाशून्य तथा अविद्या में लीन कर भावना-भावित जीव पुनः देहान्तर को प्राप्त करता है। स्पष्ट शब्दों में पूर्वदेहस्थ आत्मा

---

१. बृ० उ० भा० वा०, अ०४ ब्रा०४, वा० १२७।
२. वही।
३. 'सर्वगतानां स्यात्करणानामिहात्मनि ॥
श्रुतकर्मानुरोधेन वृत्तिहान्युद्भवो क्वचित् ॥ (वही-,अ० ४ ब्रा०४, वा० १२८)
४. वही-अ० ४ब्रा०४, वा० १३०।
५. स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं वाऽणिमाद्यैश्वर्यमेव वा।
करणानामिदं सर्वं ज्ञानकर्मादि हेतुकम् ॥ (वही-अ०४, ब्रा०४, वा० १३१)
६. बृ० उ०भा० वा०, अ०४, ब्रा०४वा० १३३-१३६।

अर्थात् लिंग का देहान्तर में संहृत होना ही लिंगगत चिदाभासरूप जीव की देहान्तर प्राप्ति है। यह तो रही देहान्तरारम्भ की विधि, किन्तु देहान्तर के आरम्भ में उपादान क्या है? इस प्रश्न का उत्तर 'तद्यथा-पेशस्कारी पेशसो मात्रापदाय अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते।' (बृ० उ० ४।४।३) इस श्रुति से प्राप्त होता है। श्रुति श्रावित पेशस्कारी दृष्टान्त का अभिप्राय यह है[1] कि जैसे पेशस्कारी अर्थात् स्वर्णकार स्वर्णांश ग्रहण कर पूर्व रचना विशेष का विमर्दन कर उससे भिन्न नवीनतर तथा कल्याणकर रचनान्तर का निर्माण कर देता है, उसी प्रकार यह पेशः स्थानीय लिंगात्मा नित्योपात्तभूतों और करणों का उपमर्दन कर दूसरे-दूसरे देहों को अर्थात् पूर्वापेक्षा नवतर और कल्याणकर रूप संस्थान विशिष्ट देहान्तर को पूर्व कर्म तथा प्रज्ञा के आधार पर प्राप्त कर लेता है। इन्हीं कर्म तथा प्रज्ञा में अनुसार पित्र्यादि योग्य पित्र्य शरीरों तथा अन्य बहु-रूपात्मक देह-जात को भी प्राप्त करता है। इस मरण के स्वरूपादि के विमर्श से यह नितान्त स्पष्ट है कि जीव कभी भी जन्म-मरणादि से विरत नहीं और यही अविच्छिन्न जन्म-मरण-परम्परा-जीवात्मा का बन्ध है। यद्यपि अविद्या,काम और कर्म के अंकुश से आकृष्ट जीव अनादि काल तक बन्धन-ग्रस्त रहता है पर यह अनादि कालिक बन्धन भी आभास प्रस्थान के अनुसार आभासातिरिक्त अन्य कुछ नहीं। तभी तक यह बन्ध सत्य प्रतीत होता है जब तक जीव को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। स्वरूपावगम के पश्चात् इसकी निवृत्ति अवश्यम्भावि है।

बन्धन-निवृत्ति के उपाय—

बन्धन-निवृत्ति में शांकराद्वैतसम्मत कर्मोपयोगिता

बहुत से विद्वानों ने शांकर वेदान्त का आपाततः अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि अद्वैत वेदान्त में लौकिक एवं वैदिक सभी प्रकार के कर्मों के आचरण को सांसारिक बन्धन का हेतु स्वीकार किया गया है और ज्ञान में कर्म का कथमपि उपयोग न होने से मुमुक्षु को कर्मों के न करने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार के निष्कर्ष से लोगों में यह धारणा बन गई है कि अद्वैत वेदान्त ऐसा दर्शन है जो लोगों को कर्मों के पूर्णतः बहिष्कार का उपदेश देता है तथा संसार को पलायनवादिता का पाठ पढ़ाता है, अतः इसका कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं। पर यदि शांकर वेदान्त का गवेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो इन निष्कर्षों और धारणाओं को विपश्चितों की बुद्धि की उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं माना जा सकता। अद्वैत वेदान्त में कर्मों की उपयोगिता इसी से निश्चित की जा सकती है कि यह शास्त्र सर्वप्रथम शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान का उपदेश देता है क्योंकि इन कर्मों के अनुष्ठान के अभाव में अन्तः

---

१. वही, अ०४, ब्रा०४ वा० १३८-१४६।

करण की शुद्धि असंभव है। अंतःकरण की शुद्धि के अभाव में न तो संजिहीर्षा की कल्पना की जा सकती है और न मोक्ष के मार्गो का मार्गण ही संभव है। सभी भारतीय दर्शनों के समान अद्वैत वेदान्त में भी कर्मो का उपयोग है। प्रो० हिरियन्ना ने कहा है[१] कि 'वैराग्य की अभिवृद्धि की आकांक्षा से प्रायः सभी भारतीय दर्शन आचार मार्ग का उपदेश देते हैं। उक्त वैराग्य तक लिए कर्मो का आचरण सभी दार्शनिकों को अभ्युपगत है, भले ही विभिन्न सम्प्रदायों के अनुसार इसका पृथक्-पृथक् रूप से उपयोग बताया गया हो। अद्वैत वेदान्त के लिए इसकी कितनी अपेक्षा है, यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि शंकराचार्य ने ब्रह्म सूत्र भाष्य के बहुत आरम्भ में ही ब्रह्म ज्ञान के साधन चतुष्टय सम्पत्ति में इसका अन्तर्भाव किया है। 'साधन चतुष्टयान्तःपाति' 'नित्यानित्य-वस्तु विवेक'[२] वह साधन है, जिसके साथ कर्मानुष्ठान की अपेक्षा है क्योंकि प्राग्भवीय या ऐहिक या वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से विशुद्ध सत्त्व पुरुष को ही नित्यानित्यवस्तु-विवेक होता है—यह अनुभव एवं उपपत्ति सिद्ध तथ्य है।[३] अतः कहा जा सकता है कि अद्वैत शास्त्र कर्मो के पूर्णतः बहिष्कार का उपदेश नहीं देता प्रत्युत् उनका उपयोग प्रारम्भिक अवस्था में स्वीकार करता है। कोई भी कट्टर अद्वैत वेदान्ती जो केवल ज्ञान को ही साक्षात्कार का साधन मानता है, वह भी कर्म की गौण या बहिरंग साधनता में विरोध नहीं व्यक्त कर सकता।[४]

१. "Nearly all the Indian systems of Philosophy teach, on their practical side, the necessity for cultivating Vairagya. The reasons assigned for its cultivation may vary in the different systems, but they all agree that it is necessary. The need for it, so far the Advaita is concerned, is clear from its inclusion in the fourfold aid to Brahman-knowledge set-forth by Sankara in the very beginning of his commentary on the Vedanta-Sutra" (The place of Feeling in Conduct (Advaita), philosophical quarterly, Vol XII, p. 193, Ls. 1–7)

२. ब्र० सू० शा० भा०, १।१।१ पृ० ३६।

३. 'सोऽयंनित्यानित्यवस्तुविवेकः प्राग्भवीयादैहिकाद्वा वैदिकात्कर्मणो विशुद्धसत्त्वस्यभवत्यनुभवोपपत्तिभ्याम्। (भामती, जिज्ञासाधिकरण, पृ० ३६)

४. 'Even a rigorous advaitin, accepting knowledge alone as the means can possibly have no objection in recognising feeling as a secondary means' (J. R. V. Murti; The place of feeling in Conduct, philosophical quarterly for 1936-37, Vol xii, p. 209 Ls, 1–3)

आभासवादी आचार्य सुरेश्वर केवल सकाम कर्मों का ब्रह्मज्ञान में किंचित् उपयोग नहीं मानते। इसके विपरीत जितने भी नित्य-नैमित्तिक कर्म हैं, उन सबका ब्रह्मज्ञान में आनुषगिक उपयोग स्वीकार करते हैं।[1] नित्य-नैमित्तिक कर्मों के द्वारा आत्मविशुद्धि अर्थात् सत्त्वशुद्धि होती है, अतएव उन्होंने आत्मज्ञानाभिलाषी मुमुक्षुओं को इन कर्मों के करने का उपदेश दिया है।[2] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य के नौ वार्तिकों[3] में 'इदं मेऽङ्गमैनेन' इत्यादि श्रुतियों तथा 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि।' इत्यादि अनेक स्मृतियों को उद्धृत करते हुए उन्होंने अपने इस कथन को प्रमाणित किया है कि कर्मों के द्वारा मनुष्य की बुद्धि की शुद्धि होती है और कर्म विविदिषा के द्वारा ज्ञान में उपयोगी है। कर्मानुष्ठानों की बुद्धि संशुद्धिहेतुता को स्पष्ट करते हुए उनका कहना है[4] कि रजस् एवं तमस् के मल से उपसंसृष्ट ही चित्त कामबडिश के द्वारा आकृष्ट हो शब्दादि विषयरूप दुरन्त जन्म-मरण हेतुक सूना स्थानों में निक्षिप्त किया जाता है अतः जब नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान के परिमार्जन से चित्त का रजस् एवं तमस् रूप मल व्यावृत्त हो जाता है, तब वह संमार्जित स्फटिक-शिला के सदृश प्रसन्न अर्थात् विशुद्ध तथा अनाकुल तथा अचल हो जाता है और वाह्य विषय अर्थात् शब्दादि हेतुक राग-द्वेष रूप अतिग्रह बडिश से आकृष्ट न होने के कारण दर्पण तुल्य अवस्थित हो जाता है। इस रूपकात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से चित्त की सम्पूर्ण चंचलता समाप्त हो जाती है तथा चित्त सम्प्रसादित हो जाता है। मनोलौल्य मनुष्य को इन्द्रियों के वश में रखता है, अतः नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान से चित्त की चंचलता के अभाव में मनुष्य जितेन्द्रिय भी

---

१. बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० १०४०-७०।

२. 'तस्मान्मुमुक्षुभिः कार्यमात्मज्ञानाभिलाषिभिः॥
नित्यं नैमित्तिकं कर्म सदैवात्मविशुद्धये॥ (नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ० १, का० ५०, पृ० ३२)

३. बृ० उ० भा० वा० अ० ४, ब्रा० ४, वा० १०४२-४६।

४. 'यस्माद् रजस्तमोमलोपसंसृष्टमेव चित्तं कामबडिशेनाकृष्य विषय दुरन्तसूनास्थानेषु निक्षिप्यते तस्मान्नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान परिमार्जनेनापविद्धरजस्तमोमलं प्रसन्नमनाकुलं संमार्जित स्फटिक शिलाकल्पं वाह्यविषयहेतुकेन च रागद्वेषात्मकेनातिग्रहबडिशेनानाकृष्यमाणं विधूताशेषकल्मषं प्रत्यङ्मात्रप्रवणं चित्तदर्पणमव तिष्ठते॥

(नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ० १ पृ० ३०।)

हो जाता है। यह कर्म चित्त को शान्त एवं स्वच्छ बना देते हैं। जिसके द्वारा मनुष्य ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी होता है क्योंकि 'नाशान्तमानसावापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्' (कठ० उ० १।२।२४) इत्यादि श्रुतियों से अशान्त चित्तों को ब्रह्मज्ञान का अनधिकारी बताया गया है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अतिरिक्त सुरेश्वराचार्य ने निष्काम काम्य कर्मों का भी विविदिषा में उपयोग माना है क्योंकि यह कर्म भी कभी-कभी चित्त के मलों को दूर करते हैं तथा चित्त को सांसारिक सुखादि के प्रति विरक्त कर देते हैं।[1] एक स्थान पर उन्होंने संसार को अपामार्ग की लता के समान विरुद्धफलदायक बताया है।[2] जिससे यह निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि काम्य कर्म भी विरुद्ध फलदायक है अर्थात् जैसे अनुलोम स्पृष्ट अपामार्ग लता मृदुस्पर्श से दुःखाभाव की हेतु बनती है और प्रतिलोमस्पृष्ट हो कर्कशता के कारण दुःख की हेतु बनती है उसी प्रकार काम्यकर्म भी अनासक्त चित्त वाले पुरुषों के द्वारा अनुष्ठीयमान होने पर विमोक्षोपयोगी होता है तथा आसक्त चित्त वाले पुरुषों के द्वारा अनुष्ठीयमान होने पर संसार का कारण बन जाता है। प्रतिषिद्ध कर्मों का वर्जन तो कर्मकांड में भी किया गया है फिर ज्ञानकांडात्मक अद्वैत-वेदान्त में उसके अभ्युपगम का कोई प्रश्न नहीं।[3] नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान ब्रह्म साक्षात्कार का सर्वप्रथम सोपान माना गया है। यह शरीर को पवित्र करता है तथा उसे 'ब्राह्मी तनु' बना देता है।[4] कर्मानुष्ठान चित्त की उन सभी मलिनताओं तथा दूषणों को दूर कर देता है, जिसके कारण चित्त जन्म-जन्मान्तर में ज्ञान-बहिर्मुख रहा है। कर्मों के इस उपयोग को ध्यान में रखते हुए आचार्य सुरेश्वर कहते हैं कि यज्ञ, दान तथा तप आदि जितने भी सत्कर्म हैं, उनका परित्याग मुमुक्षुओं को नहीं करना चाहिए। इनके अभाव में शरीर एवं मन इन दोनों की शुचिता असम्भाव्य है। अष्टोत्तर चत्वारिंशत् (४८) संस्कार भी चित्त-संशुद्धि के लिए अपेक्षित है। जब तक कथित नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान कर चित्त को शुद्ध नहीं बनाया जायगा तब तक भवविरक्ति

---

१. 'यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपिकर्मणाम्।
तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः।।
(बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० १०५२)

२. 'अपामार्गलतेवायं विरुद्धफलदो भवः।
प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय संसाराय पराग्दृशाम्।। (बृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा० ४, वा० २७)

३. निषिद्धस्य निषिद्धत्वात्कर्मकांडेऽपि कर्मणः।
कुतो वेदान्त विद्यायां तस्य प्राप्तिर्मनागपि।। (वही, अ० ४, ब्रा० ४ वा० १२०४)

४. वही—अ० ४, ब्रा० ५, वा० १०४६।

दुराशामात्र है[1] क्योंकि कर्मों के अनुष्ठान से यह निश्चित होता है कि लोक में ऐसा कोई सुख नहीं, जो दुःखकर नहीं अतः इनका परित्याग करके आत्यन्तिक सुख का आश्रयण लेना चाहिए ।[2]

साधन चतुष्टय—

शांकराद्वैत के अनुसार साधन-चतुष्टय निम्न हैं :—

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक, (२) इहामुत्रार्थफलभोगविराग (३) शमदमोपरतितितिक्षा समाधानश्रद्धा तथा (४) मुमुक्षुत्व ।

इन साधनों के सम्बन्ध में सभी शांकरमतानुयायियों का मतैक्य है । अतः इन सबका विवरण अनावश्यक है । (१) शम, (२) दम, (३) उपरति, (४) तितिक्षा, (५) समाधान तथा (६) श्रद्धा के भेद से छः अवान्तर साधनों वाले तृतीय साधन के क्रम एवं स्वरूप के विषय में सुरेश्वराचार्य ने कुछ अन्तर किया है ।[3] उनके अनुसार तृतीय साधन का क्रम और स्वरूप अधोलिखित है—

(१) दमः—वहिष्करण चेष्टा अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के विषयाभिनिवेश की निवृत्ति दम है ।[4] कहने का आशय यह है कि विषयों की ओर उन्मुख होते हुए बाह्य इन्द्रियों के नियंत्रण को सुरेश्वर ने दम माना है । दम का यह अर्थ तथा शम के पूर्व ही दम का आश्रयण भाष्यकाराभिमत नहीं क्योंकि भाष्यकार ने इसे तृतीय साधन के अवान्तर साधनों में द्वितीय माना है—तथा इसका स्वरूप अन्तःकरण-तृष्णा-निवृत्ति के रूप में स्वीकृत किया है ।[5] सुरेश्वर ने अपनी मान्यता की 'दान्तोऽश्वो गोर्गजो वाऽपि' इस वृद्ध प्रयोग से समर्थित किया है ।

(२) शमः—भाष्यकार के अनुसार बाह्य इन्द्रियों का नियमन शम है,[6] पर

---

१. 'यतोतः कर्मशुद्धात्मा भवादस्माद्विरज्यते ।।'

(वही—अ० २, ब्रा० ४, वा० ७२)

२. वृ० उ० भा० वा० अ० २ ब्रा० ४ वा० ८४-८६ ।

३. दान्तोभूत्वा ततः शान्तस्ततश्चोपरतो भवेत् ।
अर्थक्रमो बलीयान्स्याद्यतः पाठक्रमादिह ।। (वृ० उ० भा० वा० अ० ४, ब्रा० ४, वा० १२०१)

४. वहिष्करण चेष्टायानिवृत्ततो दान्त उच्यते ।
दान्तोऽश्वो गोर्गजों वाऽपि प्रयोगस्तत्र वीक्ष्यते ।। (अ० ४, ब्रा० ४, वा० १२०५).

५. वृ० उ० शा० भा० ४।४।२३ पृ० ६५२ ।

६. वही—४।४।२३ पृ० ६५२ ।

सुरेश्वराचार्य के अनुसार अन्तःकरण की चेष्टा निवृत्ति शम है।[१] 'शान्तो भिक्षुः तपस्वी' इत्यादि प्रयोगों के समीक्षण के आधार पर सुरेश्वर ने शम का यह अर्थ किया है।

(३) उपरति :—सम्पूर्ण कर्म तथा उनके फल का त्याग अर्थात् कर्म तथा कर्म-फलों से विरक्ति उपरति है।[२]

(४) तितिक्षा :—शीतोष्णादि द्वन्द्व-प्रवाह तथा दुर्वचनादि की सहनशीलता तितिक्षा है।[३]

(५) समाधि :—इन्द्रिय एवं मनोलौल्य व्यावृत्ति पूर्वक मानसिक एकाग्रता को समाधि कहते हैं।[४]

(६) श्रद्धा :—लक्ष्य के प्रति अप्रतिहत विश्वास श्रद्धा है।

इन उपर्युक्त साधनों में प्रथम चार साधन अर्थात् शम से तितिक्षा पर्यन्त ऐसे कर्मों के विषय में हैं जिनको करने या न करने में कर्त्ता स्वतंत्र है, पर अन्तिम दो अर्थात् तितिक्षा एवं समाधि ऐसे कर्मों के विषय हैं जिनके करने में कर्त्ता का स्वातंत्र्य नहीं है, उनको उसे अनिवार्य रूप से करना पड़ता है।[५]

मोक्ष के साधनों का पौर्वापर्य विचार—

आचार्य सुरेश्वर ने मोक्ष के साधनों को अधोलिखित क्रम में स्वीकृत किया है[६] :—

(१) नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान।
(२) चित्त संशुद्धि।
(३) संसारासारता ज्ञान।
(४) संसार परिजिहीर्षा।
(५) एषणात्रय त्याग।

---

१. अन्तःकरण चेष्टाया निवृत्तौ शान्तउच्यते। शान्तोभिक्षुस्तपस्वीति तत्प्रयोगसमीक्षणात्॥ (वही—अ० ४, ब्रा० ४ वा० १२०६)
२. बृ० उ० भा० वा०—अ० ४, ब्रा० ४, वा० १२२६-२७।
द्वन्द्वप्रवाहसंपात सहिष्णुरभिधीयते॥
३. तितिक्षुवचनेनात्र दुरुक्तादस्तथैव च॥ (वही-अ० ४, ब्रा० ४, वा० १२४४)
४. वही—अ० ४, ब्रा० ४, वा० १२४७।
५. वही—अ० ४ ब्रा० ४, वा० १२४५-४६।
६. वही—अ० १, ब्रा० ३, वा० ६८-६६ तथा अ० २, ब्रा० ४, वा० २-५। नैष्कर्म्यसिद्धि, अ० १ पृ० ३२।

साधन है।[1] कर्मानुष्ठान और एषणा—त्यागरूप साधनों में कोई विरोध नहीं क्योंकि पूर्वापरभाव से उनका प्रतिपादन किया गया है। एषणा—त्याग के पश्चात् विविदिषा-रूप साधन की समुन्नति होती है और इसके पश्चात् विविदिषा-संन्यास की अवस्था आती है। कर्म चार हैं[2]:—(१) प्रतिषिद्ध (२) काम्य, (३) चापल[3] और (४) नित्य। इनमें से प्रतिषिद्ध तथा काम्य इन दोनों कर्मों का त्याग मुमुक्षु सर्वप्रथम अवस्था में कर देता है और केवल नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करता है। चापल अर्थात् नैमित्तिक कर्म विविदिषा संन्यास के पूर्व त्याग दिया जाता है। नित्य कर्मों का अनुष्ठान भी विविदिषा पर्यन्त ही अभ्युपगत है। कहने की अभिसंधि यह है कि इस विविदिषा संन्यास की अवस्था में सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर दिया जाता है। यह निःशेष कर्म का संन्यास वाक्यार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में आरादुपकारक होने के कारण उत्तम साधन माना जाता है।[4] विविदिषा संन्यास और विद्वत्संन्यास में अन्तर है। प्रथमावस्था में ज्ञान की इच्छा बनी रहती है और दूसरी अवस्था अर्थात् विद्वत्संन्यास ज्ञाता का स्वरूपभूत माना गया है स्पष्ट शब्दों में[5] विविदिषा संयास ज्ञान का हेतु है और विद्वत्संन्यास ज्ञान का फल है। सुरेश्वर ने एक स्थान पर कहा है कि आत्मज्ञान-समुद्भव के पूर्व का संन्यास ज्ञान का साधन है वही बाद में उत्पन्नात्मक के ज्ञान के रूप मे पर्यवसित हो जाता है।[6] इस कथन का अभिप्राय यही है कि विविदिषा संन्यास बाद में विद्वत्संन्यास के रूप में परिणत हो जाता है। यह विविदिषा संन्यास अन्तः-करण को शमदमादि साधन सम्पन्न करने में सहायक होता है। श्रवण मननादि साधनों का स्वरूप बाद में निरूपित किया जायगा।

---

१. आत्मब्रह्मानुलोमेन ह्येषणात्याग इष्यते ॥
साधनं ब्रह्मविद्येव ब्रह्मज्ञानस्य जन्मने ॥ (वही, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ११०६)

२. 'प्रतिषिद्धं तथा काम्यं चापलंनित्यमेव च॥ (वही, अ० ४, ब्रा० ४, वा० १२०७)

३. 'चापलं प्रामादिकं प्रायश्चित्तार्हं कर्म। (बृ० उ० भा० वा० टीका, पृ० १६१६)

४. निःशेष कर्मसंन्यासो वाक्यार्थज्ञानजन्मने ॥ तस्याऽऽरादुपकारित्वात् सहायत्वाय कल्प्यते।
त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ॥ संबन्ध, वार्तिक, वा० २१४-१५); बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ५, वा० २७३; अ० ३, ब्रा० ५, वा० १०८ तथा तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य वार्तिक, वा० १०-११ पृ० ४४।

५. विविदिषा संन्यासो धीहेतुर्विद्वत्संन्यासस्तुफलम्। (बृ० उ० भा० वा० टीका, पृ० १८१०)

६. 'प्रागात्मज्ञानसंभूतेः संन्यासो ज्ञानसाधनम् ॥
उत्पन्नात्मधियः पश्चाज्ज्ञानमेव हि तत्तथा ॥
(बृ० उ० भा० वा०-अ० ४, ब्रा० ४, वा० ५४४)

कर्मों की उपयोगिता के विषय में अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास-प्रस्थान

अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति मिश्र के मतानुसार 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन च दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० उ० ४।४।२२) इस श्रुति से कर्मों का विविदिषा में उपयोग है।[1] पंचपादिकाविवरणकार प्रकाशात्ममुनि के अनुसार कर्म निश्चय रूप से ब्रह्मविद्या में सहायक होता है, पर कर्म का यह साचिव्य प्रत्यक्ष नहीं प्रत्युत् परोक्ष है। नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठानो के द्वारा संस्कृतात्मा जब श्रवण-मनन-ध्यानाभ्यासादि ज्ञान साधनों का सम्पादन कर लेता है तब संस्कारावस्थापन्न कर्म सहकारिविशेष होकर आत्मज्ञान की अवतारणा कराते है।[2] आचार्य सुरेश्वर ने भी अपने आभास-प्रस्थान मे वाचस्पति के समान कर्मो का उपयोग विविदिषा मात्र पर्यन्त माना है।[3] उनका कहना है कि चित्तशुद्धि के द्वारा बुद्धि में विविदिषा, वैराग्य तथा प्रत्यक् प्रावण्य प्राप्त कराने के पश्चात् कर्म उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं, जैसे प्रावृट् काल के पश्चात् मेघ (समाप्ति हो जाती है)।[4] इन तीनों प्रस्थानों की पर्यालोचना से यह प्रकट होता है कि अवच्छेद तथा आभास प्रस्थान कर्मों को केवल विविदिषार्थक मानता है तथा प्रतिबिम्ब प्रस्थान अनुष्ठित कर्म के संस्कारों को परोक्ष रूप से विद्यार्थक मानता है। विद्यार्थता पक्ष तथा विविदिषा पक्ष में अन्तर है। कर्मों के विद्यार्थत्व पक्ष में श्रवण मनन ध्यानाभ्यास आदि सहकारि कारणों की सम्पत्ति के पश्चात् ही संस्कार विज्ञान सिद्धि करता है, श्रवणादि साधनों के न किए जाने पर केवल अभ्युदयकारक होता है,[5] इसके विपरीत विविदिषार्थत्व पक्ष में जिस पक्ष में कर्मो का प्रयोजन केवल ब्रह्मज्ञान की इच्छा पैदा करना है केवल श्रवणादि में

---

१. 'उत्पत्तौ ज्ञानस्य कर्मापेक्षाविद्यते विविदिषोत्पाद द्वारा (विविदिषन्ति यज्ञेन इति श्रुतेः' (भामती, पृ० ८०२, पंक्ति ५-६) तथा 'यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुंजानो।'

(वही. पृ० ८०६, पं० १)

२. 'नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठानैः संस्कृतस्य आत्मनो यदि श्रवणमननध्यानाभ्यासादीनि ज्ञानसाधनानि सम्पद्यन्ते तदा संस्कार कर्माणि सहकारि विशेषात् आत्मज्ञानमवतारयन्ति।'

(पंचपादिका विवरणम्. तृतीय वर्णक, पृ० ५४०)

३. (बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ११६०, १०५१-५२. १०२४-२६; नैष्कर्म्यसिद्धिः. अ० १, का० ५०-५१. पृ० ३२)

४. नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ० १, का० ४९ पृ० ३१।

५. पंचपादिकाविवरण, तृतीय वर्णक, पृ० ५४६।

प्रवृत्ति करानेवाली समर्थ उत्कटेच्छा के सम्पादन मात्र से कर्मों की कृतार्थता है।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि प्रतिबिम्ब-प्रस्थान में कर्मों की विद्यार्थता अवश्य है, इसके विपरीत अवच्छेद तथा आभास-प्रस्थान में कर्मों का उपयोग केवल विविदिषा में है, इसके बाद उनके संस्कारात्मना अवस्थित रहने का प्रश्न नहीं।

कर्म के द्वारा मोक्षसिद्धान्त

पूर्व-मीमांसा दर्शन मोक्ष को केवल कर्म के द्वारा प्राप्य मानता है। इन मीमांसकों का विचार है कि कर्म मनुष्य को केवल बंधन-ग्रस्त ही नहीं करते, प्रत्युत् मनुष्य के जन्म-मरणात्मक बन्धनों की निवृत्ति भी करते हैं। कर्मों से मोक्ष प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है। मोक्षार्थी को काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देना चाहिए, पर नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का कभी भी त्याग न करके विधिपूर्वक अनुष्ठान करते रहना चाहिए। 'कुर्वन्नेहकर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः।' (ई० उ० २) इस श्रुति से भी कर्मों के यावज्जीवन अनुष्ठान का उपदेश मिलता है। जैसे काम्य एवं प्रतिषिद्ध कर्मों के करने से प्रत्यवाय होता है उसी प्रकार नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के न करने से भी प्रत्यवाय होता है। अतः मुमुक्षु को प्रत्यवाय से बचने के लिए काम्य तथा प्रतिषिद्ध कर्मों के त्याग के समान नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है। काम्य तथा प्रतिषिद्ध कर्मों के न करने से तथा नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से मोक्ष कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मीमांसकों का कहना है कि काम्य कर्मों के न करने से मुमुक्षु को देवत्व आदि की प्राप्ति करानेवाले पुण्यों का उदय न होगा, निषिद्ध कर्मों के न करने से पापाभाव के फलस्वरूप नारकीय योनि की प्राप्ति नहीं हो सकेगी तथा जिन पुण्य तथा पाप के कारण सुख-दुःखदायक यह वर्तमान शरीर है, उसका भोग-क्षय मात्र से अवसान हो जायगा। नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से पुण्य तथा पाप के सञ्चय का कोई प्रश्न नहीं। इस प्रकार पुण्य तथा पाप किसी भी प्रकार के अदृष्ट के सञ्चित न होने से उनके फल का भी अभाव हो जायगा तथा उनके भोग के लिए शरीर धारण की आवश्यकता नहीं होगी। अतः

---

१. 'अयंभेदः—कर्मणां विद्यार्थत्वपक्षे द्वारभूतविविदिषासिद्ध्यन्तरमुपरतावपि फल-पर्यन्तानि विशिष्ट गुरुनामान्निर्विघ्न श्रवणमननादिसाधनानि निवृत्तिप्रमुखानि सम्पाद्य विद्योत्पादकत्वनियमोऽस्ति। विविदिषार्थत्वपक्षे तु श्रवणादिप्रवृत्ति—जनन-समर्थोत्कटेच्छासम्पादन मात्रेण कृतार्थतेति नाऽवश्यंविद्योत्पादकत्वनियमः। (सि० लेशसंग्रह, तृ० परि० पृ० ४२२)

वर्तमान शरीर के अवसानान्तर कर्मफलनिःशेषता हो चुकने के कारण मोक्ष हो जायगा।

कर्म के द्वारा मोक्षसिद्धांत का खंडन

आभासवादी सुरेश्वराचार्य ने प्रदर्शित पक्ष का उपहास करते हुए कहा है[1] कि कर्म से मोक्ष-प्राप्ति का वचन वही दे सकते हैं, जिनका अन्तःकरण स्वोत्प्रेक्षा से उपवृंहित है, जिनका ज्ञान यागादि धूम से कलुषित तथा प्रतिवद्ध है और जो केवल इसीलिए हृष्टचित्त है कि पुत्र-पशु, वित्तादि के परित्याग एवं वहुलायास-साध्य ज्ञान के विना कर्म से ही मुक्ति मिल जायगी। कर्म से मोक्ष-प्राप्ति का उन्होंने वहुधा खंडन किया है। सर्वप्रथम पूर्वपक्षी से सुरेश्वर ने यह प्रश्न किया है कि कर्मों से होनेवाले जीव के मोक्ष का स्वरूप क्या है? यदि मोक्ष का स्वरूप आप जीव का स्वरूपावस्थान मानते हैं तो पुनः यह प्रश्न होता है कि जीव स्वरूपावस्थान के पूर्व स्वस्वरूप में स्थित है या नहीं? यदि जीव स्वरूप में अवस्थित है तो फिर कर्म रूप हेतु के मार्गण की क्या आवश्यकता? यह लोक सिद्ध है कि गन्तव्य ग्रामगत पुरुष पुनः उसी ग्राम में जाने की चेष्टा नहीं करता। इसके विपरीत यदि जीव को स्वरूपानवस्थित मानते हैं, तव यह कहना उपयुक्त नहीं कि कर्मों के द्वारा जीव को स्वरूपावस्थान रूप मोक्ष प्राप्त हो जायगा क्योंकि यदि जीव स्वतः स्वरूप में स्थित नहीं, तो उसकी प्राप्ति कर्म से उसी प्रकार नहीं की जा सकती जैसे वहुलायास करने पर भी न चन्द्रमा को उष्ण किया जा सकता है और न रवि को शीतल।[2]

यदि यह कहा जाय कि कर्मानुष्ठान जीव के लिए स्वाभाविक है तो उपयुक्त नहीं क्योंकि मोक्षावस्था में भी कर्म के अनुष्ठान का प्रसंग होने से जीव के अनिर्मोक्ष की प्रसक्ति होगी तथा वन्ध और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं रह जायगा।[3] यदि पूर्व-पक्षी यह कहे कि कर्मानुष्ठान स्वाभाविक नहीं किन्तु जीव के विषयाभ्यासजन्य अस्वास्थ्य के अपनोदन के लिए है, तो प्रश्न यह है कि जीव का यह विषय-सम्पर्क किस कारण से होता है? यदि यहां मीमांसक कहे कि अकस्मात् ही जीव का विषय से संसर्ग हो जाता है तो उपयुक्त नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर विषयाभ्यासजन्य अस्वास्थ्य की प्रसक्ति मुक्ति में भी हो जायगी तथा जीव के अनिर्मोक्ष का समापतन हो जायगा।[4] यदि यह कहा जाय कि असंग स्वभाव जीव के उक्त सम्पर्क में धर्म

---

१. नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ० १, का० २२, पृ० १५।

२. सम्बन्ध वार्तिक, वा० ४७-४६।

३. सम्बन्ध वार्तिक—वा० ५०।

४. वही—५१-५२।

और अधर्म कारण है, तो भी संगत नहीं क्योंकि जैसे भल्लातक फल धवल वस्त्र को दूसरे रंग में रंग देता है, उस प्रकार धर्माधर्म असंग जीवात्मा का विषय से सम्पर्क नहीं करा सकते। कुशल भी कुलाल अघटादि स्वभाव नभ को घट नहीं बना सकता और न वायु अग्नि में शीतलता उत्पन्न कर सकता है।[1] यदि यह कहा जाय कि जीवात्मा स्वभाव से कर्ता-भोक्ता रूप है, तो उपयुक्त नहीं क्योंकि ऐसी स्थिति में उसकी मुक्ति की वार्ता निराधार हो जायगी। जैसे सूर्य का औष्ण्य नहीं बदला जा सकता, उसी प्रकार किसी भी पदार्थ के स्वभाव को नहीं हटाया जा सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वाभाविक है तो यह सदैव बना रहेगा तथा जीव के मोक्ष की सम्भावना दुराशामात्र हो जायगी। कर्तृत्व भी बना रहे और मोक्ष भी सिद्ध हो जाय, यह असम्भव है।[2] मीमांसक यदि यह कहें कि कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के कार्य रूप से स्थित रहने पर जीवात्मा बन्धन-ग्रस्त होता है तथा जब कर्तृत्व-भोक्तृत्व शक्तिमात्रतया स्थित रहते हैं तब जीव मोक्ष-लाभ करता है क्योंकि शक्ति-मात्र से स्थित रहने पर उनमें अनर्थ उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती, तो सन्तोषजनक नहीं क्योंकि सुरेश्वर का कहना है कि शक्ति और कार्य न एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं, न पूर्णतः अभिन्न हैं और न भिन्नाभिन्नउभय रूप से आत्मा में स्थित हैं, अतएव दोनों अनिर्वाच्य हैं। यदि शक्ति और कार्य को एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न माना जाय तो 'इयं शक्तिरिदं च कार्यम्' यह व्यवस्था अनुपपन्न हो जायगी और कारण तथा कार्य का सम्बन्ध समाप्त हो जायगा क्योंकि परस्पर दो भिन्न वस्तुओं (जैसे याग तथा अश्व) का कारण और कार्य के रूप में योग नहीं बन सकता। शक्ति और कार्य को एक दूसरे से अभिन्न भी नहीं माना जा सकता क्योंकि अभिन्न होने पर एक ही वस्तु में कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता तथा कार्य के नष्ट होने पर तदभिन्न कारण भी नष्ट हो जायगा। कार्य-कारण दोनों के नष्ट हो जाने से बौद्ध सम्मत 'नैरात्म्यवाद' प्रसक्त होगा।[3] कहने का अभिप्राय यह है कि कार्य या शक्ति किसी भी रूप में कर्तृत्व-भोक्तृत्व के बने रहने पर मोक्ष असंभव होगा। यदि यह कहा जाय कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व का नाश नहीं, प्रत्युत् कर्तृत्वादि की अनभिव्यक्ति मोक्ष है, तो भी उपयुक्त नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य के कारणभूत धर्म और अधर्म आदि मोक्षकाल में भी नहीं समाप्त होंगे। कारण तथा उसके कार्य के बीच एक प्रकार का शक्तिरूप संबंध है जो कारण और कार्य को वह्नि और औष्ण्य के समान सम्बन्धित रखता है, अतः जब शक्तिभूत धर्माधर्म तथा उसके कार्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि मोक्ष में भी

---

१. सम्बन्धवार्तिक, वा० ५३-५४।
२. वही—५५-५७।
३. वही—वा० ५९-६४।

अविच्छिन्नतया स्थित हैं तब जैसे अग्नि से औष्ण्य सदैव उत्पन्न रहता है उसी प्रकार धर्माधर्म से तत्कार्यभूत कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि क्यों नहीं उत्पन्न होता—इस विषय में कोई तर्क नहीं। यदि कार्य-कारणतंत्र हो तो सदैव कारण-स्थिति होने से कार्य की निदाघ में धूप के समान सदैव उत्पत्ति होती रहनी चाहिए और यदि कार्यशक्ति-निरपेक्ष हो तो शक्तिमान् अर्थात् कारण के बिना वह उसी प्रकार नहीं उत्पन्न हो सकेगा जैसे ग्रीष्मकाल में शीत नहीं होता।[1] कार्य-कारणतंत्र होने पर यह इसका कार्य है, यह अभिधान भी अनुपपन्न हो जायगा।

कर्म के द्वारा मोक्ष-सिद्धान्त व्यावहारिक भी नहीं है। सुरेश्वर का कहना है कि प्रयत्नशील तथा ध्याननिष्ठ कुशल पुरुष भी राग-द्वेष तथा लोभादि दोषों से अनिवृत्त होने के कारण काम्य तथा प्रतिषिद्ध कर्मों के वर्जन में समर्थ नहीं हो सकते। अत्यन्त सावधान पुरुष के द्वारा भी सूक्ष्म अपराध की संभावना की जा सकती है।[2] यह सूक्ष्म अपराध आजीवन संपादित कर्मों को असफल कर देगा क्योंकि कर्म कैसा भी हो स्वफल देगा ही। कर्म के द्वारा मोक्ष-सिद्धान्त में पद-पद पर प्रत्यूह है। अतः कोई भी विवेकी ऐसा नहीं होगा कि श्रेय के इस अनिश्चित पथ पर चलने की कामना करेगा। कर्म के द्वारा मोक्ष केवल अदृष्ट पर अवलम्बित है, मनुष्य के प्रयत्नों पर नहीं, अतः आचार्य सुरेश्वर ने इसे 'दैवगोचर'[3] कहा है। मनुष्य के प्रयत्नों के पश्चात् यदि मोक्ष मिल भी जाय तो मोक्ष-स्वरूप नित्य नहीं हो सकता। सुरेश्वर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अप्रज्ञातात्मतत्त्व यदि अनन्तकालपर्यन्त दिवानिश महत् शुभ कर्म करता रहे तब भी उसे आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं प्राप्त हो सकती क्योंकि यह कर्मफल भोग के कारण प्रतिक्षण अन्तवत् है, अतः निश्चय ही मोहादिकों के समान अपचय भाजन हो जायगा। जगत् में यह अत्यन्त प्रसिद्ध है कि कृत का क्षय होता है अकृत का नहीं।[4] कर्म-कृत-मोक्ष भाग्याधीन आकस्मिक होते हुए भी क्षय युक्त है, अतः कोई भी बुद्धिमान पुरुष यह नहीं चाहेगा

---

१. सम्बन्ध वार्तिक—वा० ६५-६६।

२. वही, वा० ७०-७१।

३. सम्बन्ध वार्तिक, वा० ७४-७५।

४. 'अप्रज्ञातात्मतत्त्वः सन्यदि नाम दिवानिशम् ॥
कल्पकोटि सहस्राणि कुर्यात् कर्म महच्छुभम् ॥
तदप्यस्य तथाभूतमन्तवत्त्वात्प्रतिक्षणम् ।
विध्वंसमेत्यपचयात्कोष्ठागारादिवद्ध्रुवम् ॥
कृतस्य हि क्षयो वश्यमकृतस्याक्षयात्मता ॥
प्रसिद्धातीव जगति श्रुत्यैवं तेन भण्यते ॥'
(बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० १६८०-८२)

कि मैं उस मार्ग का अवलम्बन करूँ, जहाँ की सफलता केवल आकस्मिक और भाग्याधीन ही नहीं, प्रत्युत् भोग के साथ समाप्य भी है।

विधियों का ब्रह्मज्ञान में अनुपयोग

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० उ०, २।४।५ तथा ४।५।६) आदि श्रुतिवाक्यों से कुछ महाधी मीमांसक ज्ञान में अपूर्वविधि मानते हैं, कुछ नियम-विधि मानते हैं और कुछ परिसंख्या विधि मानते हैं।[1] इन विधियों का स्वरूप अधोलिखित है[2]—

(१) अपूर्वविधि—किसी भी दूसरे प्रमाण से जो नहीं प्राप्त है, उसकी प्राप्ति कराने वाली विधि अपूर्वविधि है। यथा—'व्रीहीन् प्रोक्षति'। यहाँ व्रीहियों का प्रोक्षण रूप संस्कार नियोग के बिना अन्य किसी मानान्तर से नहीं प्राप्त था, किन्तु 'व्रीहीन्प्रोक्षति' इस नियोगपरक वाक्य से व्रीहि-प्रोक्षण प्राप्त हो गया, अतः इस वाक्य में अपूर्वविधि है।

(२) नियमविधि—पक्ष प्राप्त के अप्राप्त अंश की परिपूर्त्ति कराने वाली विधि नियम विधि है। यथा 'व्रीहीनवहन्ति' (अर्थात् तंडुलनिष्पत्ति के लिए मूसल से व्रीहियों का अवघात करे) यहाँ विध्यर्थ का यदि अभाव भी होता तब भी आक्षेपवश नखविदलनादि से तंडुल-निष्पत्ति की प्राप्ति हो जाती पर 'अवहन्ति' के द्वारा मूसलावघात रूप अप्राप्त अंश का विधान हो गया। अतः इस वाक्य में नियम-विधि है। अपूर्वविधि से नियमविधि में यह वैशिष्ट्य है कि नियमविधि में श्रुति के बिना भी अन्य प्रमाण से एक पक्ष में क्रिया प्राप्त रहती है, यथा उपर्युक्त उदाहरण में अर्थापत्त्या 'नखविदलन' रूप विधि की प्राप्ति होती पर अपूर्वविधि में ऐसा नहीं होता प्रत्युत् पूर्णतः अप्राप्त की विधि की जाती है।

(३) परिसंख्याविधि—दो शेषियों अर्थात् अंगियों में एक शेष (अंग) की नित्यप्राप्ति होने पर दूसरे शेषी की व्युदास करने वाली विधि को परिसंख्या विधि कहा जाता है। एक शेषी से दो शेषों की नित्यप्राप्ति होने पर अन्य शेष की निवृत्ति करने वाली विधि भी परिसंख्याविधि है। 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' आदि मंत्रों में परिसंख्या विधि मानी जाती है। अग्निचयन के प्रसंग में 'अश्वरशना-

---

१. केचिद्व्याचक्षतेऽपूर्वं विधिमेतं महाधियः ॥
नियमं त्वपरे धीराः परिसंख्यामथापरे ॥' (बृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा० ४, वा० ७५१) तथा अ० २, ब्रा० ४, वा० १४६।

२. 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥' (ज्ञानोत्तम कृत नैष्कर्म्यसिद्धिव्याख्या, पृ० ५०) तथा सिद्धान्तलेशसंग्रहः, प्रथमपरिच्छेद, पृ० ४-६)

ग्रहण' तथा गर्दभरशनाग्रहण दोनों अनुष्ठेय होता है। अतः जब अग्नि-चयन के प्रसंग में 'इमागगृम्णन्' यह मंत्र पढ़ा जाता है तब 'रशनाग्रहण' के प्रकाशनसामर्थ्य रूप लिंग से अश्व और गर्दभ इन दोनों शेषियों में 'रशना' इस शेष की प्राप्ति होती है पर जब 'अश्वाभिधानीमादत्ते' कहा जाता है तब परिसंख्या विधि से 'गर्दभरशना ग्रहण' की व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि नियमविधि में भी नखविदलनादि की निवृत्ति होती है, पर इस नखविदलनादि की निवृत्ति अप्राप्तअंश के परिपूरण करने पर होती है। इसके विपरीत परिसंख्या विधि में दो नित्य प्राप्त के अप्राप्त अंश का परिपूरण नहीं हो सकता, केवल एक की निवृत्ति होती है। यह दोनों अर्थात् नियमविधि और परिसंख्या विधि का अन्तर है।'[1]

विधियों का खंडन—श्रुतिवाक्यों में अपूर्व, नियम, या परिसंख्या कोई भी विधि नहीं मानी जा सकती।[2] श्रुतियों में विधि संस्पर्श नहीं माना जा सकता। सुरेश्वर ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर विधि का वर्णबान में अनुपयोग सिद्ध किया है।[3] उनका स्पष्ट कथन है कि आत्मा ज्ञान कूटस्थ एवं वस्तु-तंत्र है।[4] वस्तुतंत्र होने के कारण आत्मज्ञान का नित्यत्व स्वतः सिद्ध है।[5] आकाश कुसुम के समान जिन वस्तुओं का नित्य-भवन नहीं अथवा आकाश के समान जिनकी नित्यभूतता सिद्ध है, ऐसी वस्तुओं की क्रियमाणता कथमपि युक्तिसंगत नहीं,[6] अतः उनमें विधि-विधान अनर्थक है। आत्म-ज्ञान आकाश के समान नित्यसिद्ध है, अतः उसमें विधि नहीं हो सकती। यदि आत्मज्ञान पुरुषतन्त्र होता तो उसमें विधि की प्रवृत्ति हो सकती थी, पर यह अनृतंत्र है अतः इसमें विधि का उपयोग उसी प्रकार नहीं माना जा सकता है जैसे बन्ध्या के पुत्र की उत्पत्ति में कोई भी विधि इष्ट नही होती।[7] आत्मैक्यबोध में अज्ञानातिरिक्त अन्त-

---

१. कल्पतरुपरिमल, पृ० ६२०।

२. 'नात्रापूर्वविधिः प्राप्तेरनन्योपायतो न च। नियमः परिसंख्या वा श्रवणादिषु संभवेत्।' (कल्पतरुः, पृ० ६१६)

३. बृ० उ० भा० वा०-अ० २, ब्रा० ४, वा० ११५-६०; अ० १, ब्रा० ४, वा० ७५२-८५८; संबंधवार्तिक, वा० १६०-३१२, ४१२-१३ तथा नैष्कर्म्यसिद्धि, अ० १, पृ० ५०।

४. 'आत्मज्ञानस्य कूटस्थवस्तुतन्त्रत्वहेतुतः।' (संबंध वार्तिक, वा० १६८)

५. बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ४, बा० १११।

६. नित्यं भवनं यस्य यस्य वा नित्यभूतता। न तस्य क्रियमाणत्वं खपुष्पाकाशयोरिव ॥
(—बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ४ वा० ११६)

७. 'अतोऽपुरुषतन्त्रत्वान्नाऽऽत्मज्ञाने विधिर्भवेत् ॥' (वही—अ० २, ब्रा० ४, वा० १२१। तथा अनृतन्त्रे विधिर्नेष्टो बन्ध्यापुत्रोद्भवेयथा ॥ मातृतन्त्रे तथैवायं न विधिः प्रत्यगीक्षणे ॥ (वही—अ० २, ब्रा० ४, वा० १४३)

राय नहीं।[1] विधि अज्ञान का कार्य है। कार्य कारण का विनाश करता हो, यह कभी न सुना गया है और न देखा गया है, अतः विधि की अपने कारणभूत अज्ञान के बाध में प्रभविष्णुता नहीं हो सकती। केवल यथास्थित आत्मवस्तूत्थ ज्ञान-अज्ञान के अपनोदन में समर्थ है अतएव त्रयी के अन्त अर्थात् वेदान्त में कहीं भी आत्मज्ञान के लिए विधि का समर्थन नहीं प्राप्त होता।[2] आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान कोई वह अवस्था नहीं जो जीव के द्वारा वस्तुतः प्राप्त की जाती है क्योंकि जीव सदैव शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म स्वरूप है। यह केवल अविद्या है जिसके कारण जीव का स्वरूप अप्राप्त-सा तथा अज्ञात-सा रहता है। अज्ञात एवं अप्राप्त की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार की क्रिया या विधि की आवश्यकता नहीं केवल अज्ञान-निवृत्ति की आवश्यकता है। अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अप्राप्त स्वतः भासित होने लगता है। द्रष्टा का स्वात्मसमीक्षण रूप आत्मज्ञान सदा संप्राप्त है, अतः उसमें विधि अनर्थक है।[3] इस प्रकार के सदा संप्राप्त आत्मज्ञान में विधि की कल्पना नहीं की जा सकती और यदि हठात् इसकी कल्पना कर भी ली जाय तो आत्मज्ञान में उसका अनुपयोग होने के कारण विधि का आनर्थक्य प्राप्त होगा क्योंकि विधि के (१) उत्पत्ति, (२) आप्ति, (३) संस्कार और (४) विकार—यह चार फल माने जाते हैं जब कि आत्मज्ञान से प्राप्त होने वाली मुक्ति इन चारों प्रकार के विधि-फलों से विलक्षण है।[4] आत्मा व्रीह्यादि-प्रोक्षण के समान कालत्रय में अप्राप्त नहीं प्रत्युत् नित्य मुक्त स्वभाव, स्वतः सिद्ध एवं सदैव संप्राप्त है, केवल अज्ञान के कारण अप्राप्त-सा प्रतिभासित हो रहा है अतः उसके ज्ञान में अपूर्व विधि का नियोग नहीं किया जा सकता।[5] ऐकात्म्यदर्शन में ज्ञान की प्राप्ति मूसलाघात किंवा शेप द्वय या शेपिद्वय में से किसी एक शेप या शेपि की पाक्षिकी-प्राप्ति के समान नहीं विवक्षित

---

१. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० १४४६; तथा अ० २, ब्रा० ४, वा० ४३६।

२. यथास्थितात्मवस्तूत्थ ज्ञानं मुक्त्वा तमोहृनुतो।
नान्यो हेतुर्यतस्तस्मान्न त्रय्यन्ते विधिः प्रमा॥ (वही, अ० २ ब्रा० ४, वा० १५१)

३. क्रियाविरोधः प्राप्नोति द्रष्टुः स्वात्मसमीक्षणे।
तद्दृष्टेर्नित्यसंप्राप्तेर्विध्यानर्थक्य संगते॥ (वही, अ० २, ब्रा० ४, वा० १३७)

४. सम्बन्धवार्तिक, वा० २३५-३६।

५. नाऽपूर्वविधिरित्येष कदाचिदपि गृह्यते।
सर्वदैव तु तत्प्राप्तेस्तथा नान्योऽपि कश्चन॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० १ ब्रा० ४, वा० ७५२)

है अतः आभासवादी आचार्य सुरेश्वर के अनुसार नियम या परिसंख्या विधि भी अद्वैत तत्त्व के ज्ञान में उपपन्न नहीं।[1]

साध्य-साधन के बोध में उपर्युक्त किसी भी विधि का प्रामाण्य भले संभव हो किन्तु अतीन्द्रिय, प्रमाणाविषय, स्वतः सिद्ध, साध्य-साधन व्यपास्तअद्वयतत्त्व के ज्ञान में विधि की अपेक्षा नहीं। उक्त अक्षाद्यविषय आत्मज्ञान केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० उ० १।४।१०) तथा 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।७) इत्यादि अभिधा श्रुतियों के द्वारा बोधित होता है।[2] ऐकात्म्य स्वतः सिद्ध है, अतः उसमें क्रिया की अपेक्षा नहीं। भावना क्रियाश्रित रहती है अतः क्रिया के न रहने से ऐकात्म्य के प्रति भावना का अभाव सिद्ध है। भावना के विरह में आत्मज्ञान के प्रति विधि-प्रामाण्य भी खंडित हो जाता है। अतः स्वतः सिद्ध अर्थ की बोध कराने वाली केवल उक्त अभिधा श्रुतियों का प्रामाण्य आत्मज्ञान में सुरेश्वर के द्वारा स्वीकृत है।[3] लोकवर्त्म का आधार लेकर यदि यह आशंका की जाय कि तत्त्वमस्यादि अभिधा श्रुति अप्रमाण है तथा 'सरित्तीरे फलानि' इद उक्ति के समान इन विधि विरहित अभिधा श्रुतियों के पदों की संहति अनुपपन्न है (क्योंकि पद संहति सर्वत्र आख्यातहेतुक माना जाता है); तो उपयुक्त नहीं क्योंकि आचार्य सुरेश्वर का कहना है कि इन तत्त्वमस्यादि अभिधा श्रुतियों में भी 'अस्ति' और 'अस्मि' इत्यादि आख्यात पद अन्तर्गत हैं, अतः पदसंहित हो जायगी।[4] पदान्वय केवल क्रिया की आकांक्षा करता है, विधि की नहीं, और यह क्रिया पद इन अभिधाश्रुतियों में सुलभ है फिर पदान्विति न होने का कोई प्रश्न नहीं।[5] इन 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य

---

१. यतोऽतः पाक्षिकी प्राप्तिर्नेहास्त्यैकात्म्य दर्शने ॥
नियमः परिसंख्या वा न तेनेहोपपद्यते ॥ (वही, अ० २, ब्रा० ४, वा० १४६)

२. बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ४, वा० १५३-५५।

३. ऐकात्म्यस्य स्वतः सिद्धे र्न क्रियाऽपेक्ष्यते यतः।
ततश्च भावनाभावो भावनायाः क्रिया श्रयात् ॥
विरहे भावनायाश्च न विधेस्तत्र मानता ॥
स्वतः सिद्धार्थबोधित्वादभिधायास्तु मानता। (वही—अ० २, ब्रा० ४, वा० १५७-५८)

४. आख्यातपदसद्भावात्स्यादेव पदसंहतिः ॥
अस्यस्म्याद्याख्यातपदमस्त्येवेहाभिधा श्रुतौ ॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ४, वा० १६१)

५. 'पदान्वयः क्रियामात्रमाकांक्षति विधिं न तु ॥
अस्त्यस्यस्मीत्येवमादि सुलभं तु क्रियापदम् ॥ (वही, अ० २ ब्रा० ४, वा० ६५)

रूप अभिधा श्रुतियों के श्रवण समनन्तर 'अहं ब्रह्म' यह अलौकिकी प्रमा उपजात होती है अतः इन अभिधा श्रुतियों को अप्रमाण नहीं माना जा सकता, हाँ विधि का अप्रामाण्य अवश्य प्राप्त होता है।[1] विधि को आचार्य सुरेश्वर ने भावनातिरिक्त पदार्थ नहीं माना है।[2] यह भावना स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकती प्रत्युत् प्रत्यगज्ञान हेतुत्व है, अज्ञान हेतुत्व के कारण अज्ञानरूप होगी, अतः प्रत्यग्याथात्म्य की जिज्ञासा करने वालों की विषय नहीं हो सकती।[3] 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' (बृ० उ० २।४।५) इत्यादि वाक्यों में प्रतीयमान विध्यर्थ भी आभासवादी सुरेश्वराचार्य के शब्दों में अप्रवृत्त-प्रवृत्ति-रूप नहीं, प्रत्युत अज्ञात-ज्ञापन रूप है। विधि का इस अर्थ में उपयोग आभास-प्रस्थान में माना जा सकता है, पर अकृत-क्रिया रूप उपर्युक्त अपूर्वादि विधियों की संगति नहीं बनती।[4] नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, स्वतः सिद्ध, अनन्यायत्तसंसिद्ध, निरविद्यक, आत्मस्वरूपावगम का क्रियात्व, फलत्व एवं कारकत्व सभी अनुपपन्न है, अतः आभास-प्रस्थान में अपूर्वादि विधियों का अस्वीकरण कोई दूषण नहीं, प्रत्युत् भूषण ही है।[5]

उपासना-विधि —

भाष्यकार भगवान् शंकर, उनके शिष्य सुरेश्वर तथा अन्य अद्वैत वेदान्तियों ने बृहदारण्यक उपनिषद् के 'आत्मेत्येवोपासीत्' (१।४।७) मंत्र के भाष्य एवं वार्तिकादि में एक ऐसे मत का उल्लेख किया है[6] जो इस इस प्रकार की उपास्ति श्रुतियों में

---

१. वही, अ० २, ब्रा० ४, वा० १६७-६८।

२. 'भावनातो न चान्यत्र विधिरभ्युपगम्यते।' (सम्बन्धवार्तिक, वा० २५२)

३. 'प्रत्यगज्ञानहेतुत्वा भावनेयं न तु स्वतः ॥'
प्रत्यग्याथात्म्य जिज्ञासोः कथं सा विषयो भवेत् ॥
(बृ० उ० भा० वा०, अ०२, ब्रा०४, वा० १६३)

४. 'अज्ञात ज्ञापनं चातो विधिरत्राभिधीयते ॥
अप्रवृत्तप्रवृत्तिस्त्वन्यायाभावान्न युज्यते ॥' (वही, अ० २, ब्रा० ४, वा० १५५) तथा
'अज्ञात ज्ञापनं तस्माद्विधिरत्रोपपद्यते। अकृतस्य क्रियात्वेन विधिर्नैवोपपद्यते ॥'
(वही, अ० २, ब्रा० ४, वा० १६८)

५. 'अतोऽत्र विध्यभावोऽयं न कथंचन दूषणम् ॥
अलंकृतिरियं भाव्यो वेदान्तेषु प्रशस्यते ॥ (सम्बन्ध वा०, वा० ३३८)

६. शंकराचार्यः, बृ० उ० भा० १।४।७ पृ० ११६-१७; सुरेश्वराचार्यः बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४ वा० ७५० तथा आगे; आनन्दगिरि बृ० उ० भा० टीका, पृ० ११६-१७ तथा बृ० उ० भा० वा० टीका, पृ० ५७० तथा आगे; विद्यारण्य, बृ० वा० सार, १।४।७४० पृ० ३८३।

अपूर्व-विधि मानता है।[1] प्रस्तुत मत ज्ञान और उपासना शब्दों को एकार्थक समझता है तथा ऐसे अवान्तर श्रुति का उद्धरण भी प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर स्वानुमोदित निष्कर्ष उपपन्न हो सके।[2] यह मत अधोलिखित कारणों से उपासना में अपूर्व विधि मानता है—

(१) ज्ञान और उपासना दोनों शब्द प्रर्यायवाची हैं, अतः श्रुतियों में प्रयुक्त ज्ञान शब्द उपासनापरक है। साक्षात्कार पर्यन्त एकार्थोल्लेखिवृत्तियों के आम्रेडन रूप उपासना[3] के ऐक्य ज्ञान से अभिन्न होने के कारण और ऐक्यज्ञान के सर्वथा अप्राप्त होने के कारण उपासना अपूर्वविधिविपय है।[4]

(२) वस्तु स्वरूप के अन्वाख्यान में स्वतः पुरुष-प्रवृत्ति असंभव है अतः आत्मोपासन में प्रवर्तक विधि मानना आवश्यक है।[5]

(३) कर्म विधि और आत्मोपासन का स्वरूप एक है उनमें किंचिन्मात्र विशेष नहीं, इसलिए जैसे कर्म में विधि-स्वीकार होता है, उसी प्रकार आत्मोपासन में भी विधि स्वीकार करना होगा। कर्म और आत्मोपासन दोनों का अविशेष क्या है? इसके उत्तर में प्रस्तुत मत प्रवर्तक आचार्य का कहना है कि जैसे 'वषट् करिष्यन्' इत्यादि कर्मपरक वाक्यों में मानसी क्रिया का विधान किया जाता है, उसी प्रकार 'आत्मेत्येवोपासीत' इस आत्मोपास्ति वाक्य में भी मानसी क्रिया विधेय है।[6] फलतः अपूर्व विधि की प्राप्ति होती है।

(४) उपासना विधि में 'यजेत्' इत्यादि वाक्यों के समान भावना का अंश त्रय[7] संभाव्य है। 'आत्मेत्येवोपासीत' में भावना के अंशत्रय की उत्पत्ति सिद्ध करते हुए एतन्मतावलम्बियों का कहना है कि यहां विज्ञेय आत्मा किमंश अर्थात् साध्यांश है, मन साधनांश है तथा त्याग और ब्रह्मचर्यादि साधन इति कर्तव्यतांश हैं। इस प्रकार भावना के तीनों अंशों की उत्पत्ति उपास्ति श्रुति में हो जाती है। अतः इसमें अपूर्वविधि मानना

---

१. बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० ७७०।

२. वही, अ० १ ब्रा० ४, वा० ७७२-७४।

३. एकार्थोल्लेखि वृत्तीनामातात्म्याभिमानतः ॥ आम्रेडनं हि शब्दार्थः सर्वत्रोपासनश्रुतेः ॥
(बृ० उ० भा० वा०, अ० १ ब्रा० ४, वा० ७७१।)

४. 'तथैतत्सर्वं वेदेति यत्र यत्र श्रुतिर्भवेत् ॥
अभ्यासस्य तदा प्राप्तेरपूर्वविधिरिष्यते ॥ (वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ७७८)

५. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ७७६।

६. बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० ७८०-८२।

७. 'सा च भावनांशत्रयमपेक्ष्यते साध्यं साधनमितिकर्तव्यता च किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति' (अर्थसंग्रह, पृ० ६)।

युक्तियुक्त है। यदि यह कहा जाय कि 'अस्थूलमनण्वमह्रस्वम्' (बृ०उ० ३।८।८) इत्यादि श्रुतिवाक्य इस निष्कर्ष के बाधक हैं, तो उपयुक्त नहीं क्योंकि उपास्य अर्थ (आत्मा) के समर्पण में उपास्ति वाक्यों का भी उपयोग हो जाता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उपास्ति विधि का कोई उपयोग नहीं, क्योंकि उपासना का फल मोक्ष या अविद्या निवृत्ति माना गया है।[1] उपासना और ज्ञान इस मत में एक हैं अतः ज्ञान में अपूर्व विधि विषयत्व प्राप्त हो जाता है।

उपासना में अपूर्व विधि का खंडन--

आभासवादी सुरेश्वराचार्य ने ज्ञान में अपूर्व का ही नहीं, प्रत्युत् समस्त विधियों का खंडन किया है, यह हम निरूपित कर चुके हैं। उपासना श्रुति में भी आचार्य शंकर एवं सुरेश्वर ने अपूर्व विधि का अप्रामाण्य सिद्ध किया है।[2]

शंकर सम्मत उपासना में नियमविधि का समर्थन

आचार्य शंकर उपासना को पक्षान्तर में प्राप्त मानते हैं, अतएव उन्होंने उपासना में नियमविधि स्वीकृत किया है।[3] आचार्य सुरेश्वर ने अपने गुरु की इस मान्यता को ग्रहण किया है।[4] उपास्ति श्रुतियों में शंकर सम्मत नियमविधि का उपपादन करने के लिए उन्होंने 'व्रीहीन् अवहन्यात्' उदाहरण का आश्रय लिया है। उनका कथन है कि जैसे तंडुल-निष्पत्ति के लिये अवघातादि की अपेक्षा होती है उसी प्रकार दर्शन-निष्पत्ति के लिए आत्मादि की अपेक्षा होती है तथा जैसे नखविदलनादि से तंडुल-निष्पादन संभव होने से अवघात की पाक्षिकी प्राप्ति होने पर 'अवहन्यात्' से उसका मूसलावघात रूप अप्राप्त अंश में नियमन कर दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मोपास्ति का भी नियमन होता है अर्थात् अनात्मोपासन की पाक्षिकी प्राप्ति होने पर 'आत्मानंध्यायेत्' इत्यादि नियम

---

१. बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० ७८३-७९१।

२. 'आत्मेत्येवोपासीतेति नापूर्वविधिः।' (बृ० उ० शा० भा०, १।४,७ पृ० ११५) तथा नापूर्वविधिरेष स्यात् पक्षे प्राप्तत्वकारणात्।' (बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० ७५८)

३. 'पक्षे प्राप्तत्वात्।' (बृ० उ० भा०) तथा उनके (शंकर) के मत में ज्ञान से उपासना भिन्न है। शंकर उपासना के विषय में विधि मानने पर भी (ब्र० सू० १।१।४) ज्ञान के विषय में विधि नहीं मानते हैं।' (महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज, ब्र० सू० भा० भूमिका, पृ० १३)

४. नियमार्थो विधिरयमिति भाष्यकृतो वचः।
अभ्युपेत्यापि वक्ष्यामि इत्येवमेतत्समंजसम्। (बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० ९२०)

विधि के सामर्थ्य से आत्मोपासन रूप अप्राप्त अंश में उपासना का नियमन हो जाता है। अतः आत्मोपासन नियम विधि विषयक है।[1]

उपासना में नियमविधि भी नहीं—सुरेश्वराचार्य के द्वारा भाष्यकार सम्मत उपासना में नियमविधि का समर्थन केवल प्रौढ़िवाद का समाश्रयण है, वस्तुतः न्याय गौरव होने के कारण उन्हें उपासना में कोई भी विधि अभीष्ट नहीं है।[2] यदि आत्मोपासना की प्राप्ति किसी देशादि में अवघातादि के समान संभावित होती तो उपासना में नियम विधि सिद्ध हो सकती थी, पर प्रत्यगर्थ का आलिंगन किए बिना कोई पराग्वृति (अनात्मविषयक) विज्ञान भी नहीं सिद्ध होता है अतः आत्मोपासन सदैव प्राप्त है।[3] आत्मोपासन ज्ञान से अतिरिक्त नहीं और निखिल विज्ञान अनात्मसंबंध के पूर्व भी जन्मना आत्मकर्मक है, अतएव उपासना की नित्य प्राप्ति है।[4] फलतः इसमें नियमविधि नहीं स्वीकृत हो सकता। यदि उपासक एवं उपास्य इन दोनों में कोई भेद होता, तो नियम विधि बन जाती पर अद्वैत वेदान्त में उपासक तथा उपास्य में कोई भेद नहीं माना गया, अतएव उक्त विधि असंभव है।[5]

सुरेश्वर मत का भाष्यकार के मत के साथ सामंजस्य

भाष्यकाराभिमत नियमविधि को स्वीकार करके फिर उसी का उपासना में अनुपयोग सिद्ध करने से वार्त्तिककार का मत अप्रमाणित हो सकता था, अतएव वार्त्तिककार ने अपने मत के साथ भाष्यकार के मत का समन्वय भी किया है। सुरेश्वर का स्पष्ट विचार है कि नियमविधि का अभ्युपगम भाष्यकार ने अपूर्व विधि के दौर्बल्यद्योतनार्थ किया था, न कि उनका यह अभिप्राय था कि उपासना में नियमविधि अपेक्षित है।[6] इस प्रकार भाष्यकार और वार्त्तिककार के मतों में वास्तविक विरोध नहीं है।

---

१. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ६२३-२६।

२. 'न कश्चिदपि संभाव्यो यथोक्तन्यायगौरवात्। विधिर्यतोऽभ्युपगमन्नियमोक्तिरियं ततः।
(वही० अ० १, ब्रा० ४, वा० ६२६)

३. बृ० उ० भा० वा०, अ० १ ब्रा० ४, वा० ६२७-२८।

४. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ६२९।

५. उपास्यार्थातिरेकेण न चोपासनकृद्विरुक्। संभाव्योनियमविधिरतो नात्मन्यभेदत:॥
(वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ६३०।)

६. 'उक्तं च न्यायमापेक्ष्य नियमोत्यन्त दुर्लभः। विधेर्दौर्बल्यसिद्ध्यर्थमतोभाष्यकृदुक्तवान्।
(वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ६३१।)

श्रवण-मनन और निदिध्यासन

श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को सभी अद्वैतवेदान्तियों ने ब्रह्म साक्षात्कार का अंतरंग साधन माना है। नैष्कर्म्य सिद्धि की चन्द्रिका नामक व्याख्या से यह स्पष्ट है[1] कि आचार्य सुरेश्वर ने इन तीनों का समुदित नाम 'योग' माना है, जिसके अनुष्ठान से मुमुक्षु चित्त का प्रत्यगात्मा में अनायास अवस्थान होता है। प्रस्थानानुसार इनके स्वरूप में मतभेद है—

'सर्वापेक्षाधिकरण' (३।४।२६) की भाष्यावलम्बिनी भामती में अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति ने ब्रह्म में चार प्रकार की प्रतिपत्ति स्वीकृत कर श्रवणादि का लक्षण इस प्रकार दिया है—[2] 'उपनिषद् वाक्य के श्रवणमात्र से उत्पन्न होने वाली प्रथम प्रतिपत्ति श्रवण है। उक्त उपनिषद् वाक्य की मीमांसा सहितोद्भूत द्वितीय प्रतिपत्ति मनन है। चिन्ता सन्ततिमयी तृतीय प्रतिपत्ति निदिध्यासन है तथा चतुर्थ प्रतिपत्ति साक्षात्कारवती वृत्तिरूप है। इस चतुर्थ प्रतिपत्ति का नान्तरीयक कैवल्य है।' इन लक्षणों से यह स्पष्ट है कि भामतीकार शाब्द प्रतिपत्ति को श्रवण, मीमांसा के साथ उत्पन्न प्रतिपत्ति को मनन तथा चिन्ता अर्थात् ध्यान की संततिमयी प्रतिपत्ति को निदिध्यासन मानते हैं। प्रतिपत्ति श्रवणादिकों का सामान्य लक्षण है, इसलिए उन्होंने श्रवणादि में कर्म की अपेक्षा नहीं मानी है।[3]

प्रतिबिम्ब-प्रस्थान-प्रवर्त्तक पद्मपादाचार्य-सम्मत श्रवणादि स्वरूप इस प्रकार है :[4]—'आत्मा की अवगति के लिए वेदान्त वाक्यों का विचार और शारीरिक का श्रवण श्रवण है। वस्तुनिष्ठ वाक्यापेक्षित दुन्दुभ्यादि श्रुति रूप दृष्टान्तों तथा

---

१. योगाभ्यासःश्रवणमनननिदिध्यासनादीनामनुष्ठानम। अत्र चित्तस्यप्रत्यक्प्रवणता नाम प्रत्यगात्मन्य प्रयत्नेनावस्थानम्। (ज्ञानोत्तमिश्र, नै० सिद्धि चन्द्रिका, पृ० ३३)

२. 'अपि च चतस्रः प्रतिपत्तयो ब्रह्मणि प्रथमा तावदुपनिषद्वाक्यश्रवणमात्रादुत्पत्ति यां किलाचक्षते श्रवणमिति। द्वितीया मीमांसासहिता तस्मादेवोपनिषद्वाक्याद्या- माचक्षते मननमिति। तृतीय चिन्तासन्ततिमयी यामाचक्षते निदिध्यासनमिति। चतुर्थी साक्षात्कारवती वृत्तिरूपा नान्तरीयकं हि तस्याः कैवल्यमिति।' भामती, पृ० ८०१, ८०२ पं० ६-२)

३. वही, पृ० ८०२, पं० २-५।

४. 'तथा च श्रवणं नाम आत्मावगतये वेदान्तवाक्य विचारः शारीरकश्रवणं च। मननं वस्तुनिष्ठवाक्यापेक्षितदुन्दुभ्यादि दृष्टान्तजन्म स्थिति लया वाचारम्भणत्वादि युक्तयर्थवादानुसंधानं वाक्यार्थाविरोध्यनुमानानुसंधानं च। निदिध्यासनं मननोपबृं- हितवाक्यार्थविषये सथरीभावः।' (पंचपादिका, नवमवर्णक, पृ० ३५२-५३।)

जन्म-स्थिति-लय के वाचारम्भणत्वादि युक्ति के अर्थवादों का अनुसंधान तथा वाक्यार्थविरोधि अनुमान का अनुसंधान मनन है। मननोपबृंहित वाक्यार्थ के प्रति स्थैर्य-निदिध्यासन है।'

सुरेश्वराचार्य के आभास-प्रस्थान के अनुसार शब्दशक्तिविवेककृत अर्थात् शक्ति-तात्पर्यनिश्चायक श्रुति, लिंग आदि न्यायों से एक अद्वयब्रह्म में वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य-निरूपण श्रवण है।[1] श्रुत्यादि लिंगों के द्वारा ज्ञाततत्त्व के विनिश्चयार्थ असंभवादि मानसिक दूषणों का व्युदासक तर्क मनन है।[2] यद्यपि श्रवण के द्वारा प्रमाणगत असंभावनाओं की निवृत्ति के फलस्वरूप वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य-निश्चय हो जाता है, तथापि निश्चित तात्पर्य के प्रति प्रमेयगत असंभावनाओं का उत्थान संभव है। अतः इन्हीं प्रमेयगत असंभावनाओं का निवर्तक है। स्पष्ट शब्दों में मनन द्वैत मिथ्यात्व साधक है और श्रवण के द्वारा निर्धारित तात्पर्य का तर्क से समर्थन करता है।[3] मनन को सुरेश्वर ने तर्क भी कहा है।[4] निदिध्यासन को वार्तिककारके अनुसार ब्रह्मसाक्षात्कार की प्रथम अवस्था कही जा सकती है क्योंकि उन्होंने सर्वत्र अपरायत्त बोध[5] या ऐकात्म्यसंबोध[6] या सम्यग्ज्ञान[7] को निदिध्यासन शब्द से विवक्षित माना है। स्पष्ट शब्दों में श्रवण के द्वारा श्रुत एवं मनन अर्थात् तर्क के द्वारा समर्थित वेदान्तवाक्यों के तात्पर्य-

---

१. 'श्रुतिर्लिंगादिको न्यायः शब्दशक्तिविवेककृत।' बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ४, वा० २१४, तथा 'ब्रह्मानन्दी (अद्वैतसिद्धिव्याख्या) पृ० ८६७ पं० ७-९।
इन श्रुत्यादिलिंगों के अतिरिक्त अद्वैतवेदान्त में, (१) उपक्रमोपसंहार, (२) अभ्यास (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति यह षड्विध लिंग और माने गये हैं। इन लिंगों के द्वारा भी वेदान्तवाक्य का तात्पर्यावधारण श्रवण कहा जाता है। 'श्रवणं नाम षड्विधलिंगैरशेषवेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानां तात्पर्यावधारणम्। (वेदान्तसार: पृ० ८३)

२. 'आगमार्थविनिश्चित्यै मन्तव्य इति भण्यते॥
(बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ४, वा० २१४)

३. श्रुत आगमतो योऽर्थस्तर्केणापि समर्थितः। (वही, अ० २, ब्रा० ४, वा० १५)

४. पदार्थविषयायेयं युक्तिस्तर्कोऽभिधीयते॥ (वही अ० २, ब्रा० १ वा० ८) तथा पदार्थविषयस्तर्कः तथैवानुमितिर्भवेत्॥ (वही अ० २, ब्रा० ४, वा० २२६)

५. 'अपरायत्तबोधोऽत्र निदिध्यासनमुच्यते॥' (वही—अ० २, ब्रा० ४, वा० २१७)

६. 'ईदृगैकात्म्यसंबोधो निदिध्यासनमुच्यते।' (वही, अ० १, ब्रा० ५, वा० १६)

७. निदिध्यासनशब्देन सम्यग्ज्ञानं विवक्षितम्॥' (वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ८९९)

भूत अद्वय ब्रह्म का बोध निदिध्यासन है।[1] निदिध्यासन ब्रह्मज्ञान की वह प्रारम्भिक अवस्था है, जहाँ वाक्यार्थ ज्ञान के समस्त अन्तराय का अभाव हो जाता है तथा मुमुक्षु के अनुभवात्मक ज्ञान का स्फुरण हो जाता है। यद्यपि सुरेश्वराचार्य ने निदिध्यासन को सम्यग्ज्ञान कह कर पारिभाषित किया है तथापि यह निष्कर्ष निकालना अनुपपन्न होगा कि निदिध्यासन तथा ब्रह्मज्ञान में कोई अन्तर नहीं। आभास-प्रस्थान में भी निदिध्यासन को ध्यानरूप न मान लिया जाय, इसी शंका की निवृत्ति के लिए वार्तिककार ने निदिध्यासन को विज्ञान रूप कहा है।[2] निदिध्यासन को ध्यानरूप कहने से उसकी सिद्धि के लिए प्रयत्न की आवश्यकता होती पर विज्ञानरूप मानने से निदिध्यासन की सिद्धि के लिये यत्न की कोई अपेक्षा नहीं होगी।[3]

श्रवण-मनन और निदिध्यासन का सम्बन्ध

वाचस्पति ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन को ब्रह्म साक्षात्कार का सहायक साधन माना है और इनका क्रम 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० उ० २।४।५) श्रुति विहित स्वीकार किया है। उनका कहना है कि श्रवण-मनन एवं निदिध्यासन के अभ्यास के संस्कार से युक्त मन के द्वारा अन्तःकरणवृत्तिभेदरूप ब्रह्म साक्षात्कार उसी प्रकार समुन्मीलित होता है, जैसे गान्धर्वशास्त्र के श्रवणाभ्यास से संस्कृत मन में षड्जादिभेद साक्षात्कार समुदित होता है।[4] सर्वापेक्षाधिकरण (३।४।२६) की भामती से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रवण मनन का कारण है, मनन निदिध्यासन का कारण है तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन की ब्रह्म साक्षात्कार में समप्रधान साधनता है अतएव श्रवणादि में परस्पर अंगांगिभाव नहीं।[5]

---

१. 'श्रुत आगमतो योऽर्थस्तर्केणापि समर्थितः।
स एवार्थस्तु निर्णातो निदिध्यासनमुच्यते ॥' (वही अ० २, ब्रा० ५, वा० १५)

२. 'ध्यानशंका निवृत्यर्थं विज्ञानेनेति भण्यते ॥
निदिध्यासनशब्देन ध्यानमाशंक्यते यतः ॥ (वही—अ० २, ब्रा० ४, वा० २३३)

३. निदिध्यासन सिद्ध्यर्थो यत्नोऽस्तोऽयमनर्थकः।
प्रत्यग्याथात्म्य संबोध मात्रत्वादेव हेतुतः (बृ० उ० भा० वा० अ० २, ब्रा० ५, वा० १७)

४. 'ब्रह्मसाक्षात्कारश्चान्तःकरणवृत्तिभेदः श्रवणमननादिजनितसंस्कारसचिवमनोजन्मा षड्जादिभेदसाक्षात्कार इव गान्धर्वशास्त्रश्रवणाभ्याससंस्कृतमनोयोनिः ॥' (भामती, पृ० ९४, पंक्ति ६-७;

५. वही, पृ० ८०२, पं० २-५।

विवरणकार ने ब्रह्मसाक्षात्कार में श्रवण को अंगि अर्थात् प्रधान तथा मनन और निदिध्यासन को श्रवण का अंग माना है।[1] प्रमेयावगम के प्रति प्रमाण अव्यवहित कारण होता है अतः प्रमाणरूप श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण है। मनन और निदिध्यासन चित्त की एकाग्रवृत्तिकार्यता के द्वार से ब्रह्मानुभव प्राप्त करते हैं, अतः श्रवण के अंग हैं।[2] मनन और निदिध्यासन का यह अंगत्व पूर्वमीमांसा सम्मत अवघातादि के समान स्वरूपोपकारित्व नहीं प्रत्युत् प्रयाजादि के समान श्रवणादि के फलभूत ब्रह्म-साक्षात्कार का उपकारित्व है।[3] जैसे मृत्तिका घट में प्रधान कारण है तथा चक्र चीव-रादि उपसर्जन कारण है, उसी प्रकार श्रवण ब्रह्म साक्षात्कार का अव्यवहित अर्थात् प्रधान कारण है और मनन-निदिध्यासन व्यवहित अर्थात् सहायक कारण हैं। अतएव विवरणकार के मत में श्रवण को अंगि तथा मनन-निदिध्यास को श्रवण का अंग माना गया है।

आभास-प्रस्थान के प्रतिष्ठापक सुरेश्वराचार्य ने श्रवण, मनन निदिध्यासन को श्रोतक्रमानुसार ब्रह्म साक्षात्कार का साधन माना है।[4] उनके अनुसार सर्वप्रथम आगमा-ध्ययन से मुमुक्षु को जगत् की आभासरूपता का ज्ञान हो जाता है तथा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एकमात्र सत्य ब्रह्म है, जिसके अज्ञान तथा अन्यथा ज्ञान से जगत् का अवभासन होता है। इसके पश्चात् कुशल तथा आगमार्थ वेत्ता आचार्य के उपदेश से प्राप्त श्रवण ब्रह्म के विषय में परोक्ष किन्तु असंभावनाद्यविरहित ज्ञान उत्पन्न कर देता है तथा जीव को मनन का अधिकारी बना देता है। श्रवण और मनन जन्य निष्णातता के द्वारा परोक्षज्ञान असंभावनादि रहित हो जाता है तदनन्तर वही ज्ञान निदिध्यासन की अवस्था में अपरोक्ष हो जाता है।[5] यह निदिध्यासन ब्रह्म साक्षात्कार का साक्षात् साधन है और श्रवण तथा मनन निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार में परम्परया कारण हैं।

---

१. 'मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणं नाम अंगिविधीयते। पंच-पादिकाविवरण, प्रथम वर्णक. पृ० ३०): मनननिदिध्यासनयोश्चश्रवणांग त्वमुत्तरत्र वक्ष्यामः।' (वही— पृ० ५३) तथा सर्वथा तावत् मनननिदिध्यासनाभ्यां अंगभूताभ्यां सह श्रवणविधानमस्त्येव। (वही, पृ० ३८)

२. वही, पृ० ४१०-१३।

३. नावघातादिवत् स्वरूपोपकारित्वम्, किन्तु प्रयाजादिवत् फलोपकार्यङ्गत्वात् न विरोधः (तात्पर्यदीपिका, पंचपादिका विवरण व्याख्या) पृ० २०।

४. बृ० उ० भा० वा०—अ० २, ब्रा० ४, वा० २१८-२०।

५ वही—अ० २, ब्रा० ५, वा० १५।

श्रवणादि में विधि-विचार—

वाचस्पति मिश्र ने श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन-इन तीनों में कोई विधि नहीं मानी है।[1] यद्यपि सर्वत्र वह विधि का निषेध करते हैं तथापि 'सहकार्यन्तरविध्यधिकरण' (३।४।१४) के 'अपूर्वत्वाद्विधिरास्थेयः'[2] इस पंक्त्यंश से प्रतीत होता है कि वह श्रवणादि में विधि का अंगीकार कर रहे हैं। प्रकटार्थ विवरणकार ने इसे वाचस्पति की पूर्वापर व्याहतभाषिता मानी है तथा उनके पांडित्य पर कटाक्ष किया है।[3] इसके विपरीत भामती के व्याख्याकार अमलानन्द[4] तथा अप्पय दीक्षित[5] ने वाचस्पति मिश्र के इस विरोधात्मक पंक्त्यंश का उनकी पूर्व टीका-पंक्तियों के साथ सामंजस्य किया है। कल्पतरु परिमलकार अप्पय दीक्षित का कहना है कि यहाँ अपूर्व विधि नहीं है, प्रत्युत 'सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्।' (ब्र० सू० ३।४।४७) सूत्र के 'विध्यादिवत्' पद तथा 'एवमभिविप्रकानेऽप्यस्मिन्विधिवाक्ये मौनविधिः।'—इस सूत्र-पद-भाष्य में प्रकट भेददर्शन के व्यासंग के कारण ध्यान में अनुत्सहमान (मुमुक्षु) के उत्साह-जनन के लिए विधिस्वरूप अर्थवाद है।[6] कल्पतरुकार के शब्दों में यहाँ पुराणादि-प्राप्त वेदान्तनियम का व्याख्यान है अतएव न तो वाचस्पति की पूर्वापरव्याहतभाषिता मानी जा सकती है और न सूत्र भाष्यानभिज्ञता ही।[7] कहने का अर्थ यह है कि वाचस्पति तथा उनके अनुयायियों को वेदान्त के श्रवणादि में कोई भी विधि नहीं स्वीकृत है।[8]

---

१. 'मनन निदिध्यासनयोरपि न विधिः, तयोरन्वयव्यतिरेकसिद्धसाक्षात्कारफलयोर्विधि-सरूपैर्वचनैरनुवादात्।' (भामती, पृ० ९७, पं० ५-६), 'न च चिन्तासाक्षात्कार-योर्विधिरिति तत्त्वसमीक्षायामस्माभिरुपपादितम्। विस्तरेणचाधमर्यस्तत्रैव प्रपंचितः। तस्मात् 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्' इतिवद्विधिसरूपा एते 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादयो न तु विधय इति।' वही, पृ० ६५०, पं० १-२), पृ० ८० २ पं० २-५। पृ० ८०८, पं० ३-४।

२. वही, पृ० ८१८, पं० ६।

३. 'वाचस्पतिः समन्वयसूत्रे श्रवणादि विधिं निराचचक्षे, अत्र तु तद्विधिमूरीचक्रे अहो बतास्य पांडित्यम्।' (प्रकटार्थविवरण)

४. कल्पतरुः, पृ० ६१९-२१।

५. कल्पतरुपरिमल, पृ० ६१८-२१।

६. 'मौनपदतद्भाष्ययोर्भेददर्शनव्यासंगाद् ध्यानेऽनुत्सहमानस्योत्साहजननार्थं विधि-सरूपोऽयमर्थवाद इत्यर्थेव तात्पर्यमिति भावः।।' (कल्पतरुपरिमल, पृ० ६१९)।

७. कल्पतरु, पृ० ६२१।

८. 'नात्रापूर्वविधिः प्राप्तेरन्यथोपायतो नच।।'
नियमः परिसंख्या वा श्रवणादिषु संभवेत्।। (वही, पृ० ६१९)

विवरणकार प्रकाशात्म यति ने श्रवणादि में नियमविधि अंगीकृत किया है।[1] सिद्धान्तलेशसंग्रह ने श्रवण के विषय में परिसंख्याविधि मानी है तथा इसे वार्तिक मतानुसार बताया है।[2] अमलानन्द ने अपने कल्पतरु[3] में यह सिद्ध करना चाहा है कि भामतीकार का यह अभ्युपगम कि श्रवण में कोई विधि नहीं, सुरेश्वर के अभ्युपगम के समान है। अमलानन्द के इस निष्कर्ष से कल्पतरु के अध्येता को यह ज्ञान हो सकता है कि सुरेश्वराचार्य श्रवण में कोई विधि नहीं मानते। पर अमलानन्द का यह मत वार्तिक के तात्पर्य-परिज्ञान का परिचायक नहीं, क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक में ऐसे अनेक वार्तिक हैं[4] जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुरेश्वर का विधि विषयत्व स्वीकार करते हैं। वह निदिध्यासन के साधन भूत श्रवण एवं मनन दोनों में विधि मानते हैं तथापि निदिध्यास के लिए कोई विधि नहीं स्वीकार करते। उनके आभास-प्रस्थान के अनुसार निदिध्यासन सम्यग्ज्ञान है, फलतः निदिध्यासन सिद्धि के लिए विधि अनर्थक है।[5] चित्तवृत्तिनिरोध (जिसे योगशास्त्र सम्मत निदिध्यासन फलित कैवल्य का साधन माना जाता है, भी आचार्य सुरेश्वर के द्वारा निदिध्यासन में मान्य नहीं। उनका कहना है कि चित्तवृत्तिनिरोध को श्रुतियों में मुक्ति का साधन नहीं माना गया है, प्रत्युत एकमात्र प्रत्यग्बोध को कैवल्य का साधन बताया गया है।[6] जिसे सुरेश्वर ने ब्रह्मसाक्षात्कार की प्रारम्भिक अवस्था मानी है, ऐसे निदिध्यासन में चित्तवृत्तिनिरोध का क्या स्थान हो सकता है?

---

१. 'सर्वथा तावत् मनननिदिध्यासनाभ्यां अंगभूताभ्यां सह श्रवणविधानमस्त्येव।' पंचपादिकाविवरण, पृ० ३८, वर्णक प्रथम) तथा 'मनन निदिध्यासोपबृंहितस्य श्रवणस्य सम्यग्दर्शनाय विधेयत्वमंगीकृत्य प्रथम सूत्रं प्रवृत्तमित्यर्थः।' (वही—, नवम वर्णक, पृ० ७७३)

२. सिद्धान्तलेशसंग्रह, परिच्छेद १, पृ० ३८-४०।

३. 'युक्त वार्तिककृद्भिरुक्तम्—' सर्वमानप्रसक्तौ च सर्वमानफलाश्रयात्। श्रोतव्य इत्यत. प्राह वेदान्तावरुद्धया।' इति। प्रमाणफलं साक्षात्कारं प्रति सर्वमान प्राप्तौ वेदान्ता नियम्यन्ते इत्यत्रापि प्रमाणनियमउक्तो न श्रवणनियमः।' (कल्पतरुः पृ० ८२१)

४. बृ० उ० भा० वा०—अ० २, ब्रा० ४, वा० २१२-२०, 'एवं श्रोतव्य आत्मायं समाप्तः श्रवणे विधिः। अथ मन्तव्य इत्यस्य प्रपंच पर उच्यते।' (वही, अ० २, ब्रा० ४, वा० २६३) तथा सम्बन्धवार्तिक, वा० ८०४।

५. 'निदिध्यासनसिद्धयर्थो यत्नोऽतोऽयमनर्थकः' (वही, अ० २, ब्रा० ५, वा० १७।)

६. वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ८४८-४९।

ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद:

सभी वेदान्ती (जिसमें कुछ मायावादी भी हैं) यह नहीं मानते कि एकमात्र ज्ञान ब्रह्म साक्षात्कार का साधन है। ज्ञान को ब्रह्म साक्षात्कार का अपरिहार्य साधन स्वीकार करते हुए भी इनका विचार है कि ज्ञान मोक्ष का साधन तभी हो सकता है, जब इसका कर्म के साथ समुच्चय हो। सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्त्तिकों और नैष्कर्म्य सिद्धि में ज्ञान-कर्म का समुच्चय मानने वाले तीन मतों का उल्लेख तथा खंडन किया है।

प्रथम मत:—नैष्कर्म्य सिद्धि (१।६७) की सम्बन्धोक्ति में प्रथम मत का उपन्यास निम्नलिखित शब्दों में किया गया है—

'यदेतत् वेदान्तवाक्यादहं ब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते, तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति किं तर्हि अहन्यहनि द्राघीयसा कालेन उपासीनस्य सतः भावनोपचयात् निःशेषमज्ञानमपगच्छति, 'देवो भूत्वा देवानप्येति।' इति श्रुतेः।'

नैष्कर्म्य सिद्धि की विद्या सुरभि व्याख्या में यह मत ब्रह्मदत्तसम्बन्धित बताया गया है।[1] महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने अच्युत से प्रकाशित भाष्यरत्न प्रभा की भूमिका में लिखा है[2] कि शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।७) के भाष्य[3] में ब्रह्मदत्त के मत का उल्लेख किया है। अतः यह कहना अप्रमाणित नहीं कि सुरेश्वर ने विस्तारपूर्वक १७ वार्तिकों में प्रस्तुत मत का उपबृंहण किया है।[4] सम्बन्धवार्तिक (७६७) में भी आनन्दगिरि के मतानुसार[5] सुरेश्वर के द्वारा ब्रह्मदत्त के मत का उल्लेख किया गया है। अन्य ग्रन्थों[6] में भी इनके व्यक्तित्व या सिद्धान्त की झलक प्राप्त होती है। इन सब उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मदत्त एक प्रसिद्ध और प्राचीन वेदान्ती थे। आभासवादी सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थों में इनके जिन मुख्य सिद्धान्त का निर्देश एवं खंडन किया है, वह इस प्रकार है—उपनिषदों का वास्तविक तात्पर्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में नहीं है किन्तु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'

---

१. 'केचिद् ब्रह्मदत्तादयः सम्प्रदाय बलावष्टम्भात् सम्प्रदाय एव बलं तदवष्टम्भात्। न प्रमाण युक्ति बलावष्टम्भात्॥'

२. पृ० १४ (अच्युत ग्रन्थमाला)

३. बृ० उ० शा० भा०, पृ० ११८।

४. बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० ७६२-८०८।

५. 'इह तु ब्रह्मदत्तादिमतेन आत्मध्याने विधिमार्गस्य निरस्यते तन्न पुनरुक्तिरित्याह। नियोगेति।' (बृ० उ० भा० वा० टीका (शास्त्र प्रकाशिका) पृ० २२०।

६. यामुनाचार्यः सिद्धित्रय (प्रारम्भ) मणिमंजरी ६।२-३, तत्त्वमुक्ताकलाप टीका (सर्वार्थ), वेदान्त देशिकाचार्य २-१६।

इत्यादि नियोग वाक्यों में है। केवल नियोगानुप्रवेश के द्वारा वस्तु का अवबोध होता है, अतएव विधिशून्य वाक्यों का प्रमाण्य नही स्वीकृत हो सकता है। सुरेश्वर के समान यह ज्ञानकांड प्रधान उपनिषदों को सिद्धवस्तुविषयक नही मानते हैं प्रत्युत् साध्यविषयक मानते हैं। ब्रह्मदत्त का विचार है कि 'तत्त्वमसि' 'आदि वाक्य वस्तु के स्वरूप के बोधक हैं, अतएव आत्मा उपासना-विधि का शेष है। अज्ञान-निवृत्ति भावनाजन्य साक्षात्कारात्मक ज्ञान से होती है, वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञान से नहीं। वेदान्त वाक्य श्रवण करने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् दीर्घकाल तक उपासना करनी पड़ती है। इस प्रकार भावना के उत्कर्ष से अपरोक्ष ज्ञान आविर्भूत होता है, जिसके द्वारा अज्ञान पूर्णतया निवृत्त हो जाता है। इस मत में साधना का क्रम इस प्रकार बताया गया है—सर्वप्रथम उपनिषद् से ब्रह्म का परोक्षज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसके पश्चात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावना का अभ्यास करना चाहिए। इस ज्ञानाभ्यास की दशा में भी कर्म का समुच्चय आवश्यक है। जीवनपर्यन्त कर्म का त्याग नहीं होता; इसलिए ब्रह्मदत्त का सिद्धान्त ज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय स्वीकार करता है। ज्ञानोत्तम ने भी नैष्कर्म्यसिद्धि की चन्द्रिका नामक टीका में इन्हें ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी कहा है।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मदत्त के अनुसार केवल ज्ञान नहीं प्रत्युत् ज्ञान का अभ्यास, भावना या प्रसंख्यान[2] ब्रह्मज्ञान का साधन है और इस प्रसंख्यान में कर्म के साथ समुच्चय अनुपपन्न है।

द्वितीय मतः—इस मत का उल्लेख सुरेश्वर के बृहदारण्यकोनिषद्भाष्यवार्तिक के १४ वार्तिकों में उपलब्ध होता है।[3] आनन्दगिरि की शास्त्रप्रकाशिका टीका में यह मत मंडन संबंधित बताया गया है।[4] नैष्कर्म्य सिद्धि (१६७) की संबन्धोक्ति में[5] भी यही

---

१. 'वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकाली न भावनोत्कर्षात् भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्तरेणैव अज्ञानस्य निवृत्तेः ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तिः। (नै० सि० टीका, पृ० ३८)।

२. 'असंख्यानं नाम तत्त्वमस्यादिशब्दार्यान्वियव्यतिरेकयुक्तिविषयबुद्ध्याम्रेडनमभिधीयते।' (नै० सि०, अ० ३, सम्बन्धोक्ति कारिका ९० पृ० १६०)

३. बृ० उ० भा० वा०—अ० ४ ब्रा० ४, वा० ७९६-८१०)।

४. संप्रत्यकार्यकारणासामान्यविशेषं प्रत्यग्ब्रह्मेत्युपगच्छतां मंडनादीनां तद्व्याख्यामुत्थापयति। (बृ० उ० भा० वा० टीका, पृ० १८५२)

५. 'अपरे तु ब्रवते वेदान्त वाक्यजनितमहं ब्रह्मेति विज्ञानं संसर्गात्मकत्वादात्मवस्तु याथात्म्यावगाह्येव न भवति। किं तर्हि एतदेव गंगास्त्रोतोवत्सततमभ्यस्यतोऽन्यदेव वाक्यार्थात्मकं विज्ञानन्तरमुत्पद्यते। तदेवाशेषज्ञानतिनिरोत्सारीति' विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत् ब्राह्मणः।' (पृ० ३८) तथा, वही, संबन्धोक्ति, अ० ३, का० ९, पृ० ११४-१५)

मत अपर मत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह मत भी ब्रह्मदत्त के समान क्रिया अथवा उपासना में ही उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य मानता है तथा 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों को विधि संश्लिष्ट स्वीकार करता है। इनका कथन है कि श्रावणज्ञान के अनन्तर उपासना अथवा ध्यान अपेक्षित है क्योंकि वेदान्त वाक्य से जो 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह संसर्गात्मक है अतः उससे असंसर्गि आत्म-स्वरूप की यथावत् प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। निरन्तर इस (वेदान्तवाक्योत्थ संसर्गात्मक ज्ञान) के अभ्यास से एक असंसर्गि तथा अशेषतमोहन्त्री प्रज्ञा का उदय होता है और उसी से ब्रह्म का बोध होता है।[1] (विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत (बृ० उ० ४।४।२१) यह श्रुति मंडन के द्वारा इस विषय में प्रमाण रूप से प्रत्युपस्थापित की गयी है। मंडन के अनुसार इस श्रुति का अभिप्राय यह है—विज्ञान के अनन्तर अर्थात् संसृष्ट रूप ब्रह्म को जानकर प्रज्ञा का साधन करना चाहिए अर्थात् साक्षात्कारात्मक अथवा असंसर्गात्मक ज्ञान का सदैव अभ्यास करते रहना चाहिए। स्पष्ट है कि इस मत में समुच्चय की आवश्यकता है मंडन के मत में लौकिक और वैदिक अखिल वाक्य संसर्गात्मक है अतः अपने स्वभाव का उल्लंघन करके वे असंसर्गात्मक ब्रह्म का साक्षात् बोध करने में समर्थ नहीं हो सकते।[2] इनसे सर्वप्रथम 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक संसर्गात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर प्रत्यगात्मगोचर 'अहं ब्रह्म' ऐसा अवाक्यार्थरूप ज्ञान जब तक अविर्भूत न हो जाय तब तक निदिध्यासन (जो इस मत के अनुसार ध्यान स्वरूप माना जाता है[3]) का अभ्यास अपेक्षित है। इस निदिध्यासन अर्थात् ध्यान के अभ्यास से अवाक्यार्थ प्रतिपत्तिकारक अन्यतम ज्ञान उत्पन्न होता है और यही कैवल्यदायक है। यही गम्भीर न्यायवेत्ता मंडन का मत है। अबतक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस मत में भी ब्रह्मदत्त के समान अभ्यास या प्रसंख्यान का ब्रह्मज्ञान में उपयोग बताया गया है। इन दोनों मतों में अन्तर

---

१. 'तस्माद्वाक्योत्थविज्ञानसाधनाभ्यासतोऽनिशम् ॥
प्रज्ञां कुर्यादसंसर्गि ब्रह्मयाथात्म्यबोधिनीम् ॥
अपेताशेषसंसर्गं तयैव ब्रह्म गम्यते ॥
यतोऽशेष तमोहन्त्री प्रज्ञासैवात इष्यते ॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ०४, ब्रा०४, वा० ८०७-८)

२ 'स्वभावतोऽखिलं वाक्यं संसर्गात्मकमेव हि। परोक्षावृत्त्या च तथा वस्तु बोधयति स्वतः। स्वस्वभावं न चोल्लङ्घ्य स्वभावान्तरसंश्रयात्। ब्रह्मासंसर्गि साक्षाच्च शब्दः शक्नोतिबोधितुम्।
(बृ० उ० भा० वा० अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८०१-२

३. निदिध्यासनशब्देन साधनं ध्यानलक्षणम् ॥ (वही, अ० ४, ब्रा० ४ वा० ८०६)

इतना है कि ब्रह्मदत्त के अनुसार अभ्यास प्रंख्यान स्वयं ही मोक्षका कारण है। इसके विपरीत मंडन का विचार है कि प्रसंख्यान या अभ्यास के द्वारा परिमाजित ज्ञान मोक्ष का साधन है।[१] एक यह भी अन्तर हे कि प्रथम मत में कर्म वे ज्ञान साथ का समुच्चय है तथा दूसरे मत में ज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय है अर्थात् प्रथम मत में कर्म की और दूसरे मत में ज्ञान की प्रधानता है।[२] मंडन की ब्रह्मसिद्धि में इस प्रसंख्यान सिद्धान्त अर्थ का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके पश्चात् अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपनी भामती में भावनापराभिधाना ब्रह्मोपासना अर्थात् प्रसंख्यान के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के सिद्धान्त का समुपन्यास किया है।[३] विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत् ब्राह्मणः '(बृ० उ० ४।४। २१) इस श्रुति का अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है— 'विज्ञाय तर्कोप्रकरणेन शब्देन प्रज्ञां भावना कुर्वीत[४] अमलानन्द ने भी कल्पतरु में प्रसंख्यान सिद्धान्त को वाचस्पति से सम्बन्धित बताया है तथा यह मत व्यक्त किया है। वाचस्पति मंडन मिश्र के समान प्रसंख्यान के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार मानते हैं।[५]

प्रसंख्यान विधिपरक प्रथम-द्वितीयमत का खंडनः—

प्रथम तथा द्वितीय यह दोनों पक्ष प्रसंख्यान या भावना के द्वारा मोक्ष मानते हैं अतः सुरेश्वर ने इन पक्ष द्वय का खंडन एक साथ किया हैं।[६] सुरेश्वराचार्य ने प्रसं-

---

1. "........but he differs from the latter in that he makes not this meditation, itself means to moksa, but a different type of Jnana, distilled, so to sped out of the meditation" (prof. Hirriyanna, Introduction Naiskermya. Siddhi, p. xxv)
2. Dr. V. P. Upadhya, Lights on Vedanta, page 228-29.
३. सत्यं तथा चोध्वरेतसां चाश्रुमिणां विनापि तैर्विशुद्धोदय इष्यते किन्तु कालकृतोविशेषः साधनविशेषाद्धि सा क्षिप्रं क्षिप्र तरं चा व्यज्यते तदभावे चिरेण चिरतरेण च। तदुक्तम्—सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्।' एषो र्थः—यज्ञेन दानेन 'इति श्रवणात् कर्माण्यपेक्षन्ते विद्यायामभ्यासलम्यायमदि, यथान्तरेणाप्यश्वं ग्रामप्राप्तौ सिद्धान्त्यौ शैघ्रया याक्लेशाय वाश्वोऽपेक्ष्यते। ब्रह्मसिद्धिः, पृ० १६, पं० २१-२३, और पृ०
४. भामती, पृ० ३०, पं० २९ तथा पृ० ३१, पंक्ति १-२३।
५. वही, पृ० ३०, पंक्ति १५-१६। ३. कल्पतरु, पृ० २१८, पंक्ति २-३।
६. अरय पक्ष, द्वयस्य निवृत्तये इदानीमभिधीयते (नैष्कर्म्यसिद्धि, १।६७ पृ० ३८) वही अ० ३ कारिका ८३-९३, पृ० १५७-१६१ तथा अ०३, का०१२३-२६, ३७। पं १-३) पृ०१७५-७७; संबन्धवार्तिक,पा० ७९७-८४२,पृ० २१९-२१; बृ० उ० भा वा० अ०१, ब्रा०४, व० १५११-२७; अ० २, ब्रा०४, वा०२०-२८ तथा अ०४, ब्रा०४, वा० ८११-३५।

ख्यान का खंडन करने के पूर्व प्रसंख्यानवादियों से यह जानने की इच्छा की है कि प्रसंख्यान का संभव प्रयोजन क्या है ? यदि उत्तर हो कि वस्तु की सिद्धि प्रसंख्यान का प्रयोजन है तो उपयुक्त नहीं, क्योंकि आत्मवस्तु स्वतः मुक्त है केवल अज्ञान के कारण उसकी बद्धता प्रतीत होती है। जो वस्तु साध्य है उसके लिए साधन की अपेक्षा है किन्तु आत्मवस्तु स्वतः सिद्ध है, अतः प्रसंख्यान से उसकी सिद्धि असंभव है। प्रसंख्यान से असाध्य होने पर इस प्रत्यगात्मवस्तु के प्रति भावना या प्रसंख्यान की क्या अपेक्षा होगी।[1] यह भी नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म की परोक्ष्यनिवृत्ति प्रसंख्यान का निश्चित प्रयोजन है, जिसके आभास से परोक्ष वस्तु भी अपरोक्षवत् प्रतीत होते हैं, उस स्वमहिमसिद्ध, सर्वप्रत्यक्तम् एवं सर्वदा अपरोक्ष ब्रह्म में पारोक्ष्य की कल्पना कैसे ?[2] ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति भी प्रसंख्यान का प्रयोजन नहीं माना जा सकता क्योंकि अज्ञान-निवृत्ति का निश्चित साधन एकमात्र ज्ञान है। यदि यह कहा जाय कि प्रमाणान्तरविरुद्ध होने के कारण तत्त्वमस्यादि वाक्यों का स्वतः वस्तुबोधकत्व अनुपपन्न है केवल प्रसंख्यान के द्वारा वस्तुबोधकता स्वीकृत हो सकती है, तो तर्क सही नहीं क्योंकि जब उपक्रमोपसंहारादि से विचार्यमाण तत्त्वमस्यादि वाक्यों की क्रियाविषयता कटाक्ष से भी नहीं वीक्षित होती, तब उनका प्रसंख्यानादि विधिपरत्व दुस्संभाव्य है।[3] यदि यह कहा जाय कि जैसे तेल, वर्तिका एवं अग्नि तीनों को प्रदीप प्रकाशोत्पत्ति में कारण माना जाता है उसी प्रकार उपनिषद्, युक्ति और प्रसंख्यान यह तीनों ब्रह्म साक्षात्कार रूपफल की प्राप्ति कराते हैं, तो प्रश्न होता है कि क्या यह तीनों परस्पर मिलकर ब्रह्म साक्षात्कारात्मक फल के आधायक हैं अथवा पृथक्-पृथक् ? प्रथम विकल्प संभव नहीं क्योंकि युक्ति तथा प्रसंख्यान ब्रह्म-साक्षात्कार में सहायक हो सकते हैं, पर ब्रह्म साक्षात्कार का साक्षात् कारण औपनिषद् ज्ञान है। द्वितीय विकल्प अर्थात् उपनिषद्, युक्ति और प्रसंख्यान को पृथक्-पृथक् भी ब्रह्म साक्षात्कार का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि यह मान्यता एक ही ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए अनेक कारणों की विधायिका होगी तथा उल्लिखित दूषणों की विषय बन जायगी—(१) यदि किसी एक साधन से आकांक्षित ब्रह्मसाक्षात्कार हो तो अन्य दो साधन स्पष्टतः निरर्थक हो जायेंगे। (२) युक्ति और प्रसंख्यान-यह दोनों साक्षात् ब्रह्मसाक्षात्कार के कारण नहीं हो सकते

---

१. सम्बन्धवार्तिक-७६८-६९।

२. वही, ७९३।

३. 'यदा तु तत्त्वमस्यादिवाक्यं सर्वप्रकारेणापि विचार्यमाणं न क्रियां कटाक्षेणापि वीक्षते तदा प्रसंख्यानादि व्यापारो दुस्सम्भाव्य ॥' (नैष्कर्म्यसिद्धि, सम्बन्धोक्ति, अ० ३, का० ८२, पृ० १५६।

और (३) यह मान्यता ज्ञान-कर्म समुच्चय पक्षानुकूल भी नहीं अर्थात् इस मान्यता से ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादियों का सिद्धान्त अपहस्तित हो जाता है।[1] तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थ का अन्वय व्यतिरेकभूत युक्ति विषयिणी बुद्धि के द्वारा आम्रेडन अर्थात् अभ्यास रूप प्रसंख्यान का प्रमोत्पादकत्व अनुपपन्न कैसे हैं, जब कि यह अनुष्ठीयमान हो ऐकाग्र्यवर्धन के द्वारा नहीं प्रत्युत प्रमिति वर्धन के द्वारा परिपूर्ण प्रमिति उत्पन्न करता है। यह प्रसंख्यावादियों की शंका भी आचार्य सुरेश्वर के अनुसार समुपपन्न नहीं क्योंकि अभ्यास के द्वारा केवल बुद्धि का ऐकाग्र्य संभव है। प्रमाण अभ्यास की अपेक्षा किए बिना स्वतः विषयावबोधन करते हैं।[2] प्रसंख्यानवादियों का यह अभ्युपगम कि अभ्यासोपचित भावना समस्त सांसारिक दुःखों का निर्वतन कर देगी, उपयुक्त नहीं क्योंकि भावनाजन्य होने के कारण यह निवृत्ति-फल ऐकान्तिक नहीं हो सकता।[3]

संसृष्ट स्वभाव तत्त्वमस्यादि वाक्यों के श्रवण से संसृष्ट परोक्षतया अवगत ब्रह्म के असंसृष्टापरोक्ष बोध के लिए संसर्गात्मक ज्ञान का निरन्तर ध्यान या अभ्यास अपेक्षित है—इस मंडन मत का आचार्य सुरेश्वर ने इस प्रकार यत्नतः प्रतिवाद किया है[4] मानान्तर से अपरिज्ञात प्रमेय के अज्ञातत्व का बाध कर प्रमेय का बोध कराना प्रमाण का लक्षण है। अतः प्रमान्तर से अनधिगत ब्रह्म के अज्ञान का बाध कर ब्रह्म का निश्चित ज्ञान कराने वाले तत्त्वमस्यादि वाक्यों को अप्रमाण नहीं माना जा सकता।[5] तत्त्वमस्यादि वाक्य से प्रतीयमान होने वाले ब्रह्म के विषय में यह कथन, कि पहले संसर्गात्मक ब्रह्म का बोध होता है और तत्पश्चात् तदभ्यासोत्थ ज्ञान से असंसर्गात्मब्रह्म का बोध होता है, प्रमाणविरुद्ध होने के कारण अनुपपन्न है। यह मान्यता—कि जैसे दूरस्थ चक्षु से सर्वप्रथम वृक्ष के विषय में (यह कोई वस्तु है) इत्याकारक सामान्य ज्ञान होता है

---

१. सम्बन्ध वार्तिक, वा० ८११-१५।

२. अभ्यासोपचयाद्बुद्धेर्यत्स्यादेकाग्र्यमेवतत्।
नहि प्रमाणान्यभ्यासात्कुर्वन्त्यर्थावबोधनम्॥
(नैष्कर्म्यसिद्धि, अ० ३ का० ९०, पृ० १६०)

३. अभ्यासोपचिता कृत्स्नं भावनायेन्न निवर्तयेत्।
नैकान्तिकी निवृत्तिस्यादभावनाजं हि तत्फलम॥
(वही, अ० ३, का० ९१ पृ० १६०।

४. बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८१०-८३५।

५. मानान्तरापरिज्ञाते प्रमेयार्थ प्रमां स्फुटाम्। मेयाज्ञातत्वबाधेन कुर्वन्मानामितिर्यते।
ब्रह्मानधिगतं नेदं वाक्यादन्यैः प्रमातन्त्रैः। तद्यथावोधयेद्वाक्यं तत्तथैवेति गृह्यताम्॥
(वही, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८११-१२)

और पुनः समीप गमन से 'वृक्षोऽयम्' यह विशेष सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार स्वस्वभावानुसार शब्द सर्वप्रथम संसृष्ट-परोक्ष ब्रह्म का ज्ञान कराता है और इसके पश्चात् अभ्यास सचिव हो असंसृष्ट अपरोक्ष ब्रह्म का बोध कराता है—भी उपर्युक्त नहीं, क्योंकि कारक के विषय में यह तारतम्य स्वीकृत हो सकता है, पर 'तत्त्वमसि' इत्यादि बोधक वाक्यों में नहीं।[1] जैसे दीपक युगपत् अनेक विषयों का प्रकाशक होता है उसी प्रकार इन बोधक वाक्यों में बिना किसी क्रम के अर्थात् युगपत् अनेक व्यंजकता होती है। ब्रह्म चाहे मानान्तर से ज्ञात हो अथवा अज्ञात दोनों विकल्पों में शाब्दज्ञान को अयथावस्तुविषयक नहीं माना जा सकता।[2] शाब्दज्ञान समकाल ही अविद्या निराकृति और पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है अतः विधि का अभ्युपगम निरर्थक है।[3] वाक्य प्रमाणोद्भूत ज्ञान अयथावस्तु-विषयक है एवं अप्रमा अर्थात् अभ्यासोत्थ ज्ञान वस्तुविषयक है—यह कथन केवल पांडित्य का सूचक है, वस्तुतत्त्वग्राहक नहीं क्योंकि यदि मिथ्याज्ञान के अभ्यास से सम्यक् ज्ञान का समुद्भव स्वीकार किया जाय तो (मिथ्याज्ञान का सदैव अभ्यास करने वाले) देहियों को बिना किसी प्रयत्न के ही मुक्ति होने लगेगी।[4] प्राणी सदैव मिथ्या विज्ञान का अभ्यास करते हैं, किन्तु यह देखा जाता है कि उन्हें ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता। अतः मिथ्या-ज्ञान का अभ्यास सम्यग्ज्ञान के जन्म के कारण नहीं माना जा सकता।[5] मान के व्यंजक मात्र होने के कारण प्रसंख्यानवादियों का यह कथन भी युक्ति सह नहीं कि 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' यह श्रुति मिथ्याज्ञानाभ्यास अर्थात् प्रसंख्यान को सम्यग्ज्ञान के जन्म में कारण मानती है।[6] जैसे लोक में जिसका अभ्यास किया

---

१. नचापि स्वप्रमेयेस्ति मानानां बोधहेतुतः। तारतम्यं यथाकार्ये कारकाणामसंभवात्।
(वही—अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८१५)।

२. बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८१६-१८।

३. 'प्रज्ञायाश्च समाप्तत्वादविद्यायाश्च निराकृतेः॥
पुरुषार्थस्य चाप्तत्वात्किंमर्थं विधिशासनम्'॥ (वही, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८१९)

४. वाक्यमानोद्भवं ज्ञानमयथावस्त्वितीर्यते॥
यथावस्त्वप्रमोत्थं च चित्रं सर्वज्ञचेष्टितम्।
न च मिथ्याधियोऽभ्यासात्सम्यग्ज्ञानं समुद्भवः॥
तथा सत्यप्रयत्नेन मुक्तिः स्यात्सर्वदेहिनाम्॥
(वही, अ०४, ब्रा० ४, वा० ८२०-२१)

५. वही, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८२२।

६. अपि मिथ्याधियोऽभ्यासः सम्यग्ज्ञानस्य जन्मने।
स्यादेव चेच्छ्रुतेर्मानत्वान्नमितेर्व्यंजकत्वतः॥ (वही, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८२८)

जाता है उसी का दार्ढ्य देखा जाता है, उसी प्रकार मिथ्याज्ञान के अभ्यास से मिथ्याज्ञान ही दृढ़ होगा। इस प्रकार भावना, अभ्यास या प्रसंख्यान (जो सुरेश्वर के शब्दों में मिथ्याज्ञान है।) कभी भी सम्यग्ज्ञान का उत्पादक नहीं हो सकता। अतएव प्रसंख्यान-विधि का ब्रह्मज्ञान में साक्षात्कारणत्व असंभव है।

तृतीयमत: भर्तृप्रपंच सम्मत ज्ञान–कर्म समुच्चय—

प्रधान, गुण तथा साम्य के भेद से कर्म का ज्ञान के साथ त्रिधा समुच्चय संभव है।[1] प्रथम तथा द्वितीय प्रकार का समुच्चय ब्रह्मदत्त तथा मंडन के प्रस्थान में स्वीकृत है—यह निरूपित किया जा चुका है। तृतीय अर्थात् ज्ञान और कर्म का समान समुच्चय भर्तृप्रपंच के भेदाभेद प्रस्थान में प्राप्त होता है। संसार की सभी वस्तुओं को भेदाभेदात्मक रूप से उपलब्ध देखकर भर्तृप्रपंच ने औपनिषद् ब्रह्म को भेदाभेदात्मक माना है।[2] भर्तृप्रपंच के अनुसार द्वैत प्रपंच अद्वैतसम सत्य है। द्वैत-द्वैत, या भेद-अभेद या एक-अनेक इन दोनों को सत्य मानने के कारण यह प्रस्थान दार्शनिक जगत् में द्वैताद्वैत या भेदाभेद, या अनेकान्त नामों से प्रत्यभिज्ञात होता रहा है। आभास-प्रस्थान-प्रतिष्ठापक सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकीय वार्तिक का लगभग पंचांश आभासवाद विरोधी इस प्रस्थान के उपन्यास एवम् व्युदास में विनियुक्त किया है। इस मत में कर्मकांड तथा ज्ञानकांड-इन दोनों का समान प्रामाण्य है, अतः भर्तृप्रपंच मोक्ष के लिए ज्ञान तथा कर्म दोनों की सम समाधि (समुच्चय) स्वीकार करते हैं।[3] द्वैताद्वैत प्रस्थान में मोक्ष दो प्रकार का है–[4] (१) अपरमोक्ष या अपवर्ग तथा (२) परामुक्ति या ब्रह्मभावापत्ति। इसी, शरीर में ब्रह्म साक्षात्कार होने पर प्रथम प्रकार का मोक्ष प्राप्त होता है। यह जीवन्मुक्तिसदृश है और इसका नाम अपरमोक्ष या अपवर्ग है। इस अपरमोक्ष की अवस्था को प्राप्त करने के लिए मुमुक्षु को हिरण्यगर्भाख्यिक ब्रह्म की

---

१. तेषां च ज्ञानसंयोगे प्रधान गुणभेदतः॥
त्रिधा विकल्पो विज्ञेयो विमुक्ति फल सिद्धये॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० ३, ब्रा० ३, वा० ४६)

२. भेदाभेदात्मकं सर्वं वस्तु दृष्टं यतस्ततः॥ (वही, अ०४, ब्रा०३, वा० १६४०) तथा
द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्म मैत्रद्वैर्वर्णितं किल॥
यत्र हि द्वैतामित्युक्त्वा यत्र त्वस्येति चादरात्॥ (वही, अ० ४, ब्रा० १, वा० ३१०)

३. 'र्श। स्यादथवात्त्वाय समाधिर्ज्ञान कर्मणोः॥ (वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० १७०१)

४. 'यदि वा द्विविधो मोक्षो जीवत्येव शरीरके॥ एकः साक्षात्कृतब्रह्मामृतेरूर्ध्वं च तत्लयः (वही, अ० ४, ब्रा० २, वा० १०२)

(हिरण्यगर्भोऽहम्) इस प्रकार की अहं ग्रहात्मक उपासना के साथ श्रुतिप्रतिपादित नित्यकर्मों का समुच्चय करना होता है।[१] इस उपासना और कर्म के समुच्चय से जो अपवर्गाख्य अवस्था प्राप्त होती है, वह भर्तृप्रपंच के अनुसार स्वर्ग एवम् संसार की अन्तरालावस्था है।[२] अपरमोक्ष की अवस्था में यद्यपि आसंग या वासना का पूर्णतः अभाव हो जाता है तथापि परप्राप्ति न होने के कारण परमात्मा की परिच्छेदिका अविद्या नाममात्र से बनी रहती है।[३] इस अविद्या की निवृत्ति के लिए पुनः द्वितीय समुच्चय की आवश्यकता है। इस समुच्चय का क्या स्वरूप अभिप्रेत है? यह भर्तृप्रपंच के मौलिक ग्रन्थ के अभाव में नहीं स्पष्ट होता। इतना ज्ञात है कि प्रथम समुच्चय में जीव ने सूत्रपद प्राप्त किया है, अब दूसरे समुच्चय में उसे 'ब्रह्मास्मि' (बृ० उ० १।४।१०) आदि वाक्यों के द्वारा विधीयमान ब्रह्मात्मैक्यज्ञान प्राप्त करना है। यह ज्ञान अव्यक्त ब्रह्म विद्या है और स्वतः अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता, अतएव इस विद्या का व्यक्त सूत्रात्मविद्या अर्थात् सूत्रोपासना के साथ पुनः समुच्चय करना चाहिए।[४] इस दूसरे समुच्चय के फलस्वरूप शरीरपात के अनन्तर परामुक्ति या ब्रह्म भावापत्ति हो जाती है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भर्तृप्रपंच ने दोनों प्रकार के मोक्ष के लिए ज्ञान और कर्म का सम समुच्चय स्वीकार किया है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कर्मकांड और ज्ञानकांड यह दोनों समवितत तथा अविनाभूत रूप से मोक्ष के कारण हैं। इस दृष्टि से इन्हें 'प्रमाणसमुच्चयवादी' भी कहा जा सकता है। मंडन के समान भर्तृप्रपंच का भी कथन है कि 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।७) आदि वाक्यों से सर्वप्रथम परोक्ष अर्थात् अनुभवानारूढ शाब्द ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः अपरोक्ष ज्ञान तब तक नहीं उत्पन्न हो सकता जब तक यह शाब्दज्ञान

---

१. बृ० उ० शा० भा०, १।४।१० पृ० १३३ तथा बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा०४, वा० ११२८-२९)

२. 'अपवर्गाख्यामन्तरालावस्थां परिकल्प्योत्तर ग्रन्थ सम्बन्धं कुर्वन्ति।' बृ० उ० शा० भा०, ३।२।१३, पृ० ३७३)

३. 'केवलाज्ञानमात्रेण व्यवधानं परात्मनः। अप्राप्य परमात्मानमन्तराले व्यवस्थितिः' बृ० उ० भा० वा, अ० १, ब्रा० ४, वा० १७१३)
तथा—नाममात्रावशेषो सावन्तरालेऽवतिष्ठते॥
परात्मनः परिच्छिन्नो विद्ययोपररूपया। (वही, अ० ३, ब्रा० २, वा० ४२)

४. 'समुच्चयस्ततोऽन्योयमव्यक्त ब्रह्मविद्यया। व्यक्तसूत्रात्मविद्याया: परोऽन्येन समुच्चयः।' (वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० १७०९)

सतत अभ्यस्यमान उपासना (जिसे भावना, ध्यान तथा प्रसंख्यान कहा जाता है) के द्वारा ब्रह्मभेदापादक अपरोक्ष ज्ञान में न पर्यवसित हो जाय।[1]

भर्तृप्रपंच सिद्धान्त का खंडन—

भर्तृप्रपंच का यह कथन कि द्वैत तथा अद्वैत इन दोनों रूपों में ब्रह्म सत्य है; सुरेश्वराचार्य के अनुसार युक्तिमत् गीत नहीं, प्रत्युत् अपवादविकल्पनमात्र है।[2] कर्तृतन्त्र वस्तुओं में विकल्पना की जा सकती है पर द्वैत वस्तु में द्वैताद्वैतात्मक विकल्प सम्भव नहीं।[3] प्रकाश एवं तम के समान परस्पर विरोधी अद्वैत और द्वैत इन दोनों अवस्थाओं का एकत्र समुच्चय नितान्त असम्भव है।[4] जो एक है, वह अनेक नहीं हो सकता और जो अनेक है वह एक नहीं हो सकता—इस सामान्य तथा संवृति-सिद्ध अनुभव के विपरीत भर्तृप्रपंच का भेदाभेदवाद केवल उनकी बुद्धि की उत्प्रेक्षा है।[5] भिन्न तथा अभिन्न का एकत्र सहभाव उसी प्रकार असम्भव है जैसे सूर्य और सत् में क्रमशः तम तथा असत् का अंशान्वेषण और आकाश में मूर्तता का दिग्दर्शन।[6] ज्ञान एवं कर्म का समुच्चय सुरेश्वर को कथमपि अभीष्ट नहीं। परस्पर साध्य-साधन भाव रूप कर्म और ज्ञान की एककालानवस्थिति असम्भव है अतः अज्ञानसमुच्चित कर्म अज्ञान के निरसन में समर्थ नहीं।[7] पंचास्य तथा उरण अर्थात् सिंह और मेष के समान परस्पर बाध्य-बाधक कर्म और ज्ञान का एक देश में सहावस्थान असंभव है।[8] यदि यह कहा जाय कि स्वशक्त्य-नपहारक रूप से दाह्य दाहक कर्म और ज्ञान का समुच्चय हो

---

१. 'सामान्येन समस्तं तद् विशेषैर्व्यस्तमेव च ॥
कृत्स्नमेव परं ब्रह्म सदोपासीत यत्नतः ॥' (बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४. वा० ६४८)

२. 'न च युक्तिमदिदं गीतं ह्यपवादविकल्पनम् ॥' (वही, अ० ५, ब्रा० १, वा० ६३)

३. वही, अ० ५, ब्रा० १, वा० ६७-६८)

४. 'परस्परविरोधाच्च नेकदैकत्र संभवः ॥
द्वयोरवस्थयोर्यद्वत्प्रकाशतमसोरिहा।' (वही, अ० ५, ब्रा० १, वा० ६६)

५. 'यदेकं तन्न नानेति नानानेकमिति प्रभा।
यो नमतिविरोध्यर्थः स कथं स्थाप्यते बलात् ॥ (वही, अ० १. ब्रा० ६, वा० ७६)

६. 'तमोंशत्वं यथा भानोः सतश्चाप्यसदंशता।
वियतोमूर्तनेवं स्याद्भिन्नाभिन्नत्वमात्मनः ॥ (वही, अ० ४, ब्रा० ३, वा० १८१२)

७. वही, अ० ३, ब्रा० ३, वा० ५८।

८. वही, अ० ३, ब्रा० ३, वा० ५६।

सकता है, तो उपयुक्त नहीं क्योंकि ऐसा समुच्चय भास्कर-तिमिर के समान अन्योन्य-विरोधी अतएव असंभव होगा।[१] आभास प्रस्थान के अनुसार अज्ञान-हान मुक्ति है और इस मुक्ति का साधन कर्म नहीं हो सकता क्योंकि अज्ञानोद्भूत कर्म अज्ञानात्मक होने के कारण अज्ञान का बाधक नहीं हो सकता।[२] केवल ज्ञान से कैवल्य सम्भव है, अज्ञान से नहीं अतः समस्त लौकिक-वैदिक कर्मों का अनुष्ठान कर लेने पर भी तत्त्वज्ञान से बहिष्कृत जीव की निर्वृत्ति-प्राप्ति असम्भव है।[३] कर्म के द्वारा मनुष्यजन्म निश्चित है और यदि जन्म बना है तो निर्वृत्ति की सम्भावना कैसे? द्विविध मोक्ष की प्राप्ति के लिए भर्तृप्रपंच सम्मत समुच्चय द्वय ((१) सूत्रोपासना के साथ नित्यादि कर्म का समुच्चय तथा (२) ब्रह्म विद्या के साथ सूत्रोपास्ति रूप कर्म का समुच्चय) भी न्यायाभाव के कारण समीचीन नहीं।[४] श्रुत्यक्षर के अनुरोध से इस प्रकार के समुच्चय की आशा असम्भव है। और बिना किसी प्रमाण के समुच्चय मानने वालो का व्यर्थ ही खंडन करना है। क्योंकि मानाभाव से उनका निवारण स्वतः हो जाता है।[५] वस्तुतंत्र मोक्ष केवल ज्ञान से प्राप्त हो सकता है कर्तृतंत्र कर्म से नहीं। अज्ञानध्वन्सकारी ज्ञान का मोक्ष औपचारिक कार्य है, यह औपचारिक कार्यत्व कारकस्वभाव कर्म में असम्भव है, अतः कर्म कथमपि मोक्ष का साधन नहीं हो सकता।[६] केवल ज्ञान के द्वारा अज्ञानहान सम्भव है। अतः ज्ञान और कर्म का समुच्चय सर्वथा असम्भव है। प्रत्यक कैवल्य-संसिद्धि के लिए ज्ञान समुच्चित कर्म के विषय में कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता, इसलिए भी ज्ञान कर्मसमुच्चयवाद सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं।[७]

---

१. बृ० उ० भा० वा०, अ० ३, ब्रा० ३, वा० ५६।६१।

२. वही, अ० ३, ब्रा० ३, वा० ३७।

३. वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० १६६६-७१।

४. वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० १७१०।

५. 'तस्मात्समुच्चयाशेह कार्यानाक्षर संश्रयात् ॥'
अप्रमाणं ब्रुवाणस्तु नास्माभिर्विनिवार्यते ॥ (वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० १७६८)

६. 'अज्ञानध्वंसकारित्वान्मोक्षो ज्ञानस्य भण्यते ॥'
उपचारात्कार्यमिति तदसत्त्वान्न कर्मणः ॥' (वही, अ० ३, ब्रा० ३, वा० ६०)

७. 'सर्वथानिवघटते ज्ञानकर्मसमुच्चयः ॥ विद्ययैव तमोहानादकार्ये कर्म किं फलम् ॥
न मानं किंचिदप्यस्ति ज्ञानकर्मसमुच्चितेः ॥ प्रत्यक्कैवल्यसंसिद्धौ ज्ञानादेव तमोहतेः।' (बृ० उ० भा० वा० अ० ३, ब्रा० ३. वा० ७२-७३)

ब्रह्म-साक्षात्कार का करण:—

ब्रह्म-साक्षात्कार का करण क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में अद्वैत वेदान्तियों के तीन मत हैं।[1] प्रथम मत के प्रवर्तक ब्रह्मदत्त तथा मंडन के अनुसार तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थाभ्रेडन अर्थात् प्रत्ययाभ्यास रूप प्रसंख्यान ही ब्रह्म साक्षात्कार में करण है।[2] ब्रह्म साक्षात्कार को ध्यान का फल मानते हुए अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति इस मत का समर्थन एवं उपबृंहण करते हैं।[3] कल्पतरुकार अमलानन्द के अनुसार भामतीकार मंडन के समान ही प्रसंख्यान के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार मानते हैं।[4]

अन्य अद्वैत वेदान्ती 'एषोऽणुरात्मा चेतसी वेदितव्यः 'दृश्यते त्वग्रय्‌या बुद्ध्या' इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से मन को ही ब्रह्म-साक्षात्कार में करण मानते हैं। वाचस्पति ने इस मत का भी समर्थन किया है। उनका कथन है कि ब्रह्म-साक्षात्कार सक्षात् आगम एवं युक्ति का फल नहीं, अपितु युक्त्यागमार्थज्ञानाहित संस्कार सचिव चित्त ही ब्रह्म-साक्षात्कारवती बुद्धिवृत्ति का समाधायक होता।[5] जैसे गन्धर्वशास्त्रार्थ-ज्ञानाभ्यासाहित संस्कार सचिव श्रोत्रेन्द्रिय षड्जादि स्वरग्राम मूर्च्छनादि भेदों के अनुभव में करण है उसी प्रकार वेदान्तार्थज्ञानाभ्यासाहित संस्कार सचिव अन्तःकरण जीव के आत्म

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, तृतीय परिच्छेद, पृ० ४६७-७४ तथा अद्वैतब्रह्मसिद्धि, चतुर्थमुद्गरप्रहार, पृ० २७३-८२।

२. नैष्कर्म्यसिद्धि, अ०१, का०६७, (सम्बन्धोक्ति), पृ० ३८; अ०३, कारिका ६०, (सम्बन्धोक्ति पृ० १६०) तथा सम्बन्धवार्तिक, वा०७६२)

३. भामती—ध्यानस्यहि साक्षात्कारः फलम्, साक्षात्कारश्चोत्सर्गतः तत्त्वविषयः (पृ० २२०, पंक्ति ६), ध्यानाभ्यासपरिपाकेन साक्षात्कारो विज्ञानम्।' (पृ० २२२, पं० ६), आगमाचार्योपदेशपूर्वक मनननिदिध्यासनप्रकर्षपर्यन्तजोस्य ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार उपावर्ततो। (पृ० ३२६, पं० २१-२२), 'तत्त्वमसि' इति वाक्यश्रवणमननध्यानाभ्यासपरिपाकप्रकर्षपयन्तजोर्स्यसाक्षात्कारः उपजायते। (पृ० ४२६ पं० ८-६) तथा श्रवणमनननिदिध्यासनाभ्यासस्यैवस्वगोचरसाक्षात्कार फलत्वेन लोकासिद्धत्वात्। (पृ० ८२६, पं०२।)

४. कल्पतरु, पृ० २१८, पं० २-३।

५. 'सत्यं न ब्रह्मसाक्षात्कारः आगमयुक्तिफलमपि तु युक्त्यागमार्थज्ञानाहित संस्कारसचिवंचित्तमेव, ब्रह्मणिसाक्षात्कारवती बुद्धिवृत्तिं समाधत्ते। (भामती, पृ० ८२६, पं० २-३।)

साक्षात्कार में करण है।[1] महावाक्यार्थ की भावना के परिपाक से युक्त अन्तःकरण ही तत्तत् उपाधि के आकार में निषेध से त्वं पदार्थ के अपरोक्षानुभव में तत्पदार्थत्व का अनुभव कराता है।[2] इस भामतीकार के वचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रसंख्यान भी आत्मसाक्षात्कार के प्रति मन की सहकारिता रूप से उपयुक्त होता है। इस मत के पर्यालोचन से यह प्रतीत होता है कि यहाँ न तो प्रसंख्यान का साक्षात्करणत्व और न तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का ही। भामती के परिशीलन के आधार पर कहा जा सकता है कि यह द्वितीय मत वाचस्पति का अपना मत है और उनके द्वारा प्रथम मत का समर्थन केवल सम्प्रदायानुरोधित्व है।[3]

प्रतिविम्ववादी प्रकाशात्ममुनि न तो प्रसंख्यान को ब्रह्मसाक्षात्कार का करण मानते हैं और न मन को, प्रत्युत् शब्द को ही करण मानते हैं। उनका कहना है कि 'तं त्वौपनिषदम्' के श्रुति के औपनिषद् पद के तद्धित प्रत्यय के द्वारा भी शब्द की ब्रह्मावगति हेतुता स्पष्ट है।[4] आभास प्रस्थान-प्रतिष्ठापक सुरेश्वराचार्य भी प्रतिविम्ब प्रस्थान के समान 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' (बृ० उ० ३।९।२६) इस श्रुति एवं 'शास्त्र-योनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इस सूत्र से उपनिषन्मात्रगम्य ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति औपनिषद महावाक्य अर्थात् शब्द को ब्रह्मसाक्षात्कार का करण मानते हैं, मन को नहीं।[5] उनका कहना है कि भावनोपचित चित्त कैवल्य में कारण नहीं बन सकता क्योंकि वाक्यार्थ

---

१. वही-'यथा गान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारसचिवश्रोत्रेन्द्रियेण षड्जादिस्वर-ग्राममूर्च्छनाभेदमध्यक्षमनुभवति, एवं वेदान्तार्थज्ञानाभ्यासाहित संस्कारोजीवस्य ब्रह्म स्वभावमन्तः करणे-नेति।' (पृ० ३२, पं० २-३ तथा पृ० ८२९ पंक्ति ६-७); अनुभवोन्तःकरणवृत्तिभेदो ब्रह्मसाक्षात्कारः '(पृ० ५२, पं०१) तथा 'सत्यं ज्ञानं मानसी क्रिया।'

(पृ० ८३, पं० १)।

२. 'वाक्यार्थभावना परिपाकसहितमन्तःकरणं त्वं पदार्थस्यापरोक्षस्य तत्तदुपाध्याकार-निषेधेन तत्पदार्थतामनुभावयतीति युक्तम्।' (वही- पृ० ३१, पं० २३-२४)

३. नहि तत्त्वमसि वाक्यार्थपरिभावना भुवा प्रसंख्यानेन निर्मष्टंनिखिलकर्तृत्वभोक्तृत्वादि विभ्रमोजीवः फलोपभोगेन युज्यते। (वही, पृ० ८४७, पं० १०-११)

४. पंचपादिका विवरण, प्रथमवर्णक, पृ० ४०३,-१०; तथा पृ० ४५२, पं० ५-१०।

५. आत्मवेवोपनिषत्त्वेन यतोऽव्याचक्षते बुधाः। कर्मकांडे विरोधित्वान्नैवेनं व्याचचक्षिरे। तं त्वौपनिषदं धीरा ब्रह्मात्मानं प्रचक्षते॥' (बृ० उ० भा० वा०, अ०३, ब्रा०९, वा० ११५-१६)

वाक्यार्थबोध में लक्षणा का उपयोग

'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य अविकल्प होते हुए भी वाक्यार्थ के द्वारा ब्रह्म का बोध नहीं कराते, प्रत्युत् प्रसिद्ध लक्षणा गुणवृत्ति से ब्रह्म के बोधन में समर्थ होते हैं।[2] आभास प्रस्थान में 'तत्' पदाभिध ईश्वर एवं 'त्वम्' पदाभिध जीव का स्वरूप मुख्य दो प्रकार से बताया गया है—(१) अविद्यागत चिदाभास ईश्वर है और अन्तःकरणगत चिदाभास जीव है अथवा (२) अविद्यागत स्वाभासाविविक्त चित् ईश्वर

---

१. 'भाक्तोऽयमिति चेतो न च कैवल्यकारणम् ।
तस्येहैव समुच्छेदात्तत्त्वेनान्महात्मनः ॥
(वही-अ० २, का० ४, २०५)

२. 'आत्मानात्मपदार्थेषु विज्ञानोत्पत्तिकारणम् ॥ मनः साधारणं दृष्टः सर्वेषान्देह-हेतुतः ॥
(बृ० उ० भा० वा०, अ०४, ब्रा०४, वा० ६५०)

३. वही,अ०४, ब्रा०४, वा० ८१५ ।

४. वही, अ०१, ब्रा०४, वा०८५८-६९; तै० उ० भा० वा०, वा०१-५, पृ० १७२, नै० सिद्धि, अ०२, का०४, पृ० ६० तथा अद्वैतसिद्धि, पृ० ७३६ पं० १०-१५ ।

५. नैष्कर्म्यसिद्धि, अ०२, का०५४, (संबन्धोक्ति) पृ० ७८ ।

है और अन्तःकरणगतस्वाभासाविविक्त चित् जीव है। ईश्वर और जीव के आभासत्व पक्ष में 'तत्' पद से 'त्वम्' इन दोनों पदों का लक्ष्यभूत चिदात्मा वाच्यार्थ के अन्तर्गत नहीं आता। अतः इन दोनों पदों से सम्बन्धित वाच्यार्थ के सर्वथा त्यक्त हो जाने से 'गंगायां घोषः' के समान तत्त्वमस्यादि वाक्यों में जहल्लक्षणा होगी।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि आभासपक्ष में चित् का अज्ञान तथा उसके कार्यरूप उपाधियों के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं माना जाता। चित् का उपाधियों के साथ यदि कोई सम्बन्ध है तो वह स्वाभास द्वारा है, स्वतः नहीं। विद्या द्वारा विशेषण दल—चिदाभासविशिष्ट उपाधि और विशेष्यदल—स्वाभास द्वारा उपाधिस्थ दोनों बाधित होते हैं क्योंकि आत्मा में उपाधिस्थता स्वाभास के द्वारा होने के कारण कल्पित है। विशेषणदल और विशेष्यदल दोनों के बाधित हो जाने के कारण आभासपक्ष में जहल्लक्षणा ही मानी जाती है। यदि आभासाविविक्त (आभासश्च उपाध्यन्तर्गतस्वरूपोऽपि तद्धर्मविशिष्टाचिदेव अथवा आभासश्च उपाध्यान्तर्गतस्वरूपोऽपि तद्धर्मविशिष्टाचिदेव)।[2] चिद्रूपात्मक पक्ष ग्रहण किया जाय तो 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों का वाच्यार्थ आभासाविविक्त चित् होगा, अतः वाच्यार्थ के केवल एक अंश का हान होने से जहल्लक्षणा न होकर जहदजहल्लक्षणा होगी।[3]

पदार्थ परिशोधन—

तत्त्वमस्यादि महावाक्यों 'तत्' और 'त्वम्' पदों का अर्थशोधन पदार्थ परिशोधन है। सुरेश्वराचार्य ने पदार्थशोधन को मनन सहकृत माना है। पदार्थ-शोधन के अभाव में तत्त्वमस्यादि वाक्यों का अखंडार्थबोधकत्व अनुपपन्न है और वाक्यार्थ बोध के बिना अज्ञानप्रहाण कथमपि संभव नहीं।[4] इस पदार्थशोधन का साधन अन्वय-व्यतिरेकाख्य व्यापार है। अन्वय व्यतिरेक के द्वारा पदार्थ का निश्चयतः स्मरण होता है, पदार्थ स्मृति होने से वाक्यार्थ का विज्ञान होता है और तत्पश्चात् वाक्य से नित्यमुक्तत्व

---

१. सिद्धान्तबिन्दुः, पृ २७ (गे० ओ० सी०) तथा अभयंकरकृत सिद्धान्तबिन्दुव्याख्या, पृ०४३, (पूना पब्लिकेशन)

२. न्यायरत्नावली (सिद्धान्तबिन्दुव्याख्या) पृ० २२१।

३. नारायणी (सिद्धान्तबिन्दु व्याख्या) पृ० २२३-२५ तथा मानसोल्लासवार्तिक, पृ० ७१।

४. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विना वाक्यार्थबोधनम्।
न स्यात्तेन विनाज्ञानप्रहाणं नोपपद्यते॥' (नैष्कर्म्यसिद्धि, अ० २ का० ६ पृ० ६२)

विज्ञान सम्भव होता है।[1] पदार्थ-संस्मारक अन्वय-व्यतिरेक, अद्वैतवेदान्तियों के बुद्धि की उत्प्रेक्षा नहीं, क्योंकि 'तपसा तद्विजिज्ञास्व तद्ब्रह्म' इस श्रुति के 'तप' शब्द से अन्वय-व्यतिरेकाख्य व्यापार अभिप्रेत है।[2] 'कोऽहं कस्य-कुतो वेति कः कथं वा भवेदिति। प्रयोजनमतिर्नित्यं एवम् मोक्षाश्रमी भवेत्।' इस व्यासवचन से अन्वय-व्यतिरेकव्यापार भी वाक्यार्थबोध में अन्तरंग साधनता निश्चित होती है।[3] अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा आत्मा और अनात्मा का विवेक अर्थात् एक अद्वय सत्य का निश्चयन तथा द्वैतजात के आभासत्व का निर्णय होता है।[4] तर्कात्मक व्यापार होने के कारण इस अन्वय-व्यतिरेक को युष्मदस्मद्विभागज्ञान की युक्ति भी कहा जा सकता है।[5] अन्वय-व्यतिरेक कर्तृतन्त्र तथा मनन सहकृत है, अतः आभास प्रस्थान श्रवणादि के समान इसमें भी विधि स्वीकार करता है।[6] 'पराग्प्रत्ययविवेक' अन्वय-व्यापार का फल है।[7]

पदार्थ परिशोधक अन्वय-व्यतिरेक व्यापार सामान्यतः चार प्रकार का होता है। कहीं-कहीं इसके निम्न पांच भेद भी किए जाते हैं :—

(१) दृग्दृश्यान्वय व्यतिरेक
(२) साक्षिसाक्ष्यान्वयव्यतिरेक
(३) आगमापायितदवध्यन्वयव्यतिरेक

---

१. बृ० उ० भा० वा० —अ० २ ब्रा० ४, वा०, १११-१२; नैष्कर्म्यसिद्धिः—अ० ४, का० ३१-३२ पृ० १८६ तथा उपदेशसाहस्री, प्रक० १८, श्लोक १९०-९१ पृ० २८६।

२. 'अन्वयव्यतिरेकादिचिन्तनं वा तपो भवेत्॥ अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधाय अलमिदं यतः॥' (तै० उ० भा० वा०, वा० १९, पृ० २०८); तपसा तत्परं विद्धीतिवचनादतः अन्वयव्यतिरेकाख्यो-व्यापारोऽत्र तपो भवेत्॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० १०६०) तथा बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० १०६०-६१।

३. तै० उ० भा० वा०-वा०२० पृ० २०९।

४. बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ४, वा० १०७।

५. नैष्कर्म्यसिद्धि, अ० ४, कारिका २२, (सम्बन्धोक्ति के साथ) पृ० १८६।

६. 'अतोऽपुरुषतन्त्रत्वान्नाऽऽत्मज्ञानेविधिर्भवेत्॥
अन्वयादि क्रियात्वस्य तत्तन्त्रत्वाद्विधीयते॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा०४, वा० १२१; अ० १, ब्रा० ४, वा० १३४५, १०५९, तथा अ० २, ब्रा० ४, वा० १०७-८)

७. आत्मेत्येवेति विधिना पराग्प्रत्ययविवेककृत।' (वही, अ० १ ब्रा० ४, वा० १३४५)

(४) दुःखिपरमप्रेमास्पदान्वयव्यतिरेक
(५) अनुवृत्तव्यावृत्तान्वयव्यतिरेक ।

नैष्कर्म्यसिद्धि, सिद्धान्तबिन्दु, न्यायरत्नावली (सिद्धान्तबिन्दुव्याख्या) तथा पदयोजनिका (रामतीर्थ कृत उपदेशसाहस्रीव्याख्या) प्रभृति ग्रन्थों में अन्वय-व्यतिरेक के भेदों का स्पष्टीकरण किया गया है। सुरेश्वर के नैष्कर्म्यसिद्धि में दृग्दृश्यान्वयव्यतिरेक[1] साक्षिसाक्ष्यान्वयव्यतिरेक[2] तथा आगमापायितदवध्यन्वयव्यतिरेक[3]—इन तीन अन्वय व्यतिरेक के भेदों का उल्लेख प्राप्त है। बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक में पंचम अर्थात् अनुवृत्तव्यावृत्तान्वयव्यतिरेक का भी उल्लेख किया गया है। यद्यपि सुरेश्वर के शब्दों में इस भेद का नाम 'व्यावृत्तानुगम'[4] अन्वय-व्यतिरेक होगा। अन्वयव्यतिरेक न्याय एक तरफ ब्रह्म को (१) अद्वितीय, आत्मस्वरूपप्रकाश, विशुद्धानुभवस्वभाव, शुद्ध चैतन्य, (२) स्वयंप्रकाश साक्षि (३) उत्पत्ति-विनाशभाजन आभासात्मक प्रपंच की अवधि अतः नित्य (४) परम प्रेमास्पद अर्थात् देश कालानवच्छिन्न निरतिशयानन्द तथा (५) परिवर्तनशील अहंकारादिविषयान्त आभासों के अधिष्ठान के रूप में सिद्ध करता है और दूसरी तरफ देहादि आभासों को दृश्य, साक्ष्य, अनित्य, दुःखी तथा परिवर्तनशील रूप में सिद्ध करता है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ का स्वरूप तथा आत्मा और अनात्मा का विवेक हो जाता है। परन्तु यहाँ इतना स्मर्तव्य है कि अन्वय-व्यतिरेक लक्षणात्मक अनुमान व्यापार का फल केवल बुद्ध्यादि प्रपंच विविक्तत्व है, स्वरूप बोधकत्व नहीं।[5] प्रत्यगात्मवस्तु कूटस्थ और एक है अतएव उसमें अन्वय और व्यतिरेक किसी की भी प्रवृत्ति सम्भव नहीं।[6] अन्वय और व्यतिरेक द्वारा जो भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह अपरोक्षात्मक और अनुभवात्मक ज्ञान नहीं क्योंकि अपरोक्षात्मक तो आचार्य सुरेश्वर के शब्दों में केवल वाक्य से सम्भव है।[7] यह शंका कि जैसे अन्वय व्यतिरेक कल्पित है, उसी प्रकार वाक्य भी कल्पित है, अतः

---

१. नैष्कर्म्य सिद्धिः, अ० २, कारिका, १८, २७ तथा ३६ ।
२. वही, अ० २, कारिका, ५८, ६३ तथा ६६ ।
३. वही—अ० २, का० ९७, १६, ३२ तथा बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० १८१२ ।
४. बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० १८१८-२५ ।
५. '[illegible] ॥' (नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ० २, का० ६६ (चन्द्रिका) पृ० ८२, तथा अ० ३, का० ५३ पृ० १८०)
६. बृ० उ० भा० वा०—अ० ३, ब्रा० २, वा० २८ ।
७. नै० सि०, अ० ३, का० ३३, ६३ तथा ६५ ।

अन्वय-व्यतिरेक से ही वस्तुबोध क्यों नहीं होता ?—निराधार है क्योंकि कल्पितत्व में अविशेष होने पर भी प्रमाणतः वाक्य की ही वस्तु बोधिता स्वीकृत है।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तुत्वावसाय अन्वय-व्यतिरेक साध्य नहीं, प्रत्युत् वाक्य साध्य है। अन्वय-व्यतिरेक पुरस्सर वाक्य ही सामानाधिकरणादि सम्बन्ध से अविद्या पट पटल प्रध्वन्स द्वारा मुमुक्षु को स्वाराज्य में प्रतिष्ठित करता है।[2]

महावाक्यार्थ के द्वारा अखंडार्थ-बोध की उपपत्ति

सामान्य भिन्नविभक्ति निर्दिष्ट 'गामानय दंडेन' और समानविभक्तिक 'नील-मुत्पलम्' यह द्विविध प्रकार के वाक्य होते हैं। इन वाक्यों के द्वारा क्रमश. भेदात्मक तथा संसर्गात्मक अर्थ का बोध होता है। आत्मा में भेद या संसर्ग सभी दुस्संभाव्य है,[3] अतः 'तत्वमसि' इत्यादि महावाक्यों के द्वारा न तो भेदात्मक अर्थ की प्रतीति होती है और न संसर्गात्मक अर्थ की; अपितु अखंडार्थ बोध होता है।

सुरेश्वर के आभास-प्रस्थान के अनुसार सम्बन्धत्रय के द्वारा महावाक्य से अखंडार्थ-बोध होता है—[4](१) सामानाधिकरण्य (२) विशेषणविशेष्यभाव और (३) लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध। वाक्यार्थ घटक भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त पदों की एकार्थबोधपरता सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।[5] वाक्यार्थ घटक पदों के अर्थ की विशेषण एवम् विशेष्य

---

१. 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां नातो वाक्यार्थबोधनम्।
वस्तुतत्वावसायोऽतो वाक्यादेव प्रमाणतः।। (बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ४०१)

२. 'अन्वयव्यतिरेक पुरस्सरं वाक्यमेव सामानाधिकरण्यादिना अविद्या पट पटल प्रध्वंसद्वारेण मुमुक्षुं स्वाराज्येऽभिसेचयति न त्वन्यव व्यतिरेकमात्रसाध्योऽयमर्थः।' (नै० सि०, अ० ३ कारिका ३३ (सम्बन्धोक्ति) पृ० १२७।

३. 'भेदसंसर्ग हीनत्वात्पदवाक्यर्थताऽऽत्मनः।। दूः संभाव्याऽत आत्माऽयमात्मनैवानुभूते।' (बृ० उ० भा० वा–अ० १, ब्रा० ४, वा० १४०८) तथा भेदसंसर्ग हीनोऽर्थः स्वमहिम्निव्यवस्थितः।' (वही, अ० ३, ब्रा० ५, वा० १६०)

४. 'सामानाधिकरण्यं च विशेपणविशेष्यता।। लक्ष्यलक्षणसंबन्धः पदार्थ प्रत्यगात्मनाम्।।' (नै० सिद्धिः, अ० ३, का० ३ पृ० १०६ तथा बृ० उ० भा० वा०–अ० ३, ब्रा० ५ वा० १८५, तुलनीय शंकराचार्य स्वात्मनिरूपण, श्लोक २६, पृ० ४६।

५. बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० १४१६ तथा 'भिन्ननिमित्तयोः एकार्थ-बोधपरत्वं सामानाधिकरण्यम्।' (अद्वैत सिद्धि, पृ० ७०६, पंक्ति ८-६)।

रूप से पारस्परिक संगति विशेषणविशेष्यभाव है ।[1] पद तथा उनके अर्थों का लक्षणा द्वारा अखंडार्थ में व्यवस्थापन लक्ष्य लक्षणभाव है ।[2] सामानाधिकरण्यादि सम्बन्धत्रय-सहकृत 'तत्वमसि' महावाक्य के अखंडार्थबोध को सुरेश्वराचार्य ने प्रायः सभी ग्रन्थों में 'घटा काशो महाकाशः' दृष्टान्त के द्वारा समझाया है । जैसे 'घटाकाशो महाकाशः' वाक्य में घटाकाश तथा तदनवच्छिन्न आकाश के विरोधपूर्वक परस्पर संसर्ग होने पर विरोध परिहारार्थ घटाकाश के परिच्छिन्नत्वांश की ओर महाकाश के महत्वधर्मों की व्यावृत्ति अर्थात् त्याग से घटाकाश और महाकाश—यह दोनों पद लक्षणया आकाशस्वरूपमात्र बोध में पर्यवसन्न होते हैं, उसी प्रकार 'तत्वमसि' वाक्यगत 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों के सामानाधिकरण्य तथा तदर्थ और त्वमर्थ का विशेषणविशेष्यभाव से संसर्ग प्राप्त होने पर विरोधशमनार्थ लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध से त्वमर्थगत दुःखित्व तथा तदर्थगत् पारोक्ष्य रूप विरुद्धांश निवर्तन होने पर अखंडार्थ बोध होता है ।[3] नैष्कर्म्य सिद्धि की सारार्थ नामक व्याख्या में वाक्य के द्वारा अखंडार्थबोध की निम्नलिखित प्रक्रिया उपन्यस्त है—सर्वप्रथम समान विभक्तिक पदों का सामानाधिकरण्येन अन्वय होता है । पुनः उन पदों के अर्थ का विशिष्ट ज्ञान होता है । तत्पश्चात् विरोध प्रतीति होती है । तदनन्तर लक्षण से उनके शुद्धार्थ की उपस्थिति होती है । इसके पश्चात् निर्विकल्पक ऐक्य ज्ञान होता है । अन्ततः अज्ञान निवृत्ति और स्वरूप प्रतिपत्ति होती है ।[4] यह स्वरूप प्रतिपत्ति ही अखंड वाक्यार्थबोध है ।

लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध लक्षणा का स्पष्टीकरण है । अनेक, अद्वैत वेदान्तियों ने लक्ष्य-लक्षण पद से जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा का ग्रहण किया है । पर सुरेश्वर प्रतिष्ठा-पित आभास-प्रस्थान में 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों के व्याख्यानद्वैविध्य से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने तत्वमस्यादि महावाक्यों मे 'जहल्लक्षणा' को मुख्य रूप में

---

१. बृ० उ० भा० वा०— अ० १, ब्रा० ४, वा० १४१७-२६ ।

२. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० १४२७-३२ ।

३. 'सामानाधिकरण्यादेर्घटेतरखयोरिव ॥ व्यावृत्तः स्यादवाक्यार्थः साक्षान्नस्तत्वमर्थयोः ॥' (नैष्कर्म्य सिद्धिः, अ० ३, का० ९, पृ० ११५); बृ० उ० भा० वा० अ० ३, ब्रा० ५, वा० १८५, अ० ८, ब्रा० ४, वा० ८८१-८५; तैत्ति० उ० भा० वा० वा० ५८ पृ० १८५ तथा अद्वैतसिद्धिः पृ० ५०८ पंक्ति १९-२० ।

४. इयं प्रक्रिया । प्रथमं समान विभक्तिकपदयोः सामानाधिकरण्यान्वयः । ततस्तदर्थयो-विशिष्टाभेदज्ञानं । ततो विरोध प्रतीतिः । ततो लक्षणया शुद्धयोरुपस्थितिः । ततस्त-योरैक्य व्यक्तिमात्र निर्विकल्पम् । ततोऽज्ञाननिवृत्तिः स्वरूप प्रतिपत्तिश्चेति ।' (प्रो० हिरियन्ना द्वारा उद्धृत, नै० सि० नोट्स, पृ० २५६)

और जहदजहल्लक्षणा को परम्परानिर्वाहार्य स्वीकार किया है। जहदजहल्लक्षणा के द्वारा विशेषण का बाध हो जाता है और विशेष्यांश मात्र की प्रतिपत्ति होती है, पर जहल्लक्षणा के द्वारा विशेष और विशेष्य दोनों दलों का बोध होता है और लक्ष्यार्थ मात्र का बोध होता है। सुरेश्वर प्रस्थान के अनुसार आत्मातिरिक्त विशेषण विशेष्य दोनों दल आभासात्मक हैं[1] और आभास के मिथ्यात्व होने से सभी का प्रतिषेध हो जाता है। अतएव जहल्लक्षणा को उनका मुख्य पक्ष बतलाया गया है।[2] 'तत्त्वमस्यादि' वाक्यों में लक्षणा-द्वैविध्य के अनुसार सुरेश्वराचार्य ने क्रमश: मुख्य तथा परम्परा-पालन के रूप में 'बाधायां सामानाधिकरण्यम्' तथा 'अभेदे सामानाधिकरण्यम्' दोनों पक्ष को उपनिबद्ध किया है।[3] यदि 'तत्' और 'त्वम्' का अर्थ क्रमशः अविद्या और अन्तःकरणगत चिदाभास स्वीकार किया जाय तो 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों के विशेषण (अविद्या-अन्तःकरण) और विशेष्य (तत्तद्गत चिदाभास) का पूर्णतः बाध होगा और उनके लक्ष्यार्थ अर्थात् शुद्ध चित्त का प्रबोध होगा तथा 'बाधायां सामानाधिकरण्यम्' की उपपत्ति होगी।[4] यदि 'तत्' का अर्थ अविद्यागत स्वाभासाविविक्तचित् और 'त्वम्' का अर्थ अन्तःकरणगत स्वाभासाविविक्तचित् माना जाय तो विशेषणांश अविद्या और अन्तःकरणगत स्वाभास का बाध हो जायगा पर विशेष्यांश चिन्मात्र रूप दोनों विशेष्यों का अभेद में पर्यवसान हो जायगा और 'अभेदे सामानाधिकरण्यम्' की चरितार्थता होगी।

यद्यपि नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थों में लक्षणाद्वैविध्य तथा सामानाधिकरण्य द्वैविध्य उपलब्ध होता है, पर इन दोनों में से 'जहल्लक्षणा' तथा 'बाधायां सामानाधिकरण्यम्' के अनुसार वाक्यार्थ बोध सुरेश्वर के आभास प्रस्थान का प्रतिनिधित्व करता है और यह

---

१. 'कार्यात्मा कारणात्मा च द्वावात्मा नो परात्मनः। प्रत्यग्याथात्म्यमोहोत्थौ तन्नाशे नश्यतस्ततः॥' (बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ४ वा० २४२) तथा 'तदन्यधत्तदाभासं तन्न या प्रतिपिध्यते।' (वही-अ० २, ब्रा० ३, वा० १६१)

२. 'न च—वार्तिककारमते आभासस्वीकारेण जहदजहल्लक्षणा विरोधः—इतिवाच्यम्। तन्मते जहल्लक्षणा स्वीकारात्॥' (अद्वैतब्रह्मसिद्धिः, चतुर्थ मुद्गर प्रहार, पृ० २०३); संक्षेप शारीरक, अ० १, श्लोक १६६, पंचप्रक्रिया, शब्दशक्तिविवेक, पृ० १३, सिद्धान्त बिन्दुः पृ० २७-२८, तथा लघुचन्द्रिका (अद्वैत सिद्धि व्याख्या) पृ० ४८३, पंक्ति १४-१५।

३. Lights on Vedanta-page 241, ls. 26-29.

४. 'यो यां स्थाणुः पुमानेष पंधिया स्थाणुधीरिव।
ब्रह्मास्मीति धियाशेषा ह्यहं बुद्धिर्निवर्त्यते॥'
(नै० सिद्धि, अ० २, का० २९, पृ० ६९ तथा अ० २, का० ५४, पृ० ७८)।

अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र मे एक मौलिक देन है; किन्तु 'जहदजहल्लक्षणा' और 'अभेदे सामानाधिकरण्यम्' के अनुसार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अखंडार्थ बोध का निरूपण सम्प्रदायानुरोध मात्र है तथा सुरेश्वर के सामञ्जस्यात्मक दृष्टि का परिचायक है।

बोध का स्वरूप और फल

तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से उत्पन्न स्वरूपप्रतिपत्त्यात्मक अखंडार्थबोध ब्रह्म-साक्षात्कार है। ब्रह्म साक्षात्कार को ज्ञान या आत्मज्ञान भी कहा जाता है। सुरेश्वर के वार्तिकादि ग्रन्थों में ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मविद्या इत्यादि पर्यायात्मक शब्दो से भी आत्मज्ञान का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। जिस बुद्धि अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार से असाधारणात्मा प्रत्यक्चिद्रूप ब्रह्म समुपलब्ध होता है, वह साक्षात् शेमुषी सुरेश्वर के अनुसार ब्रह्मविद्या है।[1] ज्ञान कूटस्थ, वस्तुतन्त्र एवं अकारक है[2] फलतः जैसे दीपक सिद्ध अर्थ का द्योतक होता है, कार्य अर्थ का नहीं उसी प्रकार विद्या भी नित्यसिद्ध, अपरोक्षब्रह्म की अभिव्यंजिका या द्योतिका है।[3] जो वस्तु जैसी है उसमें उसी प्रकार का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है[4] और इस सम्यग्ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई मुक्तिसाधन आभास-प्रस्थान में अभ्युपगत नहीं[5] तमोध्वंस के अतिरिक्त अकारकविद्या का अन्य कोई फल सम्भव नहीं।[6] अशेष प्रवर्तन के हेतु भूत अज्ञान तथा तद्रुत्थ रागादि का प्रध्वंस ज्ञान की फलवत्ता है और इस प्रकार की फलवत्ता अद्वैत शास्त्र का अलंकार है।[7] शास्त्र, शिष्य-आचार्य आदि के अनुपादान के अभाव में विद्या असंभव है अतएव विद्या अविद्योपादानक है, फिर

---

१. 'तद्यया विद्यते बुद्धया तदसाधारणात्मना।
ब्रह्मविद्येति तां साक्षाच्छेमुषी प्रतिजानते ॥
(बृ० उ० भा० वा० अ० १, ब्रा० ४, का० १०७७)

२. सम्बन्ध वार्तिक, वा० १६८, बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० १२११, १२६१-६२ तथा १५१४।

३. बृ० उ० भा० वा०, अ०१, ब्रा०४, वा० १०८१-८२ तथा ११११२।

४. 'यथावस्तु हि या बुद्धि सम्यग्ज्ञानंतदेवनः ॥ (वही, अ०१, ब्रा०४, वा० ८६०)

५. 'सम्यग्ज्ञानातिरेकेण न त्वन्यन्मुक्तिसाधनम् ।' (वही, अ०१, ब्रा०४, वा० ८५१)

६. तमोध्वंसातिरेकेण सम्यग्ज्ञानस्य नापरम् ।
फलमप्यपि संभाव्यं ज्ञानस्याकारकत्वतः ॥ (वही, अ०१, ब्रा०४, वा० १२६१)

७. 'अलंकारोऽयमस्माकं यदशेषप्रवर्तन-बीजप्रध्वंसकृज्ज्ञानफलवज्जन्मकारिता ॥ (वही, अ०१, ब्रा०४, वा०६१३ तथा अ०१, ब्रा०४, वा० १५४४।

अविद्या का बाध कैसे करेगी[1] ? यह प्रश्न उठता है। इसके समाधान में सुरेश्वर ने कहा है कि अविद्या से उत्पन्न होने पर भी विद्या अन्ततः परमार्थवस्त्ववगाहिनी होने के कारण अविद्या की बाधिका हो जाती है।[2] विद्या और अविद्या का हेतु, स्वभाव तथा कार्य भी परस्पर विरुद्ध है।[3] अविद्या कर्तृतन्त्र है और विद्या वस्तुतन्त्र है। अविद्या अयथावस्तुविषयिणी और आभासानुगता होती है किन्तु विद्या परमार्थवस्तुविषयिणी और आभासानुसारिका है। अविद्या आत्मा की अनभिव्यक्ति है और विद्या आत्माभिव्यक्ति है।[4] अविद्या कारक स्वभाव है पर विद्या ज्ञापक स्वभाव है। एक का कार्य अपरोक्ष आत्मा के स्वरूप का तिरोभाव कर परावपदार्थों का विक्षेप है और दूसरे का कार्य पराक्पदार्थों को बाधित कर आत्मस्वरूप प्रकाशन है। विद्या मुमुक्षु के लिए स्वाराज्य की आवाहिका है पर अविद्या जीव के लिए बन्ध की आधायिका है। अविद्या दाह्य तथा परतः (विद्या से) बाध्य है पर विद्या दाहक-बाधक तथा अन्ततः स्वतोबाध्य है। अविद्या से इस प्रकार विरुद्ध-हेतु-स्वरूप एवं कार्यवाला तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थ ज्ञान संशय, मिथ्या ज्ञान तथा अज्ञान के प्रध्वंसपूर्वक प्रमाणान्तर से अनवष्टब्ध, निरस्ताशेषकार्य कारणात्मकद्वैत प्रपंच सत्यज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का करतलन्यस्त आमलक फल के समान अपरोक्षरूप से बोध कराती है।[5]

आत्म-साक्षात्कार का विषय

अखंडार्थ बोध, अनुभव या आत्म-साक्षात्कार का विषय उपहितब्रह्म है या निरुपाधिक ? इस प्रश्न के विषय में सभी अद्वैत वेदान्तियों का एक मत नहीं—

भामतीकार के मतानुसार[6] अनुभूत अन्तःकरणवृत्ति भेदरूप है और इस अनुभव का विषय स्वयं प्रकाश होने के कारण निरुपाधिक ब्रह्म नहीं, प्रत्युत् उपहित ब्रह्म है।

---

१. नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ०१, का० ३६ (सम्बन्धोक्ति) पृ० २४।
२. 'वस्तुनिष्ठैव सा यस्मान्न तदज्ञानजाश्रया। तस्मात्तन्मोहविध्वस्तौ ध्वस्तिः स्यान्मोहजस्य च।' (बृ० उ० भा० वा, अ०१, ब्रा०२, वा० ५६); अ०४, ब्रा०३, वा० १६, ३४६ तथा नैष्कर्म्यसिद्धिः अ०१, का० ३६, पृ० २४।
३. बृ० उ० भा० वा०-अ०२, ब्रा०१, वा० ३७६ तथा अ०३, ब्रा०३ वा० ६०-६२।
४. 'अज्ञानमनभिव्यक्तिर्बोधोऽभिव्यक्तिरात्मनः।' (बृ० उ० भा० वा०, अ०३, ब्रा०६, वा० ६५।)
५. नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ०२, का० ४७ (सम्बन्धोक्ति) पृ० १३४।
६. निर्विचिकित्सवाक्यार्थ भावनापरिपाक सहितमन्तःकरणं त्वं पदार्थस्यापरोक्षस्य तत्तदुपाध्या कारनिषेधेन तत्पदार्थतामनुभावयतीति युक्तम्। न चायमनुभवो ब्रह्मस्वभावः। अपितुः अन्तःकरणस्यैव वृत्तिभेदो ब्रह्मविषयः। न चैतावता ब्रह्मणोऽपि पराधीनप्रकाशता। नहिज्ञानज्ञान प्रकाश्यं ब्रह्म स्वप्रकाशं न भवति, सर्वोपाधिरहितं हि स्वयं ज्योतिरितिगीयते। न तु उपहिमपि यथाऽऽहस्म भगवान् भाष्यकारः-नायमेकान्तेनाविषय।' (भामती पृ० ३१, पं० २३-२७।)

'व्यतिरेक साक्षात्कारस्य विकल्प रूपो विषय विषयिभावः'[1] इस भामती-पंक्ति की व्याख्या करते हुए अमलानन्द ने भी कहा है कि भामती-प्रस्थान के अध्येता के लिए यह विस्मर्तव्य नहीं कि वृत्तिविषयता उपहित ब्रह्म की हो सकती है, निरुपाधिक ब्रह्म की नहीं।[2]

विवरण प्रस्थान में स्वप्रकाश ब्रह्म की अज्ञानविषयता मानी गयी है।[3] अतः अज्ञान समानविषयक अज्ञाननिवर्तक अखंडाकारवृत्ति रूप आत्म-साक्षात्कार का विषय स्वप्रकाश ब्रह्म ही विवरणाभिमत प्रतीत होता है। साक्षात्कार विषयता से ब्रह्म के निर्धर्मकत्व की हानि की शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार का विषय उपलक्षणविधया होता है, विशेषण रूप से नहीं।

आभास प्रस्थान के अनुसार अज्ञान तथा ज्ञान दोनों का विषय और आश्रय उपहित ब्रह्म नहीं, प्रत्युत् शुद्ध चैतन्य है। अज्ञान और ज्ञान को आत्माश्रित तथा आत्मविषयक मानने के कारण आत्मा के सविकारित्व की शंका उठ सकती है। सुरेश्वराचार्य ने आकाशादिक दृष्टान्त का आश्रय लेकर प्रस्तुत सविकारित्व प्रसक्ति का निराकरण किया है। जैसे आकाश को स्पर्श किए बिना ही आकाश विषयक 'अमूर्त्तत्वात् नीरूपमाकाशम्' यह बोध और 'नीलोत्पलदलवन्नीलम्' यह अबोध क्रमशः बाधक और बाध्य रूप से आकाश को स्वविषय और आश्रय बनाते हैं उसी प्रकार आत्मा के संसारित्व और असंसारित्व रूप निवर्त्य-निवर्तक अज्ञान तथा ज्ञान आत्मा में विकार किए बिना आत्मा को स्वाश्रय-विषय बनाते हैं।[4] सुरेश्वर ने यह भी असकृत कहा है कि जैसे 'देवदत्तोत्तिष्ठ' यह बोधक शब्द सुषुप्त को विषय किए बिना ही देवदत्तगतनिद्रा का बाध कर देता है उसी प्रकार तत्त्वमस्यादि वाक्योत्थ अखंडार्थबोध आत्मा को विषय

---

१. वही, पृ० ५२, पंक्ति ५ और ६।

२. उक्तं हीदं प्रथमसूत्रे-वृत्तिविषयत्वमपि तथैवोपहितस्य न निरुपाधेरिति।' (कल्पतरुः)

३. पंचपादिका विवरण, प्रथमवर्णक, पृ० २११, पंक्ति ,२-६, पृ० २१३-१४, तथा पृ० २२४-२६।

४. बोधाबोधौ नभो स्पृष्ट्वा कृष्णबोनीडगो यथा॥ बाध्येतरात्मको स्यातां तथेहात्मनि गम्यताम्॥ (नै० सि० अ० ३, का० १०७, पृ० १६८)

किए बिना ही अवद्या का बाध कर देता है।[1] तीसरी बात यह है कि ज्ञान-विषयत्व और साक्षात्कार विषयत्व यह दोनों चिदाभासवर्त्मना ब्रह्म में प्रसक्त होते हैं, साक्षात् नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि सुरेश्वर के आभास-प्रस्थान के अनुसार शुद्ध आत्मा में अज्ञान या ज्ञान किसी की भी विषयता आभासरूप होने के कारण औपचारिक तथा अविचारित संसिद्ध है अतः वस्तुतः साक्षात् शुद्धब्रह्मसंस्पर्शिनी नहीं होती।

अविद्या-निवृत्ति का स्वरूप--

अविद्या-निवृत्ति का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का समाधान अत्यन्त जटिल है क्योंकि उसे सत् मानने पर द्वैतापत्ति होती है, असत् मानने पर उसकी निवृत्ति के लिए यत्नानर्थक्य प्राप्त होता है, सदसत् दोनों रूप स्वीकृत करना उपयुक्त नहीं तथा सदसत् उभय विलक्षण स्वरूप मानने पर मोक्षावस्था में भी अज्ञान की सत्ता माननी पड़ेगी क्योंकि सत् और असत् दोनों से विलक्षण पदार्थ शांकराद्वैतवाद में अनिर्वचनीय स्वीकार किया गया है। अनिर्वचनीय जगत् का उपादान कारण अज्ञान है अतः मोक्षा-वस्था में कुछ भी अनिर्वचनीय मानने पर तदुपादानभूत अज्ञान की सत्ता स्वीकार करनी होगी और यदि बन्धन की कारणभूत अविद्या बनी ही है तो मोक्ष कैसे ?

उपर्युक्त आक्षेपों को समाहित करते हुए न्यायमकरन्दकार आनन्दबोधभट्टारका-चार्य का कहना है[2] कि अविद्या निवृत्ति चतुष्टय (सत्, असत् सदसत् और अनिर्व-

---

१. बृ० उ० भा० वा०-अ० १, ब्रा० ४, वा० ८५८-६२; तै० उ० भा० वा०-वा० १-५ पृ० १७२ तथा नै० सिद्धि, अ० ३, का० १०५-६ पृ० १६७-६८। तथा- 'न च संसर्गागोचरत्वे प्रमाणवाक्यत्वानुवृत्ति, असन्दिग्धाविपर्यस्तबोधकतया निर्वि-कल्पकत्वेऽपि प्रामाण्यस्याकांक्षादिमत्तया वाक्यत्वस्य चोपपत्तेर्वृत्तिमन्तरेणापि सुप्तोत्थकवाक्यस्येव वेदान्तवाक्यस्यनिर्विशेषे प्रामाण्यस्य वार्तिककृद्भिरुपपादित-त्वाच्च। तथा हि—

'अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ते बोधिताः परैः ॥
जाग्रद्वन्न हि संबंध सुषुप्ते वेत्ति कश्चन ॥ इत्यादिना ग्रन्थेन विनापि संबंध

वाक्यस्य प्रामाण्यमुपपादितम् ॥' (अद्वैतसिद्धिः, पृ० ७३६, पं० १०-१५)

२. 'नन्वविद्याक्षतेः सत्त्वे सद्वितीयत्वमात्मनः ॥
मिथ्याभावे त्वनिर्मोक्षो मूलविद्या व्यवस्थितेः ॥
उक्तमेतदविद्यास्तमयो मोक्ष इति। तत्रैवद्विचार्यते—स किं सत्यो मिथ्या वेति··············अतः कथमविद्या व्यावृत्तिर्मोक्ष इति ॥
न सन्नासन्न सदन्नानिर्वाच्योऽपि तत्क्षयः॥ यक्षानुरूपो हि बलिरित्याचार्यव्यचीचरन ॥
(न्यायमकरन्द, पृ० ३५२, चौखम्भा मुद्रित): सिद्धान्तलेश संग्रह, चतुर्थ परिच्छेद, पृ० ५१७ तथा
Philosophical Essays By Dasgupta, p. 348-49

चनीय) प्रकारों से उत्तीर्ण किसी पंचम प्रकार की है। न्यायमकरन्द के पृष्ठ ३५७ में अविद्या-निवृत्ति के अनिर्वचनीय रूप का भी विवरण प्राप्त होता है तथा व्याख्याकार चित्सुखाचार्य ने अविद्या निवृत्ति के अनिर्वचनीय रूप को आनन्दबोध का मौलिक पक्ष बताया है। यह शंका—कि अविद्या निवृत्ति को अनिर्वचनीय मानने से मुक्ति में अविद्या-निवृत्ति की अनुवृत्ति होगी और उसके कारणभूत अज्ञान की भी आपातत: अनुवृत्ति होने से अनिर्मोक्ष की प्रसक्ति होगी—निराधार है : क्योंकि मुक्ति में अज्ञान निवृत्ति का अनुवृत्तिविषयक कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। यद्यपि विद्वानों ने पंचम प्रकाराविद्यानिवृत्ति तथा अनिर्वचनीय द्विविध अविद्या-निवृत्ति के स्वरूप को आनन्दबोध के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है तथापि विमुक्तात्मन् ने आनन्दबोध के पूर्व ही अपनी इष्टसिद्धि में दोनों मतों का उल्लेख किया है।[१]

इसके पूर्व कि हम आभास-प्रस्थान सम्मत अविद्यानिवृत्ति के स्वरूप की मीमांसा में प्रवृत्त हों, यह जानना आवश्यक है कि भावाद्वैत सम्मत अविद्या-निवृत्ति का स्वरूप क्या है? भावाद्वैत को शब्दाद्वैत भी कहा जाता है।[२] यह भावाद्वैतसिद्धान्त[३] एक तरफ तो आत्यन्तिक सत्य ब्रह्म को भावरूप बताता है और दूसरी तरफ 'अद्वितीयम्' 'अस्थूलमनण्वमह्रस्वम्' तथा 'नेति' श्रुतियों के अनुरोध से अविद्या निवृत्ति तथा प्रपंचाभाव की अभावात्मक सत्यता स्वीकार करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस सिद्धान्त में दो प्रकार के सत्य स्वीकार किए जाते हैं—(१) भावात्मक सत्य-ब्रह्म और अभावात्मक सत्य-अविद्या निवृत्ति। अभाव पदार्थ मानते हुए भी इन भावाद्वैत-वादियों का कहना है कि अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों से हमारा कोई विरोध नहीं। मंडन ने ब्रह्मसिद्ध में भावाद्वैत शब्द का व्यवहार नहीं किया है और सम्भवत: इसीलिए

---

१. Lights on Vedanta, P. 25 तथा सारसंग्रह, सुबोधिनी, अन्वयार्थप्रकाशिका, (संक्षेपशारीरकव्याख्या) अ० ४ श्लो० १४।

२. M. M. S. Kuppu Swami Sastri : Introduction on Brahmasiddhi, p. XLI, ls 19-20.

३. M. Hirriyanna on Suresvara and Mandan Misra (Journal of Royal Asiatic Society of the Great Britain and Ireland for 1923, pp. 26-0 61; M. M. S. Kuppuswami Sastri; Introduction on Brahma-siddhi, pp. XLI and II; S. S. Suryanaryaana Sastri on Mandan and Bhavadvaita) philosophical quarterly for 1936-37 pp. 316 & II.

तथा कुछ अन्य कारणों से सूर्यनारायण शास्त्री ने मंडन को भागद्वैतवादी नहीं माना है[1] तथापि अनेक वेदान्तियों और पाश्चात्य विद्वानों ने भावाद्वैतवाद को मंडनाभिमत माना है।[2] मंडन के नाम से भावाद्वैत को सम्बन्धित करने में जो कुछ भी आधार हो, पर ब्रह्मसिद्धि के अनुशीलन से इतना स्पष्ट तथा निश्चित है कि वह एक स्थान पर विद्या अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार को ही अविद्या निवृत्ति मानते हैं।[3] तथा दूसरे स्थान पर सिद्धि कांड में[4] अविद्या निवृत्ति को भावाद्वैत के रूप में प्रकीर्तित तथा उपन्यस्त करते हैं। ब्रह्मानन्द ने मंडन के भावाद्वैत मत को अद्वैतसिद्धि की लघुचन्द्रिका नामक व्याख्या में निम्नलिखित शब्दों में अद्वैतशास्त्राविरोधि एवं अदुष्ट सिद्ध किया है।

'ननु-मिथ्यात्वघटके अत्यन्ताभावे तात्त्विकत्वस्वीकारे अद्वैतश्रुतिविरोधः; नच ब्रह्मस्वरूपस्य तत्र स्वीकारान्न स इति-वाच्यम्,: मंडनमते भावाद्वैत स्वीकारेणैव तत् परिहारात्; उक्त स्वीकारे च श्रुतिसंकोचेन विरोधस्य स्फुटत्वात्, किं च अभावस्य सत्यत्वे तत्राभावत्वस्य ब्रह्मणि चाभावसम्बन्धस्यावश्यवाच्यत्वात् भावाद्वैतमपि दुर्लभम् इति चेन्न; अभावत्वस्याभावाश्रयत्वादेश्च स्वाश्रयरूपत्वात्। नच-द्वितीयाभावस्य

---

१. "Reality is neither existential nor non-existential; these are but modes of approxitating thereto, of the eternal real eternally realising itself, negation and affirmation are but instrumental, the former being secondary as compared with the latter, such is the truth understood and expounded by Mandana; and to dub him as expounder of bhavadvaita the/roduct of the philosophical confusion, is to fail to do him bearest justice" (S. S. Suryanarayana Sastri on Mandana and Bhavadvaita) philosophical quarterly/for 1936-37, p. 328-29)

२. मधुसूदन सरस्वती: अद्वैतसिद्धि, पंक्ति १६-१७ पृ० ४६७; ब्रह्मानन्दी (अद्वैतसिद्धिव्याख्या), पृ० ८८५, पं० ११, पृ० ३२६, पं० १२-१३; M. Hirriyanna on Suresvara and Mandana Misra/ (Journal of Royal Asiatic Society, 1923, p. 259, ibid, 1924, p. 96) and M.M.S. Kuppuswami Sastri, Introduction of Brahmasiddhi pp. XLI and II.1

३. ब्रह्मसिद्धि, भाग १, पृ० २१६ श्लोक १०६ तथा पृ० १२१ अन्तिम पंक्ति।

४. वही, भाग १, पृ० १५७-'प्रपंचस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते।' × × × × किंतर्हि शब्देनप्रतिपाद्यते प्रपंचाभावः।

तात्त्विकत्वं तत्त्वावेदकप्रमाणवेद्यत्वाद्वाच्यम्, तादृशप्रमाणं च श्रुतिरेवेति वाच्यम्; तथाचानुपपत्तिः। 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वाक्यस्याखंडार्थकत्वेन अभावसम्बन्धाप्रमापकत्वादिति—वाच्यम्, मिथ्यात्वानुमाने स्वसमानाधिकरणस्य स्वाधिकसत्ताकात्यन्ताभावस्य मंडनमते साध्ये निवेशेन तस्यैव तत्त्वावदेकत्वात्। तात्त्विकद्वैताभावविषयकत्वादेव हितस्य द्वैतग्राहकप्रत्यक्षादिबाधकत्वं इति मंडनाभिप्रायः। किंच तत्त्वज्ञानोद्देशेन मुमुक्षूणां प्रवृत्तेस्तत्त्वज्ञानकार्योऽविद्याध्वंसस्तात्त्विको वाच्यः, तस्यमिथ्यात्वे तत्त्वधीबाध्यत्वेन तत्कार्यत्वानुपपत्तेः। एवं च मिथ्यात्वघटकोऽत्यन्ताभावोऽविद्याध्वंसश्च मंडनमतेतात्त्विकः, न त्वभावान्तरम्; अभावत्वस्यातिरिक्तत्वस्वीकारे तदपि मिथ्या, प्रतियोगिताया इवानुयोगिताविशेषरूपस्यतस्य मिथ्यात्व सम्भवात्, दृश्यत्वादिकं चोक्ताभावव्यावृत्तमेव मिथ्यात्वे हेतुरिति न व्यभिचारः। तस्मात् मंडनमतमप्यदोषम्।' (पृ० ३२६)

सिद्धान्तलेशसंग्रह[1] के अनुसार ब्रह्मसिद्धिकार के मत में आत्मा ही अविद्या निवृत्ति है। किन्तु ब्रह्मसिद्धि में ऐसी कोई भी पंक्ति नही सुलभ होती, जिसके आधार पर सिद्धान्तलेश संग्रहकार का समर्थन किया जा सके। सम्भव हो सकता है कि सिद्धान्तलेश संग्रहकार अप्पय दीक्षित, सुरेश्वर और मंडन को अभिन्न स्वीकार करते रहे हों और अपने उक्त मतसंग्राहक वाक्य से आचार्य सुरेश्वर के मत का ज्ञापन कर रहे हों।

आभासवादी आचार्य सुरेश्वर अविद्या निवृत्ति के अर्थ में निवृत्ति,[2] हृति[3] ह्रुति[4], निराकृति,[5] ध्वस्ति,[6] विध्वस्ति,[7] उच्छित्ति,[8] अवच्छित्ति,[9] समुच्छित्ति,[10] अपह्नुति,[11] ध्वंस,[12] विध्वंस,[13] हान,[14] हानि,[15] बाध,[16] निरास[17] प्रभृति पदों का ही नही, प्रत्युत् विनाश[18] और नाश[19] शब्द का भी प्रयोग करते हैं। सामान्यतः

1. 'अथ केयमविद्यानिवृत्तिः? आत्मैवेति ब्रह्मसिद्धिकाराः।' (सिद्धान्तलेशसंग्रह, चतुर्थ परिच्छेद, पृ० ५१४) तथा
2. बृ० उ० भा० वा०-अ० १, ब्रा० ३, वा० ६१, १८८; ब्रा० ४ वा० १४१४, १४३०, १४७२, १४७३ तथा १७५८।
3. वही—अ० १, ब्रा० ३, वा० ५२; ब्रा० ४, वा० २६, ३१५, ७२१ तथा १५०६।
4. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ८६५ तथा १७४५।
5. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ८२२, १२६७, १४११, १६८७ तथा अ० २, ब्रा० ३, वा० १७०।

(क्रमशः)

नाश दो प्रकार का होता है—(१) निरवशेष या व्यतिरेक नाश तथा (२) सावशेष या अन्वयनाश।† किसी भी वस्तु की सर्वात्मना उच्छित्ति निरन्वयनाश है और विकारात्मना आवृत्ति अर्थात् कारणसंसर्गरूपनाश सावशेष नाश है। इन दो प्रकार के नाश के अतिरिक्त अभावात्मक नाश भी माना जाता है। (जिसका उल्लेख भावाद्वैत के प्रसंग में किया गया है) इन त्रिविधनाशों को क्रमशः (१) भेदात्मक (२) संसर्गात्मक

---

६. वही—अ० १, ब्रा० ३, वा० ८७, ब्रा० ४ वा० ६६, १०२, १८८, ४३८, ४८२, १३२६, १३४२, १४१३, १४४६, १४६५, १४६४, तथा अ० २, ब्रा० १ वा० ८।

७. वही—अ० १, ब्रा० ३, वा० ५६, ३१५; ब्रा० ४ वा० ६६, १०५, ७६५, ११७१, १४६७, तथा ब्रा० ६ वा० २।

८. वही—अ० १, ब्रा० ३, वा० ६८, १०२; ब्रा० ४, वा० ३१२, ६६८, १३६२, तथा अ० २, ब्रा० १, वा० १६।

९. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० १३२६।

१०. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ३५६ तथा १२८१।

११. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ७४, ७६, ३१४, ६८७, १०५५, १०६६, तथा १५१०।

१२. वही—अ० १, ब्रा० ४ वा० १६६, ४३६, ८१६, १०१०, ११८७, १२६१, १४५०, अ० २ ब्रा० १ वा० ६, ३८० तथा ५२२।

१३. वही—अ० १, ब्रा० ३, वा० १८३, १८५।

१४. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ८६०, १४४८, १४६०, तथा १४६३।

१५. वही—अ० १, ब्रा० ३, वा० २२६, ब्रा० ४ वा० ११००, १५२८, तथा १५३०।

१६. वही—अ० १, ब्रा० ३, वा० १०; ब्रा० ४, वा० ४३७, १३०६, १४५७, तथा अ० २, ब्रा० १, वा० १७४।

१७. वही—वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० १४५१।

१८. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ६८, १३२०, अ० ३, ब्रा० ४, वा० ११६ तथा अ० ४, ब्रा० ४, वा० ७६७।

१९. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० १२०७, १७४५; अ० २, ब्रा० ४, वा० १६६-६७; अ० ३, ब्रा० ३, वा० ३३; अ० ४, ब्रा० ४, वा० ६२३, १३३३, तथा नै० सिद्धि, अ० २, का० १०५।

†. बृ० उ० भा० वा०, अ०४, ब्रा० ३, वा० १४६६-१५००; अ०४, ब्रा०४, वा० ७६७, तथा ८५४।

और (३) अभावात्मक नाश भी कहा जा सकता है।[1] सुरेश्वराचार्य अविद्या-नाश को स्वरूप उक्त किसी भी रूप में नहीं मानते क्योंकि इनमें से किसी भी प्रकार का अविद्या-नाश माना जाय तो कार्य-कारण सम्बन्ध की उपस्थिति होने से मुक्ति अत्यन्त दुर्लभ हो जायगी और संसार का निवारण असंभव होगा।[2] प्रश्न होता है कि आभास-प्रस्थानाभिमत अविद्यनिवृत्ति या नाश का स्वरूप क्या है? बृहदारण्य वार्तिक के आद्योपान्त अनुशीलन में प्राप्त पुनरावृत्तवार्तिकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुरेश्वराचार्य अविद्या निवृत्ति तथा संसार निवृत्ति को ऐकात्म्यलक्षण अर्थात् केवलात्मरूप मानते हैं।[3] यदि किसी की यह शंका हो कि अविद्या निवृत्ति को आत्मस्वरूप मानने से अविद्या का कारण संसर्गात्मक सावशेपनाश ही यहाँ परिगृहीत है तो उपयुक्त नहीं क्योंकि आभास-प्रस्थान में अज्ञान को अविचारित संसिद्ध स्वीकार किया गया है अतः जैसे रज्जुसर्पादि आध्यासिक स्थलों पर रज्जु में सर्पादि का नाश कारण में संसर्ग नहीं प्रत्युत् रज्जुरूपता है उसी प्रकार अकारक ब्रह्म में अज्ञान का नाश भी कारण संसर्गात्मक नहीं, किन्तु आत्मरूपता है।[4] कारणसंसर्ग यदि कथंचित स्वीकार भी किया जाय तो ज्ञान का नैष्फल्य

---

१. वही-अ०५, ब्रा०१, वा० २२।

२. 'तत्त्वबोधान्ननाशः स्याद् व्यतिरेकान्वयौ न च।
प्रत्यङ् मात्रं कयायात्म्यादविद्यादेरिहात्मनि॥
विनाशः क्रियते यत्र व्यतिरेकोथवाऽन्वयः॥
कार्यकारणसंबन्धान्मुक्तिस्तत्र सुदुर्लभाः॥
अथ मुक्तो तदन्वेति कारणेन सहान्वियात्॥
अज्ञाने सति संसारो वदकेन निवार्यते॥ (वही, अ०४, वा० ७६६-६६)।

३. 'वही-'नान्यदज्ञानतोऽस्तित्वं द्वितीयस्यात्मनो यथा।
निवृत्तिस्तद्वदेवास्य नावगत्यात्मनोऽपरा॥ (अ० २, ब्रा०३ वा० २१, पुनरावृत्त अ०३, ब्रा०८, वा० १२२, अ०४, ब्रा०४, वा० ३०१ तथा ८५५), 'अविचारित संसिद्धि-मभोवत्स्यात्तदुद्भवम् कृत्स्नं जगदतो मोहध्वस्तौ ध्वस्तिंभवेच्चितिः।' (अ०१, ब्रा० ४ वा० ३२६; पुनरावृत्त अ०३, ब्रा०४, वा० १३१) 'अथात्माविद्या व्यक्तादिरूपेण प्रथते तदा। तन्निवृत्तौ निवृत्तिः स्यान्निवृत्तिः-केवलात्मता २,।' (अ० ३ ब्रा०१, वा० १८८) तथा 'निवृत्तिश्च यथोक्तैव तेषामैकात्म्यलक्षणा। (अ० २ ब्रा०३, वा० ३२६)

४. 'न च कारणसंसर्गो नाशोऽज्ञानस्य भण्यते।
उरगादेः सजीवास्य ब्रह्मणोऽकारकत्वतः॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ०४, ब्रा०४, वा०६२२) तथा अ०२, ब्रा०४, वा० १६६।

होगा क्योंकि ज्ञान में भी अज्ञान की संगति बन जायगी।[1] दूसरी बात यह है कि ब्रह्म को अविद्या का कारण भी नहीं माना जा सकता, यदि इसको ब्रह्मोपादानक मानेंगे तो इसकी उच्छित्ति कदापि न हो सकेगी।[2] जब अविद्या का कोई कारण ही नहीं तब उसका कारणात्मक संसर्ग रूप सावशेषात्मक नाश कैसे स्वीकार किया जाय? अविद्या-निवृत्ति को ब्रह्म भिन्नदेशस्थित भी नहीं किया जा सकता क्योंकि जैसे प्रबोधक वाक्य के द्वारा निद्रानिरास होने पर स्वप्न दर्शन प्रबुद्धात्मशेषता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार ज्ञान की अवाप्ति से दग्ध अविद्या एकलशेषता को प्राप्त होती है।[3] प्रमाणज्ञान से निवृत्त अविद्या को जो आत्मपृथक् देखना चाहते हैं, उनका यह प्रयास उस पुरुष के प्रयास के समान होगा जो दीपक के द्वारा कुहाकुक्षिगत अंधकार का अवलोकन करना चाहता है।[4] आभास प्रस्थान-सम्मत कार्यकारणातीत ब्रह्म भावाभावोभयनिवर्तक है[5] अतः भावाद्वैताभिमत अविद्या-निवृत्ति का अभावात्मक स्वरूप भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। कहने की अभिसंधि यह है कि सुरेश्वर के आभास-प्रस्थान में अविद्या-निवृत्ति का स्वरूप न तो व्यतिरेक (निरवशेष) और अन्वय (सावशेष) नाश रूप है और न अभावात्मक नाशरूप है किन्तु आत्मब्रह्मपदार्थैक रूप है।[6] दूसरे शब्दों में यह अविद्या निवृत्ति न भेदरूप है न संसर्गरूप है और न अभावरूप है प्रत्युत्

१. 'न स्वकारणसंसर्गस्तस्य नानादपह्नुतिः ॥
निष्फलं च भवेज्ज्ञानं यदिकारण संगतिः ॥ (वही-अ०३, ब्रा०२, वा० ३१)

२. 'ब्रह्मैव वेदविद्याया जन्मनः कारणं मतम्।
तस्मिन्सति समुच्छित्तिरविद्यायाः कथं भवेत् ॥ (वही, अ०३, ब्रा०२, वा० ६२)

३. बोधनैवनिरस्तायां निद्रायां स्वप्नलक्षणम्। बुद्धात्मशेषतामेति तथेहैकलशेषताम् ॥ (तै० उ० भा० वा०, वा० ४३ पृ० २०४) तथा-निवृत्तिश्च यथोक्तैव तेषामैकात्म्य लक्षणा। भिन्नदेशस्थितिस्तवत्र वास्तवी नोपपद्यते ॥ (वृ० उ० भा० वा०, अ०२, ब्रा०३ वा० २३६)

४. तै० उ० भा० वा०, वा० ४३, पृ० २०४।

५. भावाभावाद्वयध्वंस ब्रह्मवेद्यं च तद्विदः।' (वृ० उ० भा० वा०, अ०३, ब्रा०५, वा० २१०)

६. 'नान्वयव्यतिरेकाभ्यां नाप्यभावेन तद्धतिः।
आत्मब्रह्म पदार्थैकरूपेणैवपह्नुति यतः ॥'
(वृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८५४)।

केवलात्मरूप है।[1] सुरेश्वर का उपर्युक्त निष्कर्ष वस्तुतः उनके आभास-प्रस्थान का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि यदि अविद्या-निवृत्ति का स्वरूप आत्म-व्यतिरेकात्मक या भिन्न स्वीकार करते तो अद्वैत हानि होती, यदि सावशेषात्मक अर्थात् अभिन्न कहते तो ज्ञान और अज्ञान की परस्पर संगति होने से मुमुक्षा दुराशामात्र रह जाती और यदि अभावात्मक स्वीकार करते तो भावाद्वैत-सिद्धान्त में आत्म समर्पण हो जाता। भिन्न,अभिन्न और अभाव इन सबसे विलक्षण अविद्यानिवृत्ति का स्वरूप आभास रूप होगा यह स्पष्ट है। अविद्यानिवृत्ति को केवलात्म रूप से अभ्युपगम करने का अभिप्राय इस आभास सिद्धान्त के अनुरूप ही है अननुकूल नहीं क्योंकि तह उरगादि दृष्टान्त से ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

मोक्ष का स्वरूप

अविद्या-व्युच्छित्तिसमनन्तर जीव स्वात्मावस्थित हो जाता है।[2] जीव के इस स्वरूपावस्थान को ही आभास-प्रस्थान में मोक्ष कहा गया है।[3] कूटस्थरूप[4] तथा स्वतःसिद्ध[5] होने के कारण मोक्ष अनारम्य है।[6] नित्य उत्पत्त्यादिविरुद्ध तथा विकार-प्रतिषिद्ध होने के कारण मोक्ष स्वरूप न तो उत्पाद्य है और न विकार्य है। असाधन होने के कारण व्रीहिपात्रादि के समान संस्कार्य भी नहीं तथा प्रत्यङ् मात्र स्वभाव होने के कारण आप्य नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि मोक्ष उत्पत्ति, आप्ति, संस्कृति एवं विकृति-इन चारों प्रकार के कर्मफलों से विलक्षण है, अतः इसे उत्पत्त्यादि स्वरूप नहीं माना जा सकता।[7] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष अर्थात्

---

१. 'न भेदो न च संसर्गो नाप्यभावोऽवसीयते ॥
तन्मूलाज्ञानविध्वस्तै यथोक्तागमहानतः ॥' (वही, अ० ५, ब्रा० १, वा० २२)।

२. 'तस्मादविद्याव्युच्छित्तौ स्यादवस्थान मात्मनि ॥'
(तै० उ० भा० वा०, वा० ३३, पृ० ११)

३. 'स्वरूप आत्मनः स्थानमाहुर्निश्रेयसं बुधाः ॥' (सम्बन्धवार्तिक, वा० १०६) तथा नै० सि० अ० १, का० ५२ (सम्बन्धोक्ति) पृ० ३२।

४. तैत्तिरीय उ० भा० वा०, वा० २४, पृ० ६।

५. वही, वा० ६३ पृ० ३७ तथा सं० वा०, वा० १८६।

६. बृ० उ० भा० वा० अ० ३, ब्रा० ३, वा० ११६-१८. अ० ३, ब्रा० ३, वा० २६-२७. अ० १, ब्रा० ४, वा० ८१२ तथा सम्बन्धवार्तिक—वा० २३६।

७. बृ० उ० भा० वा०-अ० ३, ब्रा० ३, वा० ११६-१८; अ० ३, ब्रा० ३ वा० २६-२७; अ० १, ब्रा० ४, वा० ८१२ तथा सम्बन्धवार्तिक, वा० २३६।

कैवल्य को उत्तम पुरुषार्थ माना गया है[1] क्योंकि मोक्ष वह धन है कि जिसका न तो आदि है, न अन्त है, न मध्य है और न भोग से क्षय शील है।[2] अग्निहोत्रादि कर्मसाध्य अभ्युदयरूप वस्तु का क्षय संभव है पर मोक्ष अभिव्यंजकतंत्र है अतः उसके क्षय होने का कोई प्रश्न नहीं।[3] इन मोक्षस्वरूपनिश्चायक वार्तिकों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव सच्चिदानन्दस्वरूप, निरविषयक, निराभास ब्रह्म ही मोक्ष है। आत्मरूप तथा परमार्थतः सदा प्राप्त रहने के कारण मोक्ष की प्राप्ति औपचारिक है।[4] सुरेश्वर ने तीन बार शपथ ग्रहण कर कहा है कि[5] आत्मस्वरूप जीव सदैव मुक्त है किन्तु अविद्या के कारण अमुक्तवत् प्रतिभासित होता है। अमुक्तवत् प्रतिभाषित होने के कारण ज्ञान से अविद्या का विध्वंस होने पर जीव का मुक्त होना औपचारिक है क्योंकि यह प्राप्ति अप्राप्त-प्राप्ति नहीं किन्तु अप्राप्तवदवभासित प्राप्त की ही प्राप्ति है। उन्होंने द्राविडाचार्य प्रवर्तित व्याधकुलसंवर्धित राजकुमार की आख्यायिका से मुक्तिप्राप्ति की औपचारिकता का निरूपण किया है।[6] जैसे कोई चक्रवर्ती राजकुमार जन्म लेते ही किसी निमित्तवश राजसदन को त्याग कर जंगल में जाता है तथा वहाँ किसी पुत्रहीन व्याध के द्वारा परिगृहीत हो अज्ञात राजत्वाभिमान रहकर 'व्याधोऽहम्' इस प्रकार का अभिमान करता हुआ चिरकाल तक शबरसद्म में रहता है। इसके पश्चात् जब उसके पिता अथवा उसके सखा उसे 'त्वं राजपुत्रोऽसि' कह कर प्रबोधित करते हैं तभी 'राजपुत्रोऽहम्' इत्याकार स्मृति के प्राप्त होने से उसका चिरगृहीत व्याधत्वरूप असंबोधनिवृत्त हो जाता है और अन्ततः वह पिता के सिंहासन पर अधिरूढ़ हो राज्याभिषिक्त हो जाता है, उसी प्रकार असंबोध के कारण बुद्धीन्द्रियादि में आत्मत्वाभिमान करता हुआ जीव भी शरीराभिमानी हो मोक्षरूप स्वाराज्य से

---

१. 'निःशेषपुरुषार्थानां कैवल्योत्मता यथा।' (बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ५, वा० ६७)

२. वही-अ० २, ब्रा० ४, वा० ६२ तथा सम्बन्धवार्तिक, वा० ३००।

३. 'अभिव्यंजकतंत्रस्तु मोक्षस्तेनाक्षयो मतः॥' (सम्बन्धवार्तिक, वा० ३००)।

४. सं० वा०, वा० २७; बृ० उ० भा० वा०, अ० ३, ब्रा० ३, वा० ६०; अ० ४, ब्रा० ४ वा० २६६ तथा नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ० २ का० १०५, पृ० ६६।

५. 'मुक्तं चातः स्वतस्तत्त्वं मुक्तमित्युपचर्यते।
तदविद्याविध्वंसान्त्रितः शपथाम्यहम्॥ (बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ३०३)

६. सम्बन्ध वार्तिक, वा० २३२-३४; बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० १, वा० ५०६-२१; अद्वैत ब्रह्मसिद्धि, चतुर्थमुद्गरप्रहारः पृ० २१२।

परिभ्रष्ट हो जाता है और नाना प्रकार के तापों से पीड़ित और परेशान रहता है। इसके पश्चात् जब कोई परम कारुणिक आचार्य उसे तत्त्वमस्यादि वाक्यों का उपदेश देता है तब अपने ब्रह्मस्वभाव का स्मरण होने से उसकी सकार्याविद्यानिवृत्ति हो जाती है और उसे मोक्षरूप राज्याभिषेक प्राप्त हो जाता है। यहाँ यह विस्मरणीय नहीं कि जैसे व्याध कुल सम्वर्धित राजकुमार की राजसूनुत्व और राज्याभिषेक प्राप्ति में कोई यत्न नहीं अपेक्षित था उसी प्रकार यहाँ भी स्वाभासाविविक्तचित् रूप या चिदाभास रूप जीव की आत्मस्वरूपस्मृति एवं मोक्ष रूप स्वराज्याभिषेक के लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं। तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक में भी 'दशमस्त्वमसि' दृष्टान्त के द्वारा मोक्ष की औपचारिकी प्राप्ति का निरूपण किया गया है।[1] वार्तिकादि ग्रन्थों में अनेक स्थलों[2] पर अविद्यानिवृत्तिमात्र को मोक्ष कहा गया है, पर इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुपपन्न होगा कि अविद्या-निवृत्ति और मोक्ष दोनों अनन्य हैं, क्योंकि समस्त वार्तिकादि ग्रन्थों में अविद्या की निवृत्ति के लिए समुच्छित्ती[3] विध्वस्तौ[4] निवृत्तौ[5] प्रभृति सप्तम्यन्तपदों का प्रयोग, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक का 'तन्नाशानन्तरं मुक्तिः'[6] यह वार्तिक तथा नैष्कर्म्यसिद्धि में मोक्ष के परिगणित साधनों में 'अविद्योच्छेद' का अन्तर्भाव करने के पश्चात् स्वात्मावस्थान रूपमोक्ष का व्यवस्थापन[7] इस तथ्य का सूचक है कि अविद्या-निवृत्ति तथा मोक्ष में निश्चित पौर्वापर्य है। यह शंका—कि आभास-प्रस्थान में अविद्या-निवृत्ति को मोक्ष के समान आत्मस्वभाव माना गया है अतः मोक्ष और अविद्या निवृत्ति को क्यों न एक मान लिया जाय—उपयुक्त नहीं, क्योंकि अविद्यानिवृत्ति को आत्म-स्वरूप मानने पर स्वरूपलाभ के पूर्व उसके अविद्यात्व प्रयुक्त आभासत्व का प्रत्याख्यान

---

१. तै० उ० भा० वा०, वा० ३४-३६ पृ० ४६।

२. बृ० उ० भा० वा०, अ० ३, ब्रा० ३, वा० २३, ३७; अ० ४, ब्रा० ४, वा० ३०१ तथा ३२३। सम्बन्ध वार्तिक—वा० २७। नैष्कर्म्यसिद्धिः—अ० १, का० ७ पृ० ६, का० २४, पृ० १६, तथा अ० २, का० १०५ पृ० ६६। वेदान्तकल्प-लतिका—पृ० २६-२७।

३. बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० ४, वा० ३५६।

४. वही, अ० १, ब्रा० ३, वा० ५६, ३१५, अ० १ ब्रा० ४, वा० ६६ तथा ७६५।

५. वही—अ० १, ब्रा० ३, वा० ६१, अ० १, ब्रा० ४, वा० १४१४, १४३०, तथा १४७२।

६. वही—वा० २४, पृ० २००।

७. नैष्कर्म्यसिद्धिः, अ० १, का० ५२ (सम्बन्धोक्ति) पृ० ३२।

नही किया जा सकता, पर आत्मा सदैव शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव हे अतः अविद्यानिवृत्ति के समान आत्मा के स्वरूपभूत मोक्ष को कदापि आभास नही माना जा सकता।

मुक्ति की त्रिविध अवस्थायें—

यद्यपि सुरेश्वराचार्य ने उपासना का साक्षात् भेद नही माना है, तथापि 'आत्मेत्येवोपासीत' (वृ० उ० १।४।७) श्रुति के भाष्यावलिम्बत वार्तिको मे उपासना के प्रति अपूर्वादि विधियों का प्रत्याख्यान[1] तथा अन्यत्र (१) प्रकृष्टाभ्युदयार्थक (२) क्रम-मुक्तिकारक तथा (३) क्रियाविरुद्ध अर्थात् कर्मसमृद्धयक रूप से उपासना का त्रैधाविभजन[2] इस तथ्य का सूचक है कि वह मुख्यतः (१) असाधारण अर्थात् ज्ञानात्मक तथा (२) साधारण अर्थात् कर्मात्मक[3] दो प्रकार की उपासना स्वीकार करते है। इनमें से द्वितीय उपासना (जिसके उपर्युक्त तीन भेद किये जा सकते है) पर विद्याविषयक होने के कारण क्रममुक्तिकारक हे[4] और प्रथम अर्थात् नित्य प्राप्त[5] ज्ञानरूप उपासना अपरविद्या अर्थात् आत्मविषयक होने के कारण जीवन्मुक्ति किंवा विदेहमुक्ति की अभिव्यंजक हे। कहने का अभिप्राय यह है कि आभास-प्रस्थान में उपासनाओं के वैविध्य से मुक्ति का त्रैविध्य निर्गलित होता हे—(१) क्रममुक्ति (२) जीवन्मुक्ति तथा (३) विदेह मुक्ति।

(१) क्रम मुक्ति—वागादि देवताओं की उपासना से क्रम मुक्ति की प्राप्ति होती है। क्रममुक्ति की अवस्था आत्यन्तिक नही होती क्योंकि तत्साधनभूत उपासना कर्मात्मक हे।[6] जैसे कर्म विविदिषा के द्वारा ज्ञानोदयार्थक माने गये है, उसी प्रकार

---

१. 'नकश्चिदपि संभाव्यो यथोक्त न्यायगौरवात् ॥
विधिर्यतोऽभ्युपगमान्नियमोक्तिरियं ततः ॥' (वृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० ६२२)

२. 'प्रकृष्टाभ्युदयार्थानि क्रममुक्तिकराणि च ॥
क्रियाभिश्चाविरुद्धानि वाच्यानीति पराश्रुतिः ॥' (वही, अ० ५ ब्रा० १, वा० ५)

३. 'उपासनं च कर्मैव युक्तमुक्तमिदं ततः ॥ (वही—अ० ४, ब्रा० १, वा० २८)

४. 'उपासनानि सर्वाणि परविद्याधिकारतः ॥ क्रममुक्तिफलानीति त्वं गमिष्यसि गीरतः ॥' (वही-अ० ४, ब्रा० २, वा० १३)

५. 'आत्माऽऽत्मानं सदोपास्ते तत्प्रत्ययसमन्वयात्।
निःशेषानात्मबुद्धीनां नित्यप्राप्तमुपासनम् ॥ (वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ६१७)

६. वृ० उ० भा० वा०—अ० ४, ब्रा० १, वा० २८।

उपासना को भी बुद्धि शुद्धि के द्वारा आत्मज्ञानोत्पत्ति का निमित्त माना गया है।[1] अतः उपासना से सिद्ध होने वाली क्रममुक्ति की अवस्था को जीवन्मुक्ति आदि अवस्था की प्राप्ति का सोपानभूत माना जा सकता है।

(२) जीवन्मुक्ति—'सर्वज्ञात्मगुरवस्तु'—विरोधिसाक्षात्कारोदये लेशतोऽपि अविद्या नुवृत्यसंभवाद् जीवन्मुक्तिशास्त्रं श्रवणादिविध्यर्थवादमात्रम्, शास्त्रस्य जीवन्मुक्ति प्रतिपादने प्रयोजनाभावात् ॥'[2] इस सिद्धान्तलेश संग्रह के पंक्त्यन्तःपाति 'सर्वज्ञात्म-गुरुः' शब्द को सुरेश्वरार्थक मान कर तथा नैष्कर्म्यसिद्धि के 'अविद्यायाः प्रध्वस्तान्न किंचिदवशिष्यते' इस पंक्ति के अंश को जीवन्मुक्ति के कारणभूत अविद्यालेश का प्रत्याख्यान समर्थक मानकर श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य का कहना है[3] कि सुरेश्वराचार्य केवल सद्योमुक्ति मानते हैं, जीवन्मुक्ति नहीं। पर सुरेश्वर के ग्रन्थों में जीवन्मुक्ति सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक वार्तिकों[4] को देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि सुरेश्वर जीवन्मुक्ति वादी नहीं थे। सिद्धान्तलेशसंग्रह में सर्वज्ञात्मगुरवः के नाम से संगृहीत मत सुरेश्वराचार्य का नहीं, प्रत्युत् संक्षेपशारीरककार का ही मानना चाहिए। क्योंकि सद्योमुक्ति-पक्ष सर्वज्ञात्मन् का मुख्यपक्ष है, यह तत्प्रतिष्ठापित आभास-प्रतिबिम्ब समन्वयात्मक प्रस्थान में निरूपित किया जायगा। नैष्कर्म्यसिद्धि का 'अविद्यायाः प्रध्वस्तत्वान्न

---

१. 'आत्मज्ञानोदयायैव याज्ञवल्क्योऽप्यतोऽब्रवत् ॥ उपासनान्यशेषाणि तथा कर्माण्यशेषत् ॥' (वृ० उ० भा० वा०–अ० ४, ब्रा० १, वा० ३५) तथा 'देवतोपासना-च्चेतज्ज्ञानोत्पत्त्यै विवक्षितम् ॥' (वही—अ० ४, ब्रा० २, वा० १२)

२. सिद्धान्तलेशसंग्रहः चतुर्थपरिच्छेद, पृ० ५१३-१४।

३. A set of vedanta thinkers does not accept Jivanmukti. In the Sidhanta-Lesa-sangrah, the theory is found to be opposed by Sarvajnatma-guravati, j. e., Suresvara himself. As a matter of fact Suresvara disproves the existence of avidya lesa (The cause of Jivanmukti) in the Naiskarmya-siddhi (chapter IV, p. 199 abidyagah pradhvastattvan na kincid avasisyata" (Dinesh-chandra Bhattacharya on Mandana, Suresvara and Bhavabhuti, Indian Historical quarterly for 1931 (vol. VII p. 303 to 3-8)

४. वृ० उ० भा० वा०-अ० १, ब्रा० ४, वा० १५२६-१५५७ पृ० ७३६-४१; अ० ४ ब्रा० ४, वा० ३०६-७; ५५९-६० तथा ७२५; पंचीकरणवार्तिक—वा० ५६-६० पृ० ४६-४७ तथा नैष्कर्म्यसिद्धि—अ० ४, पृ० १९६-२०२।

किंचिदवशिष्यते' यह पंक्त्यंश भी सद्योमुक्ति पक्ष की सिद्धि के लिए अविद्यालेश का खंडन नहीं, प्रत्युत् सद्योमुक्ति तथा जीवन्मुक्ति इन दोनों प्रकार की मुक्ति में शेष-शेषिभाव का प्रत्याख्यान कर रहा है।[1] 'सम्यग्ज्ञानसमुत्पत्ति समनन्तरमेव च। शरीरपातः कस्मान्नेतच्चाप्यपहस्तितम्।'[2] यह वार्तिक निश्चयतः सद्योमुक्तिमात्र-वादियों के दूषण में प्रवृत्त है। सर्वविशेषों की कारणभूत अविद्या के अपनीत होने पर मुमुक्षु के जीवनकाल में ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है अतः केवल शरीरपात के अनन्तर मोक्ष प्राप्त होगा यह कहना उपयुक्त नहीं।[3] कहने का अभिप्राय यह है कि सुरेश्वर जीवन्मुक्ति मानते हैं तथा अपने मत के समर्थन में 'तस्य तावदेवचिरम्' इत्यादि श्रुतियों का प्रमाण भी उपस्थित करते हैं।[4]

जीवन्मुक्त का स्वरूप—शान्त परमानन्दाद्वय ब्रह्मरूप आत्मा का साक्षात्कार होते ही विद्वान् के लिए न कुछ अप्राप्तव्य रह जाता है और कुछ ज्ञातव्य, अतः कृतकृत्य अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है।[5] इस जीवनन्मुक्ति अवस्था में ब्रह्मसाक्षात्कार होने से केवल अनारब्ध कर्मों का क्षय होता है किन्तु अविद्या लेशाधीन आरब्ध कर्म के फलभूत देहाभास एवं जगदाभास बने रहते हैं। सुरेश्वर के मतानुसार ज्ञान प्रारब्ध कर्मों के क्षय में समर्थ नहीं, अतः जैसे प्रवृत्तवेग वाले, वाण या चक्र के वेग का नाश केवल वेगक्षय से सम्भव होता है, उसी प्रकार प्रारब्ध कर्मों के वेश का नाश भी केवल भोग से सम्भव है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन्मुक्ति की अवस्था में आरब्ध-फलशेषैकहेतुक देहाभास तथा जगदाभास बना रहता है तथा उसमें जीवन्मुक्ति के रागादि का आभास भी तब तक बना रहता है जब तक आरब्धक्षय नहीं होता।[6]

---

१. 'एवं सद्योमुक्तिपक्षमंगीकृत्यशेषशेषिभावः परिहृतः साम्प्रतं जीवन्मुक्तिपक्षेऽपि न शेषशेषिभाव इत्युत्तरग्रन्थस्य तात्पर्यमाह वास्तवेनैवेत्यादिना,' नैष्कर्म्यसिद्धि व्याख्या (ज्ञानोत्तम) पृ०१९९।

२. बृ० उ० भा० वा०-अ० १, ब्रा० ४, वा० १५४६।

३. 'न तस्य जीवतः कश्चिद्विशेषोऽस्ति मृतस्य वा।
यतः सर्वविशेषाणामविद्यैवास्ति कारणम्॥' (वही अ० ४, ब्रा० ४ वा० ३०६)

४. पंचीकरणवार्तिक—वा० ५९ पृ० ४७ तथा बृ० उ० भा० वा०—अ० १, ब्रा० ४, वा० १५४९।

५. पंचीकरणवार्तिक—वार्तिक ५६-५७, पृ०४६।

६. 'आरब्धफलशेषैकहेतुत्वाद्देहसंस्थितेः॥ रागादिषु प्रत्ययोद्भूतिरिषुचक्रादि वेगवत्॥' (बृ० उ० भा० वा०, अ० १, ब्रा० ४, वा० १५२९) तथा 'अपरे तु-बाधितानुवृत्त्या ज्ञानतत्कार्ययोरनुवृत्तिरिति। मुक्तेषुवत्कुलालचक्रवच्च। न न- विद्या विद्ययोर्विरोधात्कथमेवं स्यादिति वाच्यम्; पारमार्थिक प्रपंचोपदर्शकांश-स्यैव विद्याविरोधात्, प्रतिभासिकमात्रांशेना विरोधात्। तस्य चांशस्य प्रारब्धक्षया-देव क्षयः; 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यत' इति 'सूत्रबलात् तथैव प्रतीतेः, जीवन्मुक्तिशास्त्रबलाच्चेति—आदि॥ (अद्वैतरत्नरक्षणम् पृ० ४५ पंक्ति ३१-४)

एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि देहाभास और जगदाभास रूप द्वैतदर्शन जीवन्मुक्त को भी होता है तो बद्ध और मुक्त में अन्तर क्या है? इसके समाधान में कहा जाता है कि बद्ध और मुक्त पुरुष के द्वैत-दर्शन में दो अन्तर है—(१) बद्ध पुरुष सर्वदा द्वैत देखता है किन्तु मुक्त-पुरुष व्युत्थान काल में भिक्षाटनादि के अवसर पर द्वैत-दर्शन-सा करता है और (२) बद्धजनबोधात्म अर्थात् चिदात्मा से व्यतिरिक्त द्वैत को सत्यरूप से जानता है किन्तु मुक्तजन सम्पूर्ण प्रपंच को चिदाभास की सत्ता तथा स्फूर्ति से प्रतिभासित समझने के कारण आभास स्वरूप देखता है। जीवन्मुक्त को यह ज्ञान हो जाता है कि जैसे एक अनन्तदिशा का प्राच्यादि रूप से औपाधिक विभाग प्रतीत होता है अथवा एक ही चन्द्रमा नेत्रावष्टम्भादि उपाधि के कारण अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार एक ही अद्वितीय ब्रह्म पृथक्-पृथक् उपाधि के कारण देव तिर्यगादि रूपों में आभासित हो रहा है, पर अविद्या के आवर्त में वर्तमान बद्धजन के लिए यह प्रतीति नितान्त असंभव है।[1] दूसरा प्रश्न उठता है कि यदि तत्त्वसाक्षात्कार से अविद्यानिवृत्ति के पश्चात् भी शरीरादि का प्रतिभास बना है तो जीव का मोक्ष कैसा? यह प्रश्न भी निराधार है क्योंकि उक्त शरीरादि का प्रतिभास प्रारब्धनाशपर्यन्त है और ज्ञाततत्त्व जीव के लिये प्रारब्ध मूलक शरीरादि की अनुवृत्ति आभासमात्र है। अतः शरीरादि के प्रतिभास की अवस्था में भी जीव मुक्त है, अनिर्मोक्ष सेवी नहीं।[2]

(२) विदेहमुक्ति—जब प्रारब्ध भोग के शेषभूत देहाभास और जगदाभास का भोगोपरान्त क्षय हो जाता है, तब जीव स्वलक्ष्यभूत अविद्यातिमिरातीत, सर्वाभास-विवर्जित, चैतन्य, अमल, शुद्ध, मन और वाणी से अगम्य, वाच्यवाचकनिर्मुक्त, हेयोपा-देयवर्जित, प्रज्ञानघन, नित्यनिरतिशयानन्दस्वरूप ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है अर्थात् ब्रह्मस्वरूपावस्थित हो जाता है। जीव की यही अवस्था उसकी विदेहमुक्ति है।[3]

---

१. पंचीकरण वार्तिक, वा० ५७-५८, पृ० ४६।
२. वही, वा० ५८-६०, पृ० ४६-४७।
३. वही, वा० ६०-६२ पृ० ४७-४८।

चतुर्थ अध्याय

सर्वज्ञात्ममुनिसम्मत आभास-प्रतिबिम्ब समन्वयवाद

आभास-प्रतिविम्ब समन्वयवादिता :—

यद्यपि विद्वानों ने एक स्वर से सर्वज्ञात्ममुनि को प्रतिबिम्ववादी मान लिया[1] है तथापि तत्कृतग्रन्थों में स्थान-स्थान पर सुलभ आभासपद[2] इस तथ्य के निर्देशक हैं कि

---

१. मधुसूदन सरस्वती: सिद्धान्तविन्दु—'अज्ञान प्रतिविम्बितं चैतन्यमीश्वरः, बुद्धिप्रति-विम्बितं चैतन्यं जीवः, अज्ञानोपहितं तु विम्बचैतन्यं शुद्धमिति संक्षेपशारीरककाराः। अनयोश्च (विवरण संक्षेपशारीरककारपक्षयोः) बुद्धिभेदाज्जीवनानात्वम्। प्रति-विम्बस्य च पारमार्थिकत्वाज्जहल्लक्षणैव तत्त्वमादिपदेषु। इममेव प्रतिबिम्बवादमा-चक्षते।' पृ० २८ (गं० ओ० सी०);

अद्वैत ब्रह्मसिद्धिः—चतुर्थोमुद्गर प्रहारः। पृ० २०३; ब्रह्मानन्द लघु-चन्द्रिका (अद्वैतसिद्धिव्याख्या) 'अविद्या प्रतिविम्बमनः प्रतिविम्बयोरीश-जीवत्वे तु अविद्या-विम्बत्वोपहिता चित् तथा।·········संक्षेपशारीरककृतः। पृ० ४८३ पंक्ति १३-१५। तथा

महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर—'संक्षेपशारीरककृतां प्रतिबिम्ब-मिहेष्यते।" (सि० वि० उपोद्घात)।

२. संक्षेपशारीरक, १।१६६—'साभासाज्ञानवादी यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथाऽहं। शब्दोऽहंकारवाची भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे॥' १।३२३—'साभासमेत-दुपजीव्य चिदद्वितीया संसारकारणमिति प्रवदन्ति धीराः॥ साभासमेतदिति संसृति कारणत्वे द्वारं परं भवति कारणता दृशस्तु॥; २।१६४—'अज्ञानि ब्रह्मजीवो भवति च स्पष्टमज्ञानमस्य प्रागस्पष्टं सदन्तःकरणनिपतित ज्योतिराभासयोगात्॥ चैतन्यैक प्रतिष्ठं स्फुरति न हि तमस्तादृशं यादृशं तद् बुद्धिस्था भासनिष्ठं स्फुरति तदुचितं जीवमोढ्याभिधानम्॥; २।४५ तथा ३।४८।

पंचप्रक्रिया—प्रथम प्रकरण, पृ० १३ 'साभासाज्ञान·········।' द्वितीय प्रकरण, पृ० २५—'ज्ञानादग्रामासमात्ररूपं शिष्यं प्रत्युपदेशद्दृत्वासंभवाद् विदुषो जीवन्मुक्तेः प्रयोजनाभावात्·········।' तथा पंचम प्रकरण पृ० ५०-५२। 'अविद्यावस्थायां तु

क्रमशः

वह एकान्ततः प्रतिविम्ब के ही नहीं, पर आभास-प्रस्थान के भी समर्थक थे। 'तत्त्वमसि' महावाक्यघटक 'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ निरूपण के प्रसंग में चिदाभास और चित्प्रतिविम्ब[1] दोनों के साथ-साथ उपन्यास से भी यही निष्कर्ष निष्पन्न होता है। उनका सिद्धान्त निरूपित करने के पूर्व इनका संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

व्यक्तित्व

सर्वज्ञात्ममुनि अद्वैतवेदान्त के लब्ध प्रतिष्ठ आचार्य हैं। इनका दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। इनकी प्रमुख रचनायें निम्नलिखित हैं—

(१) संक्षेपशारीरक

(२) पंचप्रक्रिया[2] तथा

(३) प्रमाण लक्षण[3]।

संक्षेपशारीरक (१।८) और पंचप्रक्रिया के प्रथम द्वितीय प्रकरण की पुष्पिका में

साभासाज्ञानद्वारेण शुद्धस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतिनिमित्तकारणत्वं ईश्वरत्वं साक्षित्वं च कार्यं प्रपंचमीशितव्यजीवभेदं दृश्यं चापेक्ष्य भवति; यथा शुद्धस्यैव प्रत्यगात्मनस्साभासकार्यकरण संबन्धद्वारेण नियोजत्वकर्तृत्व भोक्तृत्वप्रमातृत्वसम्बन्धः, न कार्यकरणसंघातादिविशिष्ट तद्वत्। तदुक्तं······इति। तस्माद् ब्रह्मैव संसरति साभासस्वाविद्यया स्वविद्यया च ब्रह्मैवमुच्यते॥' तथा पृ० ७०-७१—'तत्स्मात्साभासप्रत्यग्ज्ञानमेव परमात्मनः क्षेत्रक्षेत्रज्ञात्मकजगत्कारणत्वे द्वारम्। ··· अत्र क्षेत्रज्ञशब्देन पुर्यष्टकोपाधिपतितचिदाभासग्रहणम्॥

१. संक्षेपशारीरक—'उपाधिमौपाधिकमान्तरं चिदाभासनं चित्प्रतिविम्बकं च। चिद्बिम्बमेत्रं चतुरः पदार्थान् विविच्य जानीहि तदर्थ भाजः॥ तथा त्वमर्थेऽपि चतुष्टयं तद विवेचनीयं निपुणेन भूत्वा। मतिश्चिदाभासनमेवमस्यां विम्बं तदीयं प्रतिविम्बकं च॥ तथा उपाधिरज्ञानमनादिसिद्धमस्मिंश्चिदाभासनमीश्वरत्वम्। तदन्विता चित् प्रतिविम्बकं स्यादुदीर्यते शुद्धचिदेवविम्बम्। (२७५-२७७) अध्याय ३।

२. मद्रास विश्वविद्यालय से १९४६ में प्रकाशित।

३. "The pramanalaksana, a work on the epistemology of the Mimansas was composed by Sarvajnatman."
(T. R. Chintamani : Introduction on Pancaprakiya)

सर्वज्ञात्मन् ने अपने गुरु का नाम देवेश्वराचार्य बताया है। संक्षेपशारीरक के व्याख्याकार मधुसूदन सरस्वती[१] और रामतीर्थ[२] तथा पंचप्रक्रिया के टीकाकार आनन्दगिरि[३] ने देवेश्वर का अर्थ सुरेश्वर किया है। प्रोफेसर हिरियन्ना भी इससे सहमत हैं।[४] इन प्रमाणों के होते हुए भी पंचप्रक्रिया के विद्वान् सम्पादक डा० टी० आर० चिन्तामणि ने सर्वज्ञात्मन् को सुरेश्वर का शिष्य नहीं माना है।[५] वस्तुस्थिति कुछ भी हो पर मधुसूदन आदि आधुनिक अद्वैत वेदान्तियों के बहुत पूर्व १३वीं शताब्दी से ही आनन्दगिरि ने सर्वज्ञात्मन् को सुरेश्वर का शिष्य मान लिया है। और इस प्रचलित परम्परा का अपलाप तब तक असंभव प्रतीत होता है जब तक आचार्य शंकर और संक्षेपशारीरक के समयान्तर में देवेश्वर के नाम से सुरेश्वर व्यतिरिक्त अन्य किसी अद्वैतवेदान्ती की

---

१. इदानीं स्वगुरुं वार्तिककारं पूजयति—यदीयेति ॥ देवेश्वरस्य सुरेश्वराचार्यस्य ते पादरेणवो जयन्ति, सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, तान् प्रत्यस्मि प्रणत इत्यर्थः।……सुरपदस्थाने देवपदप्रयोगः साक्षाद् गुरुनामाग्रहणाय, 'गुरोर्नाम न गृह्णीयात्' इति स्मृतेः ॥ (सारसंग्रह पृ० १४-१५)

२. इदानीं साक्षात् गुरुं सुरेश्वराचार्यं अभिपूजयति-यदीयसंपर्केति। (अन्वयार्थबोधिनी)

३. सम्प्रति प्रकरणस्य सांप्रदायिकत्वेन विद्वद्भिराचरणीयत्वमिति आदर्शयति। श्रीमदिति। तस्य गुरोरुक्तसंज्ञावतो गीस्फुटे विकसिते,……। (पंचप्रक्रिया टीका, प्रकरण १ पृ० १५)।

४. M. Hirriyanna : Suresvara And Mandana Misra (The Journal of Royal Asiatic Society of the Great Britain And Ireland for 1923, P. 260 lines 5-6) and Suresvara and Mandana Misra. The Journal of Royal Asiatic Society of the Great Britain and Ireland for 1923. Foot Note, p. 96.

५. According to prof. Hirriyanna, the Istsidhi cannot be earlier than 850 A. D.; but how much later we are unable to say. We can certainly say, that he could not have been the pupil of Suresvara who must be referred to the closing years of the 7th Century and 'the beginning of the 8th century A. D."

(Introduction p. vi, lines 28 to 33)

स्थापना न हो जाय। संक्षेपशारीरककार के द्वारा व्यास और शंकर के पश्चात् तुरन्त देवेश्वर का अभिपूजन भी संभवतः इसी तथ्य का समर्थन करता है।

प्रमुख मौलिक सिद्धान्त

(१) जगत्कारणता विषयक :—जगत् के जन्मादि का उपादान ईश्वर है या जीव या शुद्ध ब्रह्म? इन पक्षों में विवरणकार[1] तथा आभासवादी आचार्य सुरेश्वर[2] ने प्रथम पक्ष का समर्थन किया है। अवच्छेद प्रस्थान के प्रतिष्ठापक मंडन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि में द्वितीयपक्ष समर्थित है।[3] परन्तु सर्वज्ञात्ममुनि इन दोनों में से किसी भी पक्ष पर अपनी आस्था न रख कर शुद्ध ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानते हैं।[4] मधुसूदन सरस्वती आदि विद्वानों ने संक्षेपशारीरक के शुद्ध ब्रह्म को अविद्याबिम्बत्वोपहित चैतन्य बताया है।[5] अतः जगत् को चिद् उपादानक कहने का अभिप्राय यह नहीं कि सर्वज्ञात्मन् जगत् की सृष्टि में अज्ञान का कोई उपयोग नहीं मानते। कूटस्थ ब्रह्म में स्वतः कारणता नहीं बन सकती। अतः उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अद्वितीय चित् सामान्य अर्थात् चिदाभास खचित अज्ञान को उपाधि रूप से पुरस्कृत करके संसार की

---

१. पंचपादिका विवरण—तस्मादनिर्वचनीयमायाविशिष्टं कारणं ब्रह्मेतिप्राप्तम्।' (पंचम वर्णक, पृ० ३५२-५३) तथा—'तस्माज्जन्मदिनिमित्तोपादानकारणं सर्वज्ञं ब्रह्मेति सिद्धम्'। (सप्तम वर्णक, पृ० ६९३)। गौड़ब्रह्मानन्दी पृ० ४८३, ५ पंक्ति १३-१६, सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ६५-६६)

२. तेन तेनात्मकार्येण स्वात्माभासनमोत्थितः॥
विशिष्टः सृजते विष्णुस्तेजोबन्नादिमायया॥ बृ० उ० भा० वा० १।४।१६ तथा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का तृतीय अध्याय पृ० ७५-७७।

३. पंचपादिका विवरण, सप्तम वर्णक तथा तात्पर्यदीपिका, पृ० ६९३।

४. अविद्यावस्थायां तु माभागाज्ञानद्वारेण शुद्धस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतिनिमित्तकारणत्वं ईश्वरत्वं साक्षित्वं च कार्यप्रपंचमोशितव्यजीवभेदं द्वयं चापेक्ष्य भवति, यथा शुद्धस्यैव प्रत्यगात्मनस्त्वाभासकार्यकरणसम्बन्ध द्वारे नियोजत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रमातृत्व सम्बन्धः, न कार्यकरणसंघातादिविशिष्टस्य।' (पंचप्रक्रिया, पृ० ५०-५१) तथा संक्षेपशारीरक, १।५३८ निमित्तं च योनि यत्कारणं तत्, परब्रह्म सर्वस्य जन्मादिनाशः। इति स्पष्टमाचष्ट एषा श्रुति नः, कथं सिद्धवल्लक्षणं सिद्धिवाह्यम्।'

५. 'अज्ञानोपहितं तु बिम्बचैतन्यं शुद्धमिति संक्षेपशारीरककाराः।' (सिद्धान्तबिन्दुः, तथा लघुचन्द्रिका-'अविद्याप्रतिबिम्बमनः प्रतिबिम्बयोर्गणजीवत्वपक्षे तु अविद्याबिम्बत्वोपहिता चित् तथा (जगदुपादानम् इत्यर्थः) पृ० ४८३ पं० १४।

कारणता का निर्वहण करता है।[१] यद्यपि शुद्ध ब्रह्म संसार की कारणता में अज्ञानोपजीवि है तथापि अज्ञान को जगत् का परम उपादान कारण नहीं माना जा सकता है क्योंकि चेतन से भिन्न जो कुछ भी संसृति का कारण है वह जड़ होने के कारण वेदान्त सिद्धान्त में परमकारण नहीं हो सकता। 'ईक्षतेर्नाऽशब्दम्' (ब्र० सू० ३।१।५) आदि सूत्रों के द्वारा भगवान् बादरायण ने भी कहा है कि चेतनाधिष्ठित कोई भी जड़ संसार के किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता केवल कारणता में द्वार बन सकता है।[२] अज्ञान भी जड़ पदार्थ है इसलिए वह जगत् की कारणता में द्वार या सहकारि मात्र है।[३] अज्ञान का यह द्वारत्व चिदाभास खचित होने से ही सम्भव है अन्यथा जड़ अज्ञान में उद्धारता कैसी ?[४] 'आत्मन: आकाश: सम्भूत:' (तै० उ० २। २। १) इत्यादि श्रुतियों के अवष्टम्भ से भी अज्ञान विशिष्ट चिदात्मा को जगत् का उपादान मानना उपपन्न नहीं, क्योंकि प्रकृत श्रुति में आत्मा आदि पदों का वाच्य विशिष्ट ब्रह्म नहीं, प्रत्युत् सर्वोपाधिरहित निर्विशेष परम चेतन निगदित है। अत: विशिष्ट वाचक आत्मा आदि शब्दों की शुद्ध ब्रह्म में लक्षणा कर लेनी चाहिए। शवलता रूप उपाधि के समन्वय से परब्रह्म 'आत्म' पद का वाच्य होता है। इसीलिए साधारणत: मनुष्यों को यह भी भ्रम हो जाता है कि आत्म-पद-वाच्य शवल ब्रह्म है।[५] अद्वैत वेदान्त के अनुसार लक्ष्य ब्रह्म का जगत्कारणत्व विशेषण नहीं, अपितु उपलक्षण है। और यह सिद्धान्त तभी उपपन्न हो सकेगा जब शुद्ध चैतन्य को जगत् का कारण मान लिया जाय। यदि

---

१. 'साभासमेतदुपजीव्यचिद्द्वितीया संसारकारणमिति प्रवदन्ति धीरा:। (१।३२४-संक्षेपशारीरक)

२. संक्षेपशारीरक—१।३२४-२५।

३. वही, 'साभासमेतदिति संसृति कारणत्वे द्वारं परं भवति कारणता दृशस्तु।' (१।३२३, १।३३२ तथा—'अज्ञानतज्जघटना चिदविक्रियायां द्वारं परं भवति नाधिकृतत्वमस्या:।' (१।५५५)। अन्वयार्थ प्रकाशिका (संक्षेपशारीरक टीका) 'कारणता तु दृशश्चिदात्मन एव तस्य कूटस्थतया स्वतो जगद्रूपत्वेनाविर्भावसम्भवात्तस्य संसृतिकारणत्वे द्वारं सहकारिमात्र परं भवति।' पृ० २७८ प्रथम भाग। अद्वैतरत्नरक्षणम्, पृ० ४२, पंक्ति ३६-३९; पृ० ४३, पंक्ति ३-१० तथा पंक्ति ३४-३६।

४. 'जडस्यास्य, द्वारमपि कथमित्यत् आह—साभासमेतदिति। इति यत एतदज्ञानं साभासमतो द्वारमिति योजना। पृ० २७८।

५. संक्षेपशारीरक—१।३२९–३०।

अज्ञान या अज्ञान विशिष्ट चेतन को जगत् का कारण स्वीकार किया जाय तब यह कारणत्व शुद्ध ब्रह्म का उपलक्षण न होकर विशेषण बन जायगा क्योंकि अन्यगामी वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु उपलक्षित नहीं होती।[1] वह धर्म उपलक्षण कैसे हो जो अपने लक्ष्य में कभी भी रहता ही नहीं।[2] अतः सर्वज्ञात्म तंत्रित अद्वय शासन के इस संग्रहात्मक वाक्य का अनुमोदन उपयुक्त होगा कि सकल वाणी और मन से अगोचर अज्ञानोपहित शुद्ध ब्रह्म सकल वाचिकादि व्यवहारों का विषय होता है।[3] लोक में जड़ पदार्थों की ही उपादानता देखी जाती है अतः सच्चिदानन्दमूर्त्ति चैतन्य की समस्त प्रपंच के प्रति उपादानता कैसी ? इस आक्षेप का समाधान करते हुए संक्षेप शारीरककार ने कहा है कि जैसे विचित्र स्वप्नसृष्टि में प्रत्यगात्मा उपादान है और ऊर्णनाभ सूत्रों के प्रति उपादान है अथवा जैसे केश लोम आदि में पुरुष उपादान है जैसे ही कूटस्थ चेतन जगत् के प्रति उपादान है।[4] यदि जगत् चेतनोपादानक है तो उसे चेतन होना चाहिए—यह शंका भी निराधार है क्योंकि ऊपर यह कहा जा चुका है कि सर्वज्ञात्ममुनि माया को जगत् का द्वार कारण मानते हैं। माया की द्वार कारणता मानने से जगत् में माया के जाड्य का अनुगम उसी प्रकार हो जायगा जैसे कि मृत्तिका की श्लक्ष्णता घटादि में अनुस्यूत हो जाती है।[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सर्वज्ञात्मन् जगत् के तीन कारणों—(१) अद्वितीय चित् (२) आभास और (३) अज्ञान में अद्वितीय चित् को जगत् का मुख्य अर्थात् उपादान और निमित्तकारण तथा आभास और अज्ञान को जगत् का द्वार अर्थात् सहकारि कारण मानते हैं।

लक्ष्य का लक्षण त्रैविध्य एवं जगत्कारत्व की शुद्ध ब्रह्म में उपलक्षणता

इस लोक में लक्ष्य के त्रिविध लक्षण विश्रुत हैं—(१) स्वलक्षण (२) विशेषण

---

१. संक्षेपशारीरक—१। ३३३-३४।
२. वही, १। १३१।
३. वही, १।३३१ तथा अद्वैतरत्नरक्षणम्, पृ० ४३ पंक्ति ९-१०।
४. उपादानता चेतनस्यापि दृष्टा
यथा स्वप्नसर्गे विचित्रे प्रतीचः।
यथा चोर्णनाभस्य सूत्रेषु पुंसां
यथा केश लोमादि सृष्टा च दृष्टा। (संक्षेपशारीरक—१।५४५)।
५. सिद्धान्तलेशसंग्रहः—'अकारणमपि द्वारं कार्ये अनुगच्छति। मृद इव तद्गतश्लक्ष्णत्वादेरपि घटे अनुगमनदर्शनादित्याहुः। प्रथम परिच्छेद, पृ० ७८।

तथा (३) उपलक्षण।[1] जो पदार्थ लक्ष्यवस्तु में उपलब्ध होता है और अलक्ष्य पदार्थों से निःशेषतः लक्ष्य को पृथक्-पृथक् करके बताता है, उसे लक्षण कहते हैं अर्थात् जो धर्म निःशेषतः सजातीय और विजातीय पदार्थों के व्यावर्त्तक होता हुआ जिस धर्मी में उपलब्ध होता है, उसे लक्षण कहा जाता है।[2] यह त्रिविध लक्षणों का सामान्य लक्षण बताया गया है। सम्प्रति प्रत्येक का लक्षण कहा जाता है।

(१) **स्वरूप लक्षण स्वलक्षण**—जो लक्ष्य का स्वरूप होते हुए भी लक्ष्य का लक्ष्येतर समस्त पदार्थों से साक्षात् भेदक होता है, उसे लक्ष्य का स्वरूपभूततया ही लक्षण कहते हैं। यथा लोक में आकाश का स्वरूपलक्षण 'खं', 'छिद्रम्' आदि तथा जल का 'जलम्' और 'द्रवम्' इत्यादि है।[3]

(२) **विशेषण लक्षण**—जो लक्ष्य वस्तु में स्वानुरक्त अर्थात् स्वविशिष्टबुद्धि का जनक होता है, उसे विशेषण लक्षण कहा जाता है जैसे अश्व का केशरादि। केशरादि अश्व में विद्यमान एक ऐसा विशेषण है जो अपने लक्ष्यभूत अश्व को अन्य पदार्थों से व्यावृत्त करता है तथा स्वविशिष्ट बुद्धि के जन्म में कारण है।[4]

(३) **उपलक्षण लक्षण**—लक्ष्य वस्तु में स्वविशिष्ट बुद्धि हेतुता को छोड़कर उपलक्षणकाल में लक्ष्य स्वरूपान्तर्भूत न होने पर भी जो लक्ष्य का व्यावर्त्तक होता है उसे उपलक्षण लक्षण कहते हैं, जैसे 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' का काक पद। यहाँ पर काक न तो गृह का विशेषण है और न स्वरूप; फिर भी कदाचित् पूर्ववृत्तिता के कारण देवदत्त के गृह का व्यावर्तक है। इस उपलक्षण लक्षण को तटस्थ लक्षण भी कहा जाता है।[5]

असहाय परिग्रह चिद्वस्तु का विश्व—उद्भवस्थिति लय प्रकृतित्व रूप जो लक्षण है, उसे उपलक्षण कहना चाहिए क्योंकि इस प्रकार ब्रह्म रूप लक्ष्य पद की शक्ति का विरोध नहीं होता। जगत्कारणत्व को उपलक्षण मानने पर जगत् या

---

१. संक्षेपशारीरक–१।५१४।

२. अन्वयार्थ प्रकाशिका (संक्षेपशारीरक टीका) 'यद्यस्य निःशेषतः सजातीय विजातीय व्यावर्तकं वस्तुनिष्ठं उपलभ्यते तत्तस्य लक्षणमित्युक्तं भवति।' (१।५५५ पृ० ४६६)

३. संक्षेपशारीरक १।५१६।

४. वही, १।५१७।

५. संक्षेपशारीरक—१।५१८।

उसके पदार्थों के लक्ष्यभूत ब्रह्म की जगत् के निखिल पदार्थों से व्यावृत्ति होगी और जगत् कारणत्व ब्रह्म का विशेषण एवं स्वरूप न बन सकेगा। इस प्रकार ब्रह्म की अपरिच्छिन्नता बनी रह जायगी किन्तु यदि जगत्कारणत्व को विशेषण माना जाय तो विशेषण यावद्‌विशेष्यभावी होने के कारण ब्रह्म को परिच्छिन्न बना देगा। अतः जगत्कारणत्व को उपलक्षण मानना ही युक्तिसंगत है। सजातीय एवं विजातीय वस्तु से किसी वस्तु का व्यावर्तन करना लक्षण का प्रयोजन है किन्तु अद्वैत वाद में अद्वितीय ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं। अतः व्यवच्छेद्याभाव होने के कारण व्यावृत्ति-रूप लक्षण का प्रयोजन कैसे सिद्ध हो सकता है ? इस आक्षेप का उत्तर देते हुए संक्षेप शारीरककार ने कहा है कि यद्यपि परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म भिन्न कुछ नहीं तथापि अविद्या कल्पित अनन्त परिच्छिन्न पदार्थों से ब्रह्म के व्यवच्छेद की सिद्धि करने के लिए लक्षण-प्रयोजन की हानि नहीं। इसके अतिरिक्त प्रधान एवं परमाणु आदि को जगत्कारण मानने वाले सांख्यादि के मत से जगत्कारणभूत पर ब्रह्म की परिच्छिन्नता प्राप्त होती है जिसके निषेध के लिए जगत्कारत्व को ब्रह्म का उपलक्षण बताया गया है। 'यतो वा इमानि भूतानि' (तै० ३।१।१) इत्यादि वाक्य को अनुमानवादी नैयायिक ब्रह्मसद्‌भावसाधक अनुमान प्रमाण मान लेते हैं पर यह उपयुक्त नहीं, क्योंकि सत् ब्रह्म का जो जगज्जन्मादि लक्षण कहा गया है वह ब्रह्म के चिद् रूप से उपदिष्ट है प्रमाणरूप से नहीं।[1] इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म में जगज्जन्मादि कारणता को चिह्न या उपलक्षण मान लेने पर कथमपि अद्वैतसिद्धान्त की हानि नहीं होती।

(२) अध्यासकारणता-विचार—(क) धर्मों का सामान्य ज्ञान (ख) त्रिविध दोष (प्रमेयगत दोष, प्रमातृगत दोष और प्रमाणगत दोष) तथा (ग) आरोप्य सजातीय वस्तु के संस्कार—ये तीन अध्यास के कारण माने जाते हैं। अध्यस्त और अधिष्ठान का सादृश्य प्रमेय दोष है। यह आत्मा और अनात्मा के सादृश्य की उपपत्ति वस्तुत्व और आन्तरत्व धर्मों के द्वारा सम्भव है। आत्मा में वास्तविक और अनात्मा में काल्पनिक वस्तुत्व आत्मा तथा अनात्मा के अध्यास का प्रयोजक होता है। अन्तःकरण देशस्थ अज्ञान की विक्षेपशक्ति में विद्यमान प्रारब्धरूप संस्कार को प्रमातृदोष कहा जाता है। आत्मा में आत्मस्वरूपातिरिक्त कोई प्रमाण न होने के कारण तत्स्वरूपस्थ अविद्या को प्रमाण दोष कहा जाता है।

सर्वज्ञात्ममुनि अध्यास के निमित्तरूप से प्रसिद्ध उपर्युक्त सादृश्यज्ञान इत्यादि का

---

१. जन्मादि लक्षणमिदं जगतो यदुक्तं सद्‌ब्रह्मणस्तदिह चिह्नतयोपदिष्टम् ॥
नास्मिन्प्रमाणमपरे पुनरेतदेव ब्रह्म प्रमाणमनुमानमुदीरयन्ति ॥'
(सं० शा० १।५-३८) तथा १।५८८।

सभी अध्यास भूमियों में सार्वत्रिक अनुगमाभाव देखकर इन तीनों का अध्यास कारणत्व नहीं मानते।[1] सादृश्य ज्ञान की अनुपपत्ति प्रदर्शित करते हुए उनका कहना है कि आत्मा के साथ ब्राह्मणत्वादि जाति का सादृश्य लेश न होने पर भी आत्मा में 'द्विजोऽस्मि' और 'ब्राह्मणोऽस्मि' इत्यादि जाति का अध्यास हो जाता है। आत्मा और जाति दोनों निरवयव हैं अतः 'भूयोऽवयवसामान्य योगः' रूप से पारिभाषित सादृश्य यहाँ कैसे बनेगा?[2] विषयगत तथा करणगत दोष भी सर्वत्र संभव नहीं।[3] प्रमाण फल रूप घटादि ज्ञान में तार्किकों को जो वेद्यत्वादि का भ्रम होता है, वह विषयगत या करणगत दोष से नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रकाश है तथा अविषय और करणागोचर है। त्रिविध दोषों में से प्रमातृगत दोष से अवश्य भ्रम माना जा सकता है किन्तु यह प्रमातृदोष संक्षेप शारीरककार के शब्दों में केवल मोह हो सकता है। इस मोह को ही वह अध्यास का पुष्कल कारण मानते हैं (अपि तु भवति मोहात्केवलादेवमेव सं० शा० १।३०)[4] कहने का आशय यह है कि सादृश्यज्ञानादि तीनों अध्यास के हेतु नहीं माने जा सकते, केवल अज्ञान अध्यास का हेतु है। प्रौढिवाद का अवष्टम्भ ग्रहण करते हुए संक्षेपशारीरककार का कहना है कि यदि सादृश्य ज्ञानादि को अध्यास का कारण मानना आवश्यक ही हो तो इन सब (सादृश्यादि) को चैतन्य में उपचारतः कहा जा सकता है।[5] यह सामाधान सर्वज्ञात्मन् के बुद्धि की उत्प्रेक्षा हो यह बात नहीं, क्योंकि

---

१. सादृश्यधी प्रभृति न त्रितयं निमित्तमध्यासभूमिषु जगत्यनुगच्छतीदम्।
ब्राह्मण्यजाति परिकल्पनमात्मनीष्टं जात्यानसाम्यमुपलब्धमिहास्ति किंचित्॥
वही, १।२८ तथा डॉ० वी० पी० उपाध्याय: विवरणादि प्रस्थानविमर्श:—
'यच्चोक्तं प्रमात्रादिगतदोषोऽध्यासहेतुस्तन्न प्रमात्रादिदोषमन्तरेणाऽप्यध्यास— संभवात्। दृश्यते हि यद् द्विजोऽस्मि, ब्राह्मणोऽस्मि इत्यात्मनि जातेरध्यासो भवति आत्मना सह जातेस्सादृश्यलेशविरहेऽपि।' पृ० ८

२. सं० शा० १। २९।

३. वही-१।३०।

४. १।२७—'अध्यस्ततां प्रति समर्थमबोधमात्रमन्योन्यरूप-मिथुनीकरणे निमित्तम्॥'

५. वही-१।३९ तथा सुबोधिनी (संक्षेपशारीरकटीका)—'तथा ह्यन्तः-करणस्य देहेन्द्रियाद्यपेक्षया प्रत्यक्त्वं स्वच्छत्वं चास्ति चैतन्यसादृश्यं सांशत्वमपि चैतन्यस्याविद्यावशादखंडस्यापि जीवत्व-ब्रह्मत्वाद्यात्मकमस्ति पराक्त्वमपि साभासान्तःकरणे तद्विविक्तत्वेन स्पष्टीभावाद्विषयतामिवापन्नस्य शक्यमुत्प्रेक्षितुमनादित्वाच्च पूर्वापूर्वापेक्षया सर्वमिदमुत्तरोत्तराध्यासे शक्यसमर्थनमिति भावः।'
(पृ० ५८, प्रथमोभागः)

भगवान् भाष्यकार के 'न तावदयमेकान्तेनाविषयोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्' इस अध्यास—भाष्य के द्वारा भी समर्थित है।[1] वास्तविक तथ्य तो यह है कि एक-मात्र साभास अज्ञान ही अपने और समस्त आभासात्मक जगत् के अध्यास में कारण है तथा इस अज्ञान को अपने अध्यास में अन्यतम अज्ञान की वैसे अपेक्षा नहीं जैसे कि भेद को घटादि तथा अपने को भिन्न करने में अन्य किसी भेद की आवश्यकता नहीं होती।[2]

(३) अधिष्ठान और आधार में अन्तर तथा शून्यवाद का खंडन

आत्मा तथा अनात्म जगत् का परस्पराध्यास मानने पर अनात्मा में अध्यस्त होने के कारण अनात्म जगत् के अधिष्ठान भूत आत्मा के मिथ्यात्व एवं बाध्यत्व की प्रसक्ति तथा शून्यवाद की आपत्ति होती है—इस प्रकार के कुछ विद्वानों के आक्षेप के परिहारार्थ संक्षेपशारीरककार का कहना है कि 'कार्य सहित अज्ञान के विषयीभूत अर्थात् अज्ञानावृत वस्तु की अधिष्ठानसंज्ञा प्रसिद्ध है, अध्यास के आधारभूत वस्तु की नहीं।'[3] सर्वज्ञात्मन् के प्रस्तुत कथन से यह सिद्ध होता है कि 'अध्यस्त के आधाररूप से भासमान शुक्ति के इदमंश को अधिष्ठान नहीं कहा जा सकता तथा अज्ञानावृत वस्तु में संसृष्टतया अध्यस्त अधिष्ठानांश आधार है।'[4] कहा भी गया है कि—'अतद्रूपोऽपि तद्रूपेणारोप्यबुद्धौस्फुरन्नाधारः।' अधिष्ठान के होने पर अध्यास और अध्यास के होने पर अधिष्ठान होता है अतः अधिष्ठान और अध्यास परस्पराश्रय है। अध्यास तथा अधिष्ठान के परस्पराश्रित होने के कारण आधार कभी अधिष्ठान नहीं बन सकता।[5] इस प्रकार अधिष्ठान और आधार में महान् अन्तर है। शुक्त्यादि विशेष अंश अधिष्ठान है तथा इदमादि सामान्य अंश आधार है। सुबोधिनीकारादि के शब्दों में 'जिस शुक्त्यादि विशेष अंश के अज्ञान से रजतादि की प्रतीति होती है उसे अधिष्ठान कहते हैं तथा जिस इदमादि सामान्य अंश की निष्ठता से मिथ्या रजतादि भासित होते हैं, वह आधार

---

१. सं० शा० १।४०।

२. 'भेदं च भेद्यं च भिनत्तिभेदो यथैवभेदान्तरमन्तरेण।
मोहं च कार्यं च विमर्ति मोहस्तथैव मोहान्तरमन्तरेण॥'
(संक्षेपशारीरक १।५५)

३. 'संसिद्धा सविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानता—
सांऽध्यारेऽध्यस्तस्य वस्तुनि ततोऽस्थाने महान् संभ्रमः॥'
(वही—१।३१)

४. सारसंग्रहः, पृ० ४१।

५. 'न चाभावधिष्ठानं भवितुमर्हति, परस्पराश्रयात्, अधिष्ठाने सत्यध्यासोऽध्यासे सत्यधिष्ठानमिति भावः।' (वही पृ० ४१) तथा सुबोधिनी, पृ० ५२)।

है।' ऐसी स्थिति में इदमादि सामान्य अंश ही बाध्य होगा क्योंकि वह रजत रूप से स्फुरित होता है किन्तु शुक्त्यादि विशेष अंश के बाध्यत्व का प्रसंग नहीं उपस्थित होता, अतः अन्योन्याध्यास मानने पर अध्यस्त जगत् निरधिष्ठान हो जायगा—यह केवल अविवेकियों की हठधर्मिता है।[1] अधिष्ठान और आधार का भेद मानने पर भी अहंकार में चेतन का अध्यास मानना होता। अध्यस्त सदैव बाधित होता है अतः चेतन के बाधित हो जाने से पुनः शून्यवाद की प्राप्ति होगी—यह शंका भी उपस्थित करना उपयुक्त नहीं, क्योंकि यदि अन्योन्याध्यास में परस्पर दो मिथ्या वस्तु ही अध्यसित न होते तो उन दोनों के बाध्य होने के कारण शून्यता-प्रसक्ति हो सकती थी किन्तु यहाँ तो सत्य अर्थात् प्रत्यक् और अनृत्, अर्थात् पराक् का परस्पर अध्यास होता है; त्रिकालाबाध्य प्रत्यक् कभी बाध्य नहीं हो सकता अतः शून्यवाद का प्रसंग कैसे होगा ?[2]

(४) अज्ञानाश्रय-विषयविचार—

सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशारीरक में अन्य आचार्यों के द्वारा अनुमोदित बन्ध-मोक्ष व्यवस्था के साथ मतों का उपन्यास एवं खंडन किया है। इन आचार्यों के द्वारा सम्मत अविद्या का आश्रय एवं विषय क्या है ? यह भी इन उपन्यस्त मतों से विदित हो जाता है। अतः सर्वज्ञात्म-सम्मत अविद्या के आश्रयादि-निरूपण के पूर्व इन मतों का क्रमिक उल्लेख आवश्यक है।

प्रथम मत—व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक समस्त द्वैत के कारणभूत एक ही अज्ञान का विषय और आश्रय क्रमशः बिम्बात्मक ब्रह्म और अनन्त प्रतिबिम्बात्मक जीव है। एक होते हुए भी अज्ञान समस्त प्रतिबिम्बात्मक व्यक्तियों में उसी प्रकार बनी रहती है जैसे अनन्त गो-पिण्डों में गोत्वादि सामान्य।[3]

द्वितीय मत—इस मत को मानने वाले आचार्यों का कहना है कि अज्ञान अनेक अर्थात् प्रति जीव भिन्न-भिन्न है। अज्ञान के समान जीव, ज्ञानी और अज्ञानी भी असंख्य हैं; जिनकी मुक्ति युग-क्रम से होती है। प्रस्तुत मत-प्रवर्तकों के अनुसार जीवाज्ञान में अनुगत होती हुई संसार प्रवर्तिनी माया ईश्वराश्रित रहती है।[4]

तृतीय मत—इस मत के अनुसार जैसे एक ही गगन में पक्षी है भी और नहीं

---

१. 'केषांचिन्महतामनूनतमसां निर्बन्धमात्राश्रयाद्
अन्योन्याध्यसने निरास्पदमिदं शून्यं जगत्स्यादिति।'

(सं० शा० १।३१)

२, वही—१। ३२-३३।

३. संक्षेप शारीरक— २। १३२।

४. वही — २। १३३।

भी है, उसी प्रकार स्वच्छ, चिद्वपु, स्वभावविमल, असंग, शिव, शाश्वत, निर्भेद, उत्पत्तिविनाश-रहित, निरवयव ब्रह्म में अविद्या है और नहीं भी है।[१]

चतुर्थ मत—के अनुयायियों का कहना है कि कारणतारूप से कल्पित अज्ञान यद्यपि शुद्ध ब्रह्म में प्रविष्ट होता है तथापि उसका यह प्रवेश करोड़ों मनोलक्षण उपाधियों को रचकर और उनको द्वार रूप में स्वीकृत करके निरंश ब्रह्म में सम्भव है, निर्द्वार होकर नहीं। उक्त मन सूक्ष्म रूप से सदा चैतन्यनिष्ठ होता हुआ भी अज्ञान का नियामक होता है।[२]

पंचम मत—के अनुसार अज्ञान अनादितया सहज शक्ति के रूप में ब्रह्म में रहता है[३] और यह अज्ञानि अर्थात् अनाद्यज्ञानसम्बद्ध ब्रह्म ही अनेक बुद्धियों में प्रतिविम्बित होता है। बन्ध तथा मोक्ष की व्यवस्था अज्ञान तथा अज्ञान-नाश पर निर्भर रहती है।[४]

षष्ठ मत—के प्रवर्तक आचार्यों का कथन है कि बाह्य तथा आध्यात्मिक वस्तु की जननी माया भगवान् में आश्रित है और अज्ञानी जीवों के प्रति दाशक अर्थात् मछुए के जाल के समान विस्तार को प्राप्त होती है तथा भगवदिच्छा से ज्ञानियों के प्रति संकुचित हो जाती है। चाहे यह सत्य हो अथवा मिथ्या, इसका संकोच और तद्विलक्षण अर्थात् विकास भगवान् में स्वभावसिद्ध है।[५] द्वितीय मत (जसमें प्रतिजीव अज्ञान-भेद माना गया है) से प्रस्तुत मत में साम्य होते हुए भी अन्तर है। द्वितीय मत में साधारण प्रपंच को ईश्वर मायाकृत और असाधारण प्रपंच को जीवाविद्याकृत माना जाता है पर इस पक्ष में ईश्वर की माया शक्ति ही बाह्य तथा आध्यात्मिक वस्तुजात की जननी है।[६]

सप्तम मत—इस अन्तिम मत के अनुसार अविद्या ब्रह्मविषया एवम् जीवाश्रया है तथा ज्ञान-कर्म के समुच्चय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[७]

उपर्युक्त मतों के स्वीकार करने से ब्रह्म में कल्पितत्व तथा माया के सत्यत्वादि का प्रसंग होता है अतः सर्वज्ञात्ममुनि ने इन समस्त मतों का विस्तारपूर्वक खंडन किया है[८]

---

१. संक्षेप शारीरक — २। १३४। २. वही —२।१३५।

३. 'अज्ञानमस्मिन्ननादितया सहजशक्तिरूपमस्तीत्यज्ञानि ब्रह्मचिन्मात्रमिति यावत्।' (अन्वयार्थप्रकाशिका, २।१३६ पृ० ५३१)।

४. संक्षेपशारीरक—२।१३६।

५. वही —२।१३७।

६. अन्वयार्थ प्रकाशिका, द्वितीयो भागः, पृ० ५३२।

७. संक्षेपशारीरक २।१३८।

८. वही—२।१३९ तथा आगे।

और इस विषय में अपना मौलिक विचार प्रस्तुत करते हुए उनका कहना है कि 'ईश्वरो मूढ़:' इस अनुभव के अभाव में प्रतिबिम्बात्मक ईश्वर को अज्ञान का आश्रय नहीं माना जा सकता। यदि ईश्वर को अज्ञान का आश्रय माना भी जाय तो श्रुति-स्मृति-सिद्ध तथा लोक-प्रसिद्ध ईश्वर के सर्वज्ञत्व का विरोध होगा। जड़त्वरूप से प्रसिद्ध जगत् ज्ञान या अज्ञान किसी का आश्रय हो ही नहीं सकता और सुषुप्तिकाल में समस्त कार्यात्मक उपाधियों के विलीन हो जाने से अपरोक्ष या परोक्ष किसी भी रूप में जीवत्व का स्फुरण नहीं होता अतः जीवाख्य प्रतिबिम्ब को भी अज्ञान या ज्ञान का आश्रय नहीं माना जा सकता।[1] ईश्वर, जगत् तथा जीव तीनों के अज्ञानाश्रयत्व के अनुपपन्न होने पर चितितत्त्व के अज्ञानाश्रयत्त्व की सिद्धि होती है। पर चैतन्य भी अपने चैतन्य अथवा प्रत्यग्रूप से अज्ञान का आश्रय है, अद्वयानन्द रूप या ब्रह्मस्वरूप से नहीं क्योंकि अज्ञान अद्वैतवस्तु विषयाश्रय है---ऐसी प्रतीति नहीं होती।[2] अज्ञान को प्रत्यगाश्रित मान लेने पर अद्वयानन्द ब्रह्मस्वरूप से मूढ़ता आदि की प्रशक्ति भी नहीं होती। यद्यपि कहीं-कहीं[3] निर्विभाग, अद्वितीय चैतन्य को अज्ञान का आश्रय तथा विषय कह दिया गया है तथापि ऐसे स्थलों में सर्वज्ञात्मन् का आशय केवल यह प्रतिपादित करने में है कि बुद्धयादि संघातवेष्टितचैतन्य या बुद्ध्यादिगत प्रतिबिम्ब अथवा बुद्ध्यादिगत आभास मात्र-जीव-अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता न कि यह प्रतिपादित करने में है कि अद्वय ब्रह्म अविद्या का आश्रय है।[4] उनका स्पष्ट कथन है कि

---

१. पंचप्रक्रिया—'नापीश्वरस्य प्रतिबिम्बस्य ज्ञानाज्ञानाश्रयत्वम्, ईश्वरो मूढ इत्याद्यनुभवाभावात्। ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वश्रुतिस्मृतिलोक प्रसिद्धिविरोधाच्च। नापि जगतो ज्ञानाज्ञानाश्रयत्वम्, जड़त्वप्रसिद्धेर्नापि जीवाख्य प्रतिबिम्बस्य ज्ञानाज्ञानाश्रयत्वम्, सुषुप्तिकाले सर्वोपाधिप्रलये जीवत्वं शक्तिमदविद्यायामवस्थितमिति पुनरुत्थानलिंगेनानुमेयमेव भवति, न तपरोक्षतया परोक्षतयावा सुषुप्तिकाले जीवत्वस्य 'स्फुरणमस्ति' (विचार ५ पृष्ठ ५३-५४)

२. 'चैतन्यवस्तुविषयाश्रय एवमोहो नाद्वैतवस्तुविषयाश्रयकोऽप्रतीतेः।' (सं० शा०, ३।१३) तथा 'ब्रह्मणश्च प्रत्यग्रूपेणैव ज्ञानाज्ञानाश्रयत्वमुच्यते। अहमेतावन्तं कालं नाज्ञाषिसपमात्मानम्; इदानीमाचार्य प्रसादात्। इदानीं जानामीति। ज्ञानाज्ञानयोः प्रत्यगात्माश्रयत्वानुभवात् नाद्वयानन्दस्वरूपेण ब्रह्मणोऽज्ञानाज्ञानाश्रयत्वम्, अद्वयानस्वरूपं ब्रह्म मूढमित्याद्यबुभवाभावात्।' (पंच प्रक्रिया), पृ० ५३

३. 'सं० शा०—तैं आश्रयत्व विषयत्व भागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।' (१।३१९) तथा 'कूटस्थे नतमस्विता न घटते नो विक्रिया तत्र नः।' (३।७)

४. 'बुद्ध्यादिवेष्टितचितो न तमस्वितेति ब्रह्माश्रयत्वमुदितं तमसः परस्तात्। (वही—३।१३)

तम का ब्रह्माश्रित होना न तो अनुभवगम्य है और न आगम-समर्थित है। किसी अन्य प्रमाण से भी तम का ब्रह्माश्रयत्व तथा ब्रह्मविषयत्व नहीं सिद्ध होता, इसलिए अज्ञान 'प्रत्यक् प्रकाशविषयाश्रय' है।[1] ब्रह्म में आज्ञानाभाव सिद्ध होता है अतः वलात् जीव की आज्ञानाश्रयता पुनः प्राप्त होती है—यह कथन, उपयुक्त नहीं; क्योंकि युक्ति निपुण आचार्य जीवत्व को अज्ञान की आश्रयकोटि में प्रविष्ट नहीं करना चाहते। जीव अज्ञान-मय है और अज्ञान कथमपि अज्ञान का आश्रय नही बन सकता, अतः अज्ञान को चैतन्य-वस्तु विषयाश्रयक मानने में किंचित् विरोध नहीं।[2] 'कस्येयमविद्या ? यस्त्वं पृच्छसि' इस शांकर भाष्य द्वारा जीव को अविद्या का आश्रय बताया गया है फिर भाष्यकार प्रमाणित जीवाश्रित आज्ञानवाद के विरुद्ध संक्षेपशारीरकसम्मत प्रत्यक्चैतन्याश्रित अज्ञान-वाद कैसे माना जाय ? यह प्रश्न समीचीन नहीं, क्योंकि स्वाश्रय एवं स्वविषयभूत अज्ञान से ब्रह्म जीव होता है। इस जीव का प्राक् अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में अस्पष्ट अज्ञान जाग्रदादि अवस्था में अन्तःकरण के अध्यास हो जाने पर अन्तःकरण निपतित चिदाभास के योग से 'अहमज्ञः' रूप में स्पष्ट हो जाता है तथा अज्ञान जैसे बुद्धि प्रति-फलित चैतन्याभाससम्बद्ध हो स्फुरित होता है वैसा चिन्मात्रनिष्ठ होकर नहीं। इसी लिए भाष्यकार ने जीव के अज्ञानित्व का अभिधान किया है,[3] प्रत्यक्चैतन्याश्रित अज्ञान-वाद के निराकरण के अभिप्राय से नहीं, क्योंकि पश्चाद्भाविजीव पूर्व सिद्ध अज्ञान का न तो आश्रय हो सकता है और न विषय।[4] यद्यपि अज्ञान चैतन्याश्रित है तथापि इस अज्ञान को जीव ही स्वगतरूप से अभिव्यक्त करता है क्योंकि अनेक व्यंजकों का यही स्वभाव है। उदाहरणार्थ शावलेयादिक गोपिण्ड सर्वगत भी गोत्व को 'शावलेयो गौः, बाहुलेयो गौः, मुंडो गौः' रीति से स्वगतत्वेन व्यंजित करते हैं। इसी प्रकार ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत आदि ध्वनि भेद करणाभिव्यक्ति के द्वारा शब्द को व्यंजित करते हुए भी

---

१. 'ब्रह्माश्रयं न हि तमोऽनुभवेन लभ्यं, नाप्यागमान्न न च किमप्यपरं प्रमाणम्'।
ब्रह्माश्रयत्वविषयं तमसस्ततश्च प्रत्यक् प्रकाश विषयाश्रयमेतदस्तु ॥' (वही ३।१४);
२।२११-१२ तथा १।२०-२१।

२. 'जीवत्वमेव तु तदाश्रयमध्यपाति नेच्छन्ति युक्ति कुशला नहि युज्यते तत् ॥
अज्ञानमेव न खलु तमसस्तमस्ति चैतन्यवस्तु पुनरस्तु न तद्विरोधः ॥ (वही-३।१५)

३. 'अज्ञानि ब्रह्म जीवो भवति भवति च स्पष्टमज्ञानमस्य
प्रागस्पष्टं सदन्तः करणनिपतितज्योतिराभासयोगात्।
चैतन्यैक प्रतिष्ठं स्फुरति न हि तमस्तादृशं यादृशं तद्
बुद्धिस्थानानुनिष्ठं स्फुरति तदुचितं जीवमोह्यानिधानम् ॥ (वही-२।१६४)

४. पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाऽश्रयो भवति नाऽपि गोचरः ॥ (वही-१।३१९)

स्वगतरूप से ही अभिव्यंजित करते हैं—यथा, 'ह्रस्वोऽकारो दीर्घोऽकारः, इत्यादि । मुख के अभिव्यंजक मणि, कृपाण तथा दर्पणादि भी स्वगत रूप मे ही मुख की अभिव्यक्ति करते हैं । कहने की अभिसंधि यह है कि अभिव्यंजक अभिव्यंग्य को स्वगतत्वेन अभिव्यंजित करते हैं अतः प्रत्यगात्माश्रित अज्ञान के अभिव्यंजक अन्तःकरण या अन्तःकरणोपाधिक जीव की अज्ञानाश्रयता न होने पर भी अभिव्यंग्य या अज्ञान का अहं न जानामीदम्' इस प्रकार से तद्गतत्वेन स्फुरण हो ही सकता है । सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण या अन्तःकरणोपाधिक जीव के अभाव होने पर प्रत्यगात्माश्रितत्वेन अज्ञान की प्रतीति होने पर भी स्फुटतर रूप से अज्ञान की प्रतीति नहीं होती और जाग्रत्कालादि में अन्तःकरणादि के होने पर स्फुटतर प्रतीति होती है । इसलिए भी अन्तःकरण या तदुपाधिक जीव की अज्ञानाभिव्यंजकता सिद्ध होती है । सुरेश्वराचार्य के निम्न वार्तिक से भी अन्तःकरणादि की अज्ञानाभिव्यंजकता निरूपित है—

'बाह्यां वृत्तिमनुत्पाद्यव्यक्तिः स्यान्नाहमो यथा ॥
नर्तेऽन्तः करणं तद्वद् ध्वान्तस्य व्यक्तिरांजसी ॥'[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अविद्या प्रत्यक्चैतन्याश्रित है तथा जीव से अभिव्यंग्य होने के कारण उसके जीवाश्रयत्व का अभिधान कर दिया जाता है । प्रत्यक् चैतन्यरूप से ही ब्रह्म को अविद्या का आश्रय और विषय मानना (अद्वयानन्द रूप से से नही) तथा जीव के अज्ञानित्व का समर्थन करते हुए से गीता भाष्य के साथ प्रत्यक्चैतन्याश्रित अज्ञान वाद के विरोध का परिहार अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में सर्वज्ञात्ममुनि की विशिष्ट देन है ।

(५) ब्रह्मसूत्रकार के द्वारा परिणामवाद-ग्रहण के प्रयोजन का स्पष्टीकरण—

भगवान् बादरायण ने 'भोक्त्रापत्तेरविभाग चेत्स्याल्लोकवत् (ब्रा० सू० २।१।१३) सूत्र से परिणामवाद सूचित किया है फिर यह कैसे माना जाय कि सूत्रकार को केवल विवर्तवाद ही अभीष्ट था ? इस प्रश्न को समाहित करते हुए संक्षेपशारीरककार का कथन है कि पहले ही विवर्तवाद के अभिधान से क्रिया-कारक-फलभेद और उपास्योपासकादि भेद के सर्वथा विलोप हो जाने से कर्मोपासनादि न संभव होते और उनके विधि वाक्यों में अप्रामाण्य की प्रसक्ति होती । यह उचित नही क्योंकि उपासना विधि वाक्य इस शास्त्र में विचारणीय है अतः इन विधिवाक्यों का निर्वाह भी इस शास्त्र में होना चाहिए । अधिकार-सिद्धि के द्वारा कर्मविधि वाक्यों का भी उपयोग है । इसलिए उनको प्रवृत्ति-विषय का प्रदर्शन करने के लिए प्रथमतः परिणामवाद का उल्लेख किया

---

१. पंचप्रक्रिया, पृ० ६६-६६; संक्षेपशारीरक-२। २०६ तथा ३।१५ ।

गया है।[1] परिणामवाद का यदि प्रथमतः उल्लेख है तो उसे ही क्यों न अद्वैतवेदान्त प्रतिपादक ब्रह्मसूत्र का मुख्य सिद्धान्त मान लिया जाय? यह शंका भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि नीचे की भूमिका पर चढ़कर ऊपर की भूमिका पर चढ़ा जा सकता है, इसलिए यह शास्त्र (वेदान्तसूत्र) पहले परिणामवाद के प्रतिपादन द्वारा कार्य कारणभाव को कह कर पुनः 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः '(ब्र० सू० २।१।१४) सूत्र से विकार जगत् के मिथ्यात्व का आवेदन करने के लिए उस (परिणामवाद) का निराकरण करता है।[2] वेदान्तवाद में परिणामवाद विवर्तवाद पूर्वभूमि है अतः परिणामवाद के व्यवस्थित होने पर विवर्तवाद अनायास सिद्ध हो जाता है। जैसे जनता उपेय की प्राप्ति के लिए प्रथमतः उपाय का अनुष्ठान करती है, वैसे ही प्रत्यक् तत्त्व-प्रवेशिनी श्रुति और मुनीन्द्र (बादरायण) के द्वारा विवर्तवाद की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम परिणामवाद का उपन्यास किया गया है।[3] सर्वप्रथम परिणामवाद सूत्रित करने का यही प्रयोजन है, तदतिरिक्त प्रयोजन की कल्पना उपयुक्त नहीं।

(६) दृष्टि त्रय-निरूपण

आपाततः शिष्य को शुद्धाद्वैत बोध संभव नहीं—यह प्रदर्शित करने के लिए संक्षेप शारीरककार ने (१) आरोपदृष्टि, (२) अपवादक दृष्टि, (३) व्यामिश्र दृष्टि के भेद से त्रिविध दृष्टियों का निरूपण किया है।[4] 'ब्रह्माभिन्नं जगत्'—यह प्रतीति आरोपदृष्टि है। 'निष्प्रपंचं ब्रह्म'—यह प्रतीति अपवाद दृष्टि है तथा 'स्वतो निष्प्रपंचं मायया सप्रपंचम्'—प्रतीति व्यामिश्र दृष्टि है।[5] इन्हें क्रमशः परिणाम, द्वैतोपशान्तिकरी (पारमार्थिकी) तथा विवर्तविषया दृष्टि भी कहा जाता है। शुद्ध ब्रह्मावगति की दृष्टि से इनका क्रम इस प्रकार होगा—(१) आरोपदृष्टि (परिणाम दृष्टि) (२) व्यामिश्र दृष्टि (विवर्तदृष्टि) तथा (३) अपवाद दृष्टि।[6] परिणाम दृष्टि

---

१. तत्रापि पूर्वमुपगम्य विकारवादं सोऽत्रादि सूत्रमवतार्य विरोधनुत्त्यै।
   प्रावर्तत व्यवहृतेः परिरक्षणाय कर्मादि गोचरविधावुपयोगहेतोः ॥'
   (सं० शा० २। ५८)

२. वही-२।६०

३. वही-२। ६१-६२।

४. 'आरोपदृष्टिरपवादकदृष्टिरेव'
   व्यामिश्रदृष्टिरिति दृष्टिविभागमेनम् ॥
   संगृह्य सूत्रहृदयं पुरुषं मुमुक्षुम्
   सम्यक् प्रबोधयितुमुत्सहते क्रमेण।' (सं० शा० २।८१)

५. सुबोधिनी, द्वितीयो भागः, पृ० ४६२।

६. सं० शा० २।८२।

प्रत्यक्षादि प्रमाण की तत्त्वावेदकत्व दृष्टि से युक्त होने के कारण आरोप दृष्टि है तथा आरोपित होने के कारण अधम एवं अनर्थकी हेतु है। विशुद्ध ब्रह्म की अवगति के प्रति दूरस्थ होने के कारण इसे प्रथमा दृष्टि कहा गया है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों में तत्त्वावेदकत्व की अपवादिका व्यामिश्रया विवर्त दृष्टि मध्यम है क्योंकि आरोपित न होने पर भी यह ब्रह्म-विषयणी नहीं। तत्त्वप्रच्युतिरूप विभ्रम की क्षतिकारिणी अपवाद दृष्टि अन्त्य है तथा प्रथम एवं मध्यम की अपेक्षा उत्तम है क्योंकि यह विशुद्ध ब्रह्म में परिनिष्ठित होती है। इन दृष्टियों में व्यामिश्र (विवर्त) या मध्यम दृष्टि भी दो प्रकार की होती है। यथा (१) जीव अनेक हैं, वे क्रमशः मुक्त होंगे तथा संसार अनादि और अनन्त है और (२) मैं एक ही जीव हूँ, अनेक जीवाभास मुझ में स्वप्नवत् कल्पित हैं, मेरे अबोध से जगत् प्रतिभासित होता है और मेरे बोध से निशेषतः निवृत्त होगा। इन विवेचित तीनों दृष्टियों में पूर्व-पूर्व दृष्टि का विलय होने पर उत्तर-उत्तर दृष्टि का लाभ होता है।[1] विलय क्रमनिर्दिष्ट करते हुए संक्षेपशारीरककार ने कहा है कि अधिकारी पुरुष कूटस्थ चेतन का परिणाम (अन्यथाभाव) असंभावित जानकर सर्व-प्रथम परिणाम दृष्टि का उपमर्दन कर विवर्त दृष्टि को स्थिर करता है। इसके पश्चात् तत्त्वम्पदार्थनिश्चय हो जाने पर विवर्तदृष्टि का भी परित्याग कर देता है और परिपूर्ण दृष्टि अर्थात् निष्प्रपंच—प्रत्यग्ब्रह्माभेददृष्टि प्राप्त कर लेता है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) के 'अथ' शब्द से सूचित मुमुक्षु पुरुष इन दृष्टिभेदों को कथित क्रम से प्राप्त करता है और तत्पश्चात् द्वैतबुद्धि—विगलित हो निज स्वरूपावस्थित हो जाता है। दृष्टियों की प्राप्ति दशा में होने वाला मुमुक्षु का अवगत क्रम इस प्रकार है—(यह जगत् ब्रह्म का) परिणाम है।—ऐसा (सर्वप्रथम समझता है), पश्चात् (यह जगत् ब्रह्म का) विवर्त है—ऐसा (निश्चय होता है); तदनन्तर अनेक मुमुक्षु (जीव) होते हैं—यह (ज्ञान होता है), उसके अनन्तर मैं ही एक मुमुक्षु हूँ—ऐसा बोध होता है; इसके बाद मैं 'परम पद परिपुष्कल अर्थात् परिपूर्ण' हूँ—यह बोध होता है और इस बोध के साथ ही वह स्वरूपावस्थित हो जाता है।[2] विवर्तदृष्टि परिणाम की अपेक्षा अपवाद है और अद्वयबुद्धि की अपेक्षा आरोपरूप है। स्पष्ट शब्दों में विवर्तवाद से परिणाम का निषेध होने पर व्यावहारिकत्व सुरक्षित रखने के कारण पारमार्थिक रूप अद्वय दृष्टि की अपेक्षा विवर्तदृष्टि आरोप है। आरोप तथा अपवाद दोनों रूपों में

---

१. 'तत्त्वावेदकमानदृष्टिरधमा तत्त्वक्षतिर्मध्यमा।
तत्त्वप्रच्युतिविभ्रमक्षयकरी तत्रान्त्यदृष्टिर्मता॥
जीवैस्तत्त्व मुमुक्षुभेदगतितो व्यामिश्रदृष्टिर्द्विधा।
भिन्ना तत्र च पूर्वपूर्वविलयादूर्ध्वोर्ध्वलब्धिर्भवेत्॥' (सं० शा० २।८३)

२. वही—३।८४-८६।

होने के कारण विवर्तदृष्टि को व्यामिश्र या मध्यम दृष्टि कहा जाता है।[1]

(७) ईश्वर-जीव का स्वरूप तथा आभास-प्रतिबिम्ब-समन्वय

यद्यपि निगम शिखा निष्णात आचार्यों की[2] निश्चित धारणा है कि संक्षेप-शारीरककार ने अविद्या प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर तथा अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव माना है और संक्षेपशारीरक के श्लोक द्वय[3] से इसकी पुष्टि भी की जा सकती है, तथापि यह धारणा सर्वज्ञात्ममुनि के आभास-प्रतिबिम्ब-समन्वयात्मक अद्वय शासन सम्मत ईश्वर एवं जीव के स्वरूप की पूर्णतः परिचायिका नहीं कही जा सकती। यदि ईश्वर तथा जीव का कथित स्वरूप माना जाय तो ईश्वर के वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ घटक पदार्थ होंगे—(१) अविद्या, (२) चित्प्रतिबिम्ब तथा (३) चैतन्य और जीव के वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ घटक पदार्थ होंगे—(१) अन्तःकरण (२) चित्प्रतिबिम्ब तथा (३) चैतन्य। परन्तु संक्षेपशारीरक के 'उपाधिमौपाधिकमानतरं चिदाभासनं चित्प्रतिबिम्बकं च। चिद्बिम्बमेव चतुरः पदार्थान् ……'(३।२७५) इस श्लोकांश से नितरां स्पष्ट है कि सर्वज्ञात्मन् के अनुसार तत्त्वम्पदवाच्य ईश्वर तथा जीव के वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के अन्तर्गत केवल तीन नहीं, अपितु निम्न चार पदार्थ हैं—

(१) उपाधि,
(२) औपाधिक (चिदाभास)
(३) चित्प्रतिबिम्ब और
(४) चिद्बिम्ब।

'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' श्रुति के अनुरोध से ईश्वरोपाधि अज्ञान है और जीवोपाधि अन्तः करण है। शुद्ध चित् बिम्ब है। उपाधि की सन्निधि के कारण चैतन्य में जो उपाधिस्थत्व नाम धर्म उत्पन्न-सा होता है, उसे चिदाभास कहते हैं।[4] उपाधि जन्य तथा उपाध्यन्तः प्रविष्ट होने के कारण चिदाभास को

---

१. सं० शा० ३।८७-८८।

२. मधुसूदन सरस्वती: सिद्धान्त बिन्दुः, पृ० २८ (गै० ओ० सी०) अप्पय दीक्षित: सिद्धान्तलेश संग्रहः, प्रथम परिच्छेद, पृ० ८५। ब्रह्मानन्द : लघुचन्द्रिका (अद्वैत-सिद्धिव्याख्या) पृ० ४८३ पं० १४-१५। शंकरानन्द: षट्पदीस्तवव्याख्या, पृ० २८, (डायमंड जुबली कमेमोरेशन वाल्यूम, भाग—१); तथा महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर-सिद्धान्तबिन्दु उपोद्घात, पृ० ८।

३. सं० शा०, ३।१४८ तथा २।१०७।

४. चैतन्यस्योपाधि संनिधिवशादुपाधिस्थत्वन्नाम धर्मो जायते स एव चिदाभासो नाम। (तत्त्वबोधिनी, ३।२३५)

औपाधिक तथा आन्तर कहा गया है।[1] इस औपाधिक तथा आन्तर चिदाभास से अन्वित चैतन्य चित्प्रतिबिम्ब है। चिदाभास तथा चित्प्रतिबिम्ब के स्वरूप पर्यालोचन से यह ज्ञात होता है कि चित्संनिधि के कारण उपाधि धर्मतया चैतन्यजात पदार्थ चिदाभास है और इस उपाधि से अविविक्ततया प्रतीयमान चैतन्य चित्प्रतिबिम्ब है।

ईश्वर का स्वरूप

अनादि सिद्ध अज्ञान रूप उपाधि में चित्संनिधि के कारण उपाधि धर्मतया उत्पन्न चिदाभास ईश्वरत्व का प्रयोजक है। दूसरे शब्दों में 'ईश्वर' शब्द की प्रवृत्ति का द्वार है। इस अज्ञानोपाध्यन्तः प्रविष्ट चिदाभास से अन्वित अर्थात् आभासाविविक्त रूप से अज्ञानोपाध्यनुगत चैतन्य चित्प्रतिबिम्ब है और यह चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर पद वाच्य है। आभासादि सम्बन्धरहित शुद्ध चैतन्य बिम्ब है, जिसे ईश्वर पद का लक्ष्यार्थ कहा गया है।[2] स्पष्ट शब्दों में अज्ञानगत आभासाविविक्त चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर है। वेदान्त की पारिभाषिक शब्दावली में संक्षेपशारीरक कार सम्मत ईश्वर का स्वरूप इस प्रकार होगा—

'स्वाभासविशिष्टाऽज्ञानोपहिता प्रतिबिम्बाऽविविक्ता चित् ईश्वरः।'

जीव का स्वरूप

अन्तःकरण रूप उपाधि में चैतन्य सन्निधि के कारण अन्तःकरण स्वरूप से उत्पन्न चिदाभास जीवत्व व्यवहार का प्रयोजक है। दूसरे शब्दों में जीवत्व की प्रवृत्ति का निमित्त है। इस अन्तःकरणोपाध्यन्तः प्रविष्ट चिदाभास से अन्वित अर्थात् चिदाभासाविविक्ततया अन्तःकरणपाध्यनुगत चित्प्रतिबिम्ब जीव पदवाच्य है। अज्ञान और आभास दोनों से अनन्वित शुद्ध चैतन्य बिम्ब है। इस बिम्ब को जीव का लक्ष्यार्थ कहा जाता है।[3] कहने की अभिसंधि यह है कि अन्तःकरणगत स्वाभासाविविक्त चित्प्रतिबिम्ब जीव है। वेदान्त की पारिभाषिक शब्दावली में जीव का स्वरूप इस प्रकार कहा जायगा—

'स्वाभास विशिष्टान्तः करणोपहिता प्रतिबिम्बऽविविक्ता चित् जीवः।'

---

१. संक्षेपशारीरक, ३।२७५।

२. उपाधिरज्ञानमनादि सिद्धमस्मिंश्चिदाभासनमीश्वरत्वम् ॥
तदन्विता चित्प्रतिबिम्बकं स्यादुदीर्यते शुद्धचिदेव बिम्बम् ॥ (वही ३।२७७)

३. उपाधिरन्तः करणं त्वमर्थे जीवत्वमाभासनमत्र तद्वत् ॥
तदन्विता चित्प्रतिबिम्बमेवमनन्विता तामिहबिम्बमाहुः ॥ (सं० शा० ३।२७८)

ईश्वर जीवत्वान्वित उक्त पदार्थ चतुष्टय का तथा ईश्वर जीव के वाच्यार्थ में चिदाभास और चित्प्रतिबिम्ब दोनों का व्यवस्थापन संक्षेपशारीरककार के बुद्धि की उत्प्रेक्षा नहीं, प्रत्युत लोकसिद्ध है। जैसे लोक में सजल शराब उपाधि है, प्रतिबिम्ब में प्रतीयमान सजल घटकतत्व आभास है तदन्वयी पातग दिवाकर प्रतिबिम्ब है और उपाधि रूप अप्पात्र तथा उपाधि धर्मगत चिदाभास दोनों से अनन्वित आकाश में अवतिष्ठमान दिवाकर बिम्ब है[1] उसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में अज्ञान या अन्तःकरण उपाधि है, अज्ञानस्थत्व या अन्तःकरणस्थत्व चिदाभास है, अज्ञानस्थत्व या अन्तःकरणस्थत्व से अन्वित अज्ञानस्थ या अन्तःकरणस्थ चित् प्रतिबिम्ब है। तथा उपाधिभूत अन्तःकरण या अज्ञान और अज्ञानस्थत्व या अन्तःकरणस्थत्व इन दोनों से अनन्वित शुद्ध चित् परब्रह्म बिम्ब है।[2]

उपर्युक्त ईश्वर-जीव-स्वरूप के पर्यालोचन से नितान्त स्पष्ट है कि सर्वज्ञात्म-मुनि ईश्वर एवम् जीव की स्वरूप सिद्धि के लिए आभास तथा प्रतिबिम्ब दोनों की अपेक्षा स्वीकार करते हैं। चिदाभास की आवश्यकता ईश्वरत्व तथा जीवत्व धर्म की सिद्धि के लिए है और चित्प्रतिबिम्ब की आवश्यकता ईश्वर तथा जीव की स्वरूप निष्पत्ति के लिए है। आभास वह द्वार है जिसके द्वारा ईश्वर तथा जीव पदों की प्रवृत्ति निमित्तता उत्पन्न होती है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अज्ञान चिदाभास तथा बिम्बभूत ब्रह्म के द्वारा ईश्वर और जीव का स्वरूप निष्पन्न हो सकता है फिर चित्प्रति-बिम्ब को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में जानने की आवश्यकता क्या है? इस प्रश्न का समाधान किया हो सकता है—(१) चित् प्रतिबिम्ब के अभाव में चिदाभास अज्ञान या अन्तःकरणनिष्ठ हो ईश्वरत्व या जीवत्व की प्रवृत्ति का प्रयोजक हो सकता है पर ईश्वर एवम् जीव की व्यवहारालम्बनता असिद्ध रहेगी। (२) यदि अज्ञान तथा अन्तः-करणगत चिदाभास मात्र को ईश्वर और जीव माना जायगा तो ईश्वरादि के वाच्यार्थ का सर्वोपहार होगा, जो संक्षेपशारीरककाराभिमत नहीं। पुनः प्रश्न होता है कि पद्मपादाचार्य के समान अज्ञान तथा अन्तःकरणगत प्रतिबिम्ब को क्यों न ईश्वर और जीव मान लिया जाय? इसका समाधान यह है कि यदि ईश्वरादि का यह प्रतिबिम्बा-त्मक स्वरूप माना गया तो प्रतिबिम्ब-पद-वाच्य ईश्वर तथा जीव दोनों बिम्ब के समान सर्वथा सत्य होंगे जब कि द्वैत व्यवहारालम्बन ईश्वर और जीव द्वैतत्वेन मिथ्या है।

---

१. 'अज्ञानमज्ञानगतत्वमेव समानतोऽज्ञानगताद्बहिश्च ॥
चिदात्मनो विभ्रमनिष्ठमानो न स्यवनेऽनिर्भुविदुपरेणा :। (सं०-शा० ३।२८०)

२. शुद्धं पुनस्तद्वयमथो पुनश्च शुद्धं बहिः शुद्धमवस्थितं च।
यथा परं ब्रह्म शुद्धमयोगि चित्तं निराशनं मात्रमेव ॥ (सं० शा० ३।२८१)

(८) वाक्यार्थ बोध में लक्षणा की उपयोगिता तथा जहदजहल्लक्षणा—

परिपूर्ण-चिद्-रस-जीवात्मा सदा स्वमहिमप्रतिष्ठ है किन्तु इसकी स्वमहिमप्रतिष्ठता अर्थात् केवलता तब तक नहीं प्रतीत होती जब तक 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्योत्थ ज्ञान के द्वारा उसका स्वरूपावस्थान रूप कैवल्य अधिगत नहीं होता।[1] षष्ठीजाति गुण-क्रिया-विरहित, सर्वप्रत्यक्तम, अपरोक्ष, परिवर्जिताखिलद्वैतप्रपंच, व्यवहारशून्य, चैतन्यस्वरूप ब्रह्म में अज्ञानविनिर्मित उक्त महावाक्यों के 'तत्' 'त्वम्' पदों की मुख्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती,[2] 'तत्त्वमस्यादि' वाक्यजन्य ज्ञान कैसे ब्रह्म के स्वरूप का बोधक होगा ? इस प्रश्न के लिए सभी अद्वैतवेदान्तियों ने महावाक्य से अखण्डार्थबोध की सिद्धि के लिए 'तत्त्वमस्यादि' आदि वाक्यों के घटक 'तत्' 'त्वम्' पदों में लाक्षणिक वृत्ति मानी है। लाक्षणिक वृत्ति तीन प्रकार की हो सकती है—(१) जहल्लक्षणा (२) अजहल्लक्षणा तथा (३) जहदजहल्लक्षणा[3]। पहली स्ववाच्यार्थ को सर्वथा त्याग करके वाच्यार्थान्तर में प्रवृत्त होती है जैसे गंगायां घोषः' में। जो अपने वाच्यार्थ का त्याग किये बिना ही अर्थान्तर-संक्रमित होती है वह दूसरी अजहल्लक्षणारूप लाक्षणिक वृत्ति है यथा 'शोणो वह्निः स्थितः' में। जो अपने वाच्यार्थ के एक अंश का त्याग करती है पर दूसरे अंश का नहीं, वहां अन्तिम अर्थात् जहदजहल्लक्षणा होती है। इस लक्षणा का उदाहरण 'सोऽयं पुमान्' वाक्य हो सकता है। इस लक्षणा में भाग का त्याग तथा भागान्तर का ग्रहण होता है, इसलिए इसे 'भागत्याग लक्षणा भी' कहते हैं।[4] लोक के समान वेद अर्थात् वैदिक वाक्यों में भी त्रिविध लक्षणा होती है जैसे 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं याति।' (श० ब्रा० १२।५।२।८) वाक्य में जहल्लक्षणा 'वैश्वानरमुपास्ते' (छा० उ० ५।१८। २) आदि वाक्यों में अजहल्लक्षणा तथा 'तत्त्वमसि' (६।८।७) के 'तत्' 'त्वम्' दोनों पदों में जहदजहल्लक्षणा होती है।[5]

सर्वज्ञात्मन् का मुख्यपक्ष 'जहदजहल्लक्षणा' है। उन्होंने स्थान-स्थान पर कहा है कि 'तत्त्वमसि' महावाक्यघटक 'तत्' 'त्वम्' दोनों पद जहदजहल्लक्षणा

---

१. 'परिपूर्णचिद्रस घनः सततं स्वमहिम्नि तिष्ठसि निरस्तमले।
न तथापि तत्त्वमिति वाक्यकृतां मतिमन्तरेण तव केवलता॥' (सं० शा० ३।४०)

२. संक्षेपशारीरक—१।२३६।

३. वही—१।१५४।

४. वही—१।१५५-५६।

५. वही—१।१५७।

द्वारा अखंडार्थ बोध कराते हैं।[1] तत्सम्मत ईश्वर तथा जीव का स्वरूप निरूपित करते समय यह उल्लिखित किया गया है कि अज्ञानगत स्वाभासाविविक्त चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर है तथा अन्तःकरणगत स्वाभासाविविक्त चित्प्रतिबिम्ब जीव है। ईश्वर तथा जीव का वाच्यार्थ भी यही है। स्पष्ट शब्दों में 'तत्' 'त्वम्' पदों का वाच्यार्थ अज्ञान-अन्तःकरणरूप उपाधि तथा औपाधिक चिदाभास से अविविक्त चित्प्रतिबिम्ब है। जहल्लक्षणा की प्रवृत्ति यहां होगी नहीं क्योंकि चित्प्रतिबिम्ब का बिम्बात्मना ऐक्य विवक्षित है। अजहल्लक्षणा की भी नहीं होगी क्योंकि उपाधि तथा औपाधिक के त्यक्त होने पर ही प्रतिबिम्ब की बिम्बभावापत्ति सम्भव है। पारिशेष्यात् जहदजहल्लक्षणा की प्राप्ति होती है। अद्वितीय, असंग, प्रकाश चिदात्मा में वस्तुतः अज्ञान नहीं रह सकता, अतः यह और इसका कार्यभूत अन्तःकरण मिथ्या है। औपाधिक चिदाभास जिसे ईश्वरत्व तथा जीवत्व का प्रयोजक बताया गया है, वह भी मिथ्या है। चित् ही चिदाभास विशिष्टतया प्रतिबिम्बपदाभिलप्य होती है अतः विशेष्यांश चित्प्रतिबिम्ब में केवल विशेषणांश अर्थात् उपाधि और औपाधिक (आभास) मिथ्या है। 'तत्त्वमसि' वाक्य में जहदजहल्लक्षणा द्वारा विशेषणांश (उपाधि तथा औपाधिक) दोनों का त्याग हो जायगा तथा विशेष्यांश चित्प्रतिबिम्ब का सामानाधिकरण्य बल से स्वलक्ष्यभूत चिन्मात्र से अभेद प्रतिपादित होगा। यही 'तत्त्वमसि' महावाक्य की अखंडार्थबोधकता है। दूसरे शब्दों में जहदजहल्लक्षणा के द्वारा उत्पन्न वाक्योत्थ ज्ञान का यही स्वरूप है।

सर्वज्ञात्मन् का मुख्यपक्ष जहदजहल्लक्षणा है तथापि उनके पूर्व सुरेश्वराचार्य ने 'जहल्लक्षणा' को अपना मुख्य पक्ष बताया है अतः अभ्युपगमवादिता का आश्रय लेकर संक्षेपशारीरककार ने जहल्लक्षणा के पक्ष का समर्थन किया है। उनका कहना है कि जैसे 'एषा नौः रौति'; 'लोहं दति' तथा 'तवाग्रे असौ विषधरो रज्जुः' इत्यादि वाक्यों में 'नौः' 'पद अपने वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़कर नौका स्थित पुरुष का 'लोहम्' पद अग्नि का तथा 'रज्जु' शब्द सर्प का बोध कराता है, उसी प्रकार' अहं 'ब्रह्मास्मि' (बृ० उ० १।४।१०) इस महावाक्य में यदि 'ब्रह्म' शब्द से साभास अज्ञान अभिप्रेत हो तथा 'अहम्' शब्द से साभासान्तःकरण तो जहदजहल्लक्षणा न होकर जहल्लक्षणा होगी क्योंकि इस स्थल पर विशेषण दल-अज्ञान तथा अन्तःकरण और विशेष्यदल तत्तन्निष्ठ आभास

---

1. संक्षेपशारीरक—'तत्त्वङ्क्ति रोगमयरूपतया प्रवृत्तिः।' (१।१५७); १।१६०; १।२२६; ३।२७६; ३।२६१; १।२२८ तथा अद्वैतब्रह्मसिद्धिः, चतुर्थो मुद्गर प्रहारः पृ० २०५।

सभी का त्याग होगा तथा 'तत्-त्वम्' दोनों पदों के अधिष्ठान भूत शुद्ध चैतन्य का बोध होगा।[1]

(८) अविद्यानिवृत्ति

उपर्युक्त महावाक्यनिबन्धनाधी, 'अबोधविच्छेदकरी'[2] तथा 'अपवर्गफला'[3] कही गयी है। ज्ञान स्वोदयकाल में अज्ञान निवर्तक होता है? अथवा उत्तरकाल में? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए संक्षेपशारीरककार का कहना है कि 'जैसे दीपक उत्पन्न होते ही या किसी प्रतिबन्ध के कारण उत्पन्न होकर एक क्षण के व्यवधान मात्र से अन्धकार को नष्ट करता है—इसमें कोई भी वादी विवाद नहीं करता, उसी प्रकार तम की अपहंत्री आत्मावगति के विषय में भी समझना चाहिए।'[4] स्पष्ट शब्दों में ज्ञान स्वोदय काल में ही अज्ञान निवर्तक होता है। इस विषय में सभी श्रुत्यन्तवेत्ताओं का एक मत है। हां, अविद्या निवृत्ति के स्वरूप में अवश्य मतभेद है, जैसा कि गत परिच्छेद में निरूपित किया जा चुका है।[5] संक्षेपशारीरककार इस विषय में अपना कोई मौलिक विचार नहीं प्रस्तुत करते। सर्वप्रथम उन्होंने अविद्या-निवृत्ति के 'पंचम प्रकार' पर अपनी आस्था प्रकट की है।[6] तथा उसे मुक्तिकोविद (इष्टसिद्धिकार) के वचन से समर्थित किया है।[7] इसके पश्चात् केवल इस पक्ष में ही आग्रह न कर

---

१. साभासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथाऽहं
   शब्दोऽहंकारवाची भवति तु जहतो लक्षणा तत्र पक्षे
   नीरेखा रौति लोहं दहति विषधरो रज्जुरग्रे तवासा—
   वित्यत्रेवात्मवस्तुन्यपि भवतु जहल्लक्षणा को विरोधः ॥' (सं० शा० १। १६६), पंचप्रक्रिया, पृ० १३ तथा अद्वैतब्रह्मसिद्धिः चतुर्थो मुद्गर प्रहारः, पृ० २०५।

२. सं० शा० ३।२६४।

३. वही.-३। १४२।

४. वही-४। २४-२५।

५. प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का तृतीय अध्याय, पृष्ठ १५६

६. 'सदसत्सदसद्विकल्पित प्रतिपक्षैकवपुर्निवर्तनम्।
   तमसोऽभ्युपगम्यतेऽन्यथानुपपत्त्या पतनैकहेतुतः ॥
   सदसत्सद्विकल्पित प्रतिबद्धा न भवन्ति वर्णिते ॥
   परमात्मतमोनिवर्तनेऽनुपपत्तिप्रतिभास वृत्तयः ॥
   (सं० शा० ४। १२-१४)

७. 'नितिभेदमभेदमेव वा द्वयरूपत्वमयो मृषात्मताम्।
   परिहृत्य तमोनिवर्तनं प्रथयन्ते खलु मुक्तिकोविदाः ॥
   (वही-४।१४)

विकल्पतः सुरेश्वराचार्य के 'ऐकात्म्यलक्षणा' अविद्या निवृत्ति के पक्ष का भी उपबृंहण किया है।[1]

(१०) मुक्ति की कूटस्थ नित्यता तथा सद्योमुक्तिवादः—

अनुमान से मुक्ति की कूटस्थ नित्यता सिद्ध करते हुए सर्वज्ञात्मन् ने कहा है कि 'विद्या का फल होने के कारण मुक्ति कूटस्थ नित्य है क्योंकि जो भी लोक में विद्या का फल होता है वह कूटस्थ नित्य होता है जैसे शुक्त्यादि पदार्थों का संवित्।'[2] 'यद्विद्याफलं तत्कूटस्थं यथा शुक्त्यज्ञाननिवृत्तिरूपविद्यास्फुरणम्।[3] शुक्त्यादि विषयक संवित् क्या स्वयं अपने जन्म (प्रागभाव) और नाश (ध्वंसाभाव) की साधिका है? अथवा कोई मानान्तर इस संवित् के जन्मादि का साधक है? इन दोनों प्रश्नों की असंगति प्रतिपादित करते हुए सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि शुक्त्यादि वस्तुओं में निविष्ट संवित् जन्मादि-षड्विधविकार-वर्जित है क्योंकि इस संवित् के प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव की अनुभूति स्वतः या किसी प्रमाण से नहीं होती।[4] अन्वय दृष्टान्त से मुक्ति की कूटस्थ नित्यता सिद्ध करने के पश्चात् व्यतिरेक दृष्टान्त से इस प्रकार सिद्ध की गई है— 'मुक्ति किसी हेतु से जन्य नहीं हो सकती क्योंकि यह विद्या का फल है, लोक में जो विद्या का फल नहीं वही जन्य होता है जैसे अध्वरादि।'[5] मोक्ष के कूटस्थ नित्य होने से यह समविगत होता है कि अविद्या निवृत्तिरूप मोक्ष उसी प्रकार निष्फल कर्मक है जैसे रज्ज्वादि विषयक अज्ञान की निवृत्ति में किसी भी प्रकार के कर्म की अपेक्षा नहीं रहती।[6]

संक्षेपशारीरककार ने 'सद्योमुक्तिवाद' का स्थापन किया है। उनका कहना है कि वस्तु रूप बल के आविर्भावात्मक वायु व्यापार से प्रदीप्त सम्यग्ज्ञान रूपी अग्नि सम्पूर्ण अज्ञान और उसके कार्य प्रपंच को निर्लिप्त रहकर तुरन्त भस्मसात् कर देता है तथा संसृति के किसी भी रूपान्तर को शिष्ट नहीं रखता, अतएव ज्ञानी की सद्योमुक्ति

---

१. 'अथवा चितिरेव केवला वचनोत्पादितबुद्धिवर्त्मना ॥
परमात्मतमोनिवृत्तिगीर्विषयत्वं समुपैत्युपाधिना ॥

(वही-४।१५) तथा ४। १६-२३।

२. वही—४।२९।

३. सुबोधिनी (सं० शा० व्याख्या) पृ० ८३२।

४. सं० शा०—४।३०।

५. वही—४।३२।

६. वही—४।३३।

ध्रुव है।[1] आशय यह है कि स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीर अविद्या प्रोद्भूत होने के कारण अविद्याश्रित हैं। तत्त्वज्ञान स्वोदयमात्र से अज्ञान का नाश कर देता है, अज्ञान के नष्ट होने पर कार्यभूत शरीरद्वय का निराश्रित होने के कारण अवस्थान असंभव है अतः सद्योमुक्ति निश्चित है।[2] 'विद्वान् नाम-रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।' (मु० उ० ३।२।७) तथा 'स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकला पुरुषायणः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते यासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः।' (प्र० उ० ६।५) इत्यादि श्रुतियों से ही 'सद्योमुक्तिवाद' का समर्थन किया जा सकता है। प्रश्न यह होता है कि यदि सद्योमुक्ति ध्रुव है तो 'तस्य तावदेव चिरम्' (छा० उ० ६।१४।२) इत्यादि जीवन्मुक्ति प्रतिपादक श्रुतियों की गति क्या होगी? इसका समाधान सर्वज्ञात्मन् के शब्दों में यह है कि 'जीवन्मुक्ति प्रत्यायक शास्त्रजात को कल्पित (गुरु आदि) जीवन्मुक्तों के अर्थवाद के रूप में ग्रहण कर लेना चाहिए क्योंकि इसी में इन शास्त्रों की अर्थवत्ता है। जीवन्मुक्तिशास्त्र की अन्य विषयता से सद्योमुक्ति पक्ष न्याय्य है।'[3]

स्वाभिमत सद्योमुक्ति के उपन्यास के पश्चात् सर्वज्ञात्म मुनि ने 'जीवन्मुक्ति पक्ष' का समर्थन करते हुए कहा है कि विकल्प से 'तस्यतावदेव चिरम्' इत्यादि जीवन्मुक्ति प्रतिपादक शास्त्रों को कल्पित जीवन्मुक्तों में न जोड़कर ज्ञानी के विषय में भी जोड़ा जा सकता है क्योंकि अविद्यालेश ज्ञानी में बना रहता है। इस अविद्यालेश की निवृत्ति बिना किसी निमित्त के होती है। यदि अविद्यालेश की निवृत्ति निर्निमित्त है तो अविद्या की भी निवृत्ति ज्ञान के बिना हो जायगी—यह शंका समाहित रहे एतदर्थ उन्होंने विकल्प से विद्यासंतति को अविद्यालेश की निवृत्ति का हेतु बताया है।[4]

---

१. 'सम्यग्ज्ञानविभावसुः सकलमेवाज्ञानतत्संभवं सद्योवस्तु बलप्रवर्तनमरुद्व्यापार संदीपितः। निर्लिपेन हि दंदहीति न मनागप्यस्य रूपान्तरम्। संसारस्य शिनष्टि तेन विदुषः सद्यो विमुक्तिर्ध्रुवा॥ (वही—४।३८)

२. 'देहद्वयस्याज्ञानविलसितत्त्वात्तत्त्वज्ञानेन च स्वोदयमात्रेणाज्ञानस्य नाशितत्वान्निराश्रयस्य कार्यस्यावस्थानासंभवात्सद्योमुक्तिरेव ध्रुवेत्यर्थः॥

(अन्वयार्थ प्रकाशिका, पृ० ८३८)

३. 'जीवन्मुक्ति-प्रत्ययं शास्त्रजातं जीवमुक्ते कल्पिते योजनीयम्॥
तावन्मात्रेणार्थवत्त्वोपपत्तेः सद्योमुक्तिः सम्यगेतस्य हेतोः॥ (सं० शा० ४।३९)

४. 'यद्वा विद्वद् गोचरं योजनीयं तस्याविद्यालेशवत्त्वोपपत्तेः।
तस्याभीष्टा निर्निमित्ता निवृत्तिः यद्वा विद्यासंततिर्हेतुलेशम्॥ (वही—४।४०)

जीवन्मुक्ति के भिक्षाटनादि व्यापार के प्रापक हेतु की 'अविद्यालेश' या 'अविद्यागन्ध' आदि परिभाषा है। अतः अविद्या लेश को न तो अविद्या कहा जा सकता है और न अविद्या का भाग; क्योंकि ऐसा होने पर विमुक्ति असंभव हो जायगी।'[1] भाष्य-ग्रन्थों के पौर्वापर्य के परामर्श से अवगत होता है कि विद्या के द्वारा बाधित अविद्या का जो प्रतिभास है, उसी का नाम 'अविद्या गन्ध' 'अविद्याच्छाया' 'अविद्यालेश' तथा 'अविद्या गन्ध' आदि है।[2] जीवन्मुक्ति की प्रतीति होती है, अतः जीवन्मुक्ति है। इस अवस्था में द्वैताभास की प्रतीति होती है। द्वैताभास अविद्यालेश के कारण होता है—यह विद्वद् अनुभवसिद्ध तथ्य है।[3] अविद्यालेश रहने पर भी जीवन्मुक्ति की अवस्था से जीवन्मुक्ति के पूर्व की अवस्था में अन्तर है। पूर्व की अवस्था में ब्रह्मात्मत्व सान्तराय रहता है, पर इस अवस्था में ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने के कारण ब्रह्मात्मत्व के अन्तरायभूत ध्वान्त की निवृत्ति हो जाती है तथा केवल अविद्यालेश रूप में मान्य द्वैताभास की ही प्रतीति होती है। अतएव विद्वान् आरब्ध कर्मों की भोग सिद्धि के लिए जीवन्मुक्ति रूप में स्थित रह ध्वान्तगन्ध प्रभूत भोगों को भोगने के पश्चात् 'विदेह कैवल्य' प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि 'सद्योमुक्तिपक्ष' के पश्चात् संक्षेपशारीरक में जीवन्मुक्ति का समर्थन इस प्रकार किया गया है तथापि सद्योमुक्तिपक्ष सर्वज्ञात्मन् का मुख्यपक्ष है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'सर्वज्ञात्मगुरुवः' के मत के रूप में संगृहीत सिद्धान्तलेश संग्रहस्थ सद्योमुक्तिपक्ष[4] सर्वज्ञात्म मुनि का ही है, उनके गुरु सुरेश्वर का नहीं।

---

१. सं० शा० ४।४१।
२. वही—४।४३।
३. वही। ४।४३।
४. सिद्धान्तलेशसंग्रहः, चतुर्थ परिच्छेद पृ० ५.१३-१४ तथा यही शोध प्रबन्ध, अ० ३ पृ० १७१-७२।

□□

पंचम अध्याय

आनन्दगिरि सम्मत आभास-प्रस्थान

व्यक्तित्व—

आनन्दगिरि अद्वैत वेदान्त के लब्ध प्रतिष्ठ टीकाकार हैं। टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होने तर्कसंग्रह प्रभृति मौलिक ग्रंथों की भी रचना की है। शंकर, सुरेश्वर, सर्वज्ञात्मन् तथा आनन्दानुभव जैसे सुविश्रुत श्रुत्यन्तवेत्ताओं के ग्रंथों की टीका के माध्यम से आनन्दगिरि ने सुरेश्वर प्रतिष्ठापित आभास-प्रस्थान का समर्थन किया है। आनन्दगिरि का एक अन्य प्रसिद्ध नाम आनन्दज्ञान है। टी० आर० चिन्तामणि ने सर्वज्ञात्मविरचित पंचप्रक्रिया की भूमिका में आनन्दगिरि तथा तत्वालोककार जनार्दन की अभिन्नता के विषय में संदेह प्रकट किया है।[1] इसके विपरीत टी० एन० त्रिपाठी ने आनन्द शैल[2] तथा तत्त्वावलोककार जनार्दन[3] दोनों को आनन्दगिरि से अभिन्न बताया है। इस मान्यता के अनुसार आनन्दज्ञान, आनन्दशैल, तथा जनार्दन—ये तीनों नाम आनन्दगिरि के ही हैं। आनन्दगिरि को विद्यारण्य का पूर्ववर्ती बताया जाता है।[4]

---

1. Introduction on Pancha—Prakriya, pago X, XI.
2. Introduction on Tarka—Sangrah, pago VI-VII.
3. Ibid pago XI-XII.
4. 'On tho othor hand, Vidyaranya's Vivarna—prameya—samgraha ovidentoy seems to bo written aftor tho Vi—tattva-dipna of Anandgiri's pupil. For, tho uso of tho word 'prameyam' (प्रमेयम्) in the latter work does not refor to Vidyaranya's work but bears the samo senso as tho word 'astheyam' (आस्थेयम्) or sidham (सिद्धम्) very often mot with in tho present work bears, and in other respect too, the Vivarana-prameya—sangraha seems to have drawn from Tattvadipana. This circumstance also strengthens the conclusion that 'Anandagiri flourlshed beforo Vidyaranya (A. D. 1331-1317).(T.N. Tripathi : Introduction on Pancha-prakriya, P.XX)

आनन्दगिरि के द्वारा रचे गये ग्रंथ निम्नलिखित हैं :—

(१) ईशावास्यभाष्यटीका
(२) तवलकारोपनिषदपरपर्याय केनोपनिषत्पदभाष्यटिप्पणम् ।
(३) (केन) वाक्यविवरणव्याख्या
(४) काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्यानम्
(५) मुण्डकोपनिषद्भाष्यव्याख्यानम्
(६) माण्डूक्यगौडपादीयभाष्यव्याख्या
(७) तैत्तिरीयभाष्यटिप्पणम्
(८) प्रश्नोपनिषद्भाष्यटीका
(९) ऐतरेयोपनिषद्भाष्यटीका
(१०) छान्दोग्यभाष्यटीका
(११) बृहदारण्यकभाष्यटीका (न्याय निर्णयः)
(१२) शारीरकभाष्यटीका (न्याय निर्णयः)
(१३) गीताभाष्यव्याख्यानम्
(१४) वाक्यसुधाटीका
(१५) तैत्तिरीयकवार्तिकटीका
(१६) शास्त्रप्रकाशिका (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकटीका)
(१७) पंचीकरणविवरणम्
(१८) पंचप्रक्रियाटीका
(१९) त्रिपुरीविवरणम्
(२०) गोविन्दाष्टकविवरणम्
(२१) तर्कसंग्रहः
(२२) उपदेश साहस्री (टीका) विवृति
(२३) वाक्यवृत्ति (टीका) वाक्यवृत्ति
(२४) (शांकर) आत्मज्ञानोपदेश (विधि) प्रकरण टीका
(२५) (शांकर) स्वरूपनिर्णय टीका
(२६) पदार्थतत्वनिर्णयविवरणम् तथा
(२७) (वेदान्त) तत्त्वालोक ।[1]

उपर्युक्त ग्रंथों में प्रथम से इक्कीस ग्रन्थ प्रकाशित[2] हैं तथा अन्तिम छह ग्रन्थ

---

१. यदि टी० आर० चिन्तामणि का उपर्युक्त कथन माना जाय कि आनन्दगिरि तथा जनार्दन भिन्न हैं तब तत्त्वालोक आनन्दगिरि रचित नहीं हो सकेगा ।

२. द्रष्टव्य : प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के अन्त में दी गयी पुस्तक सूची ।

अप्रकाशित हैं।[१] इन ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रंथ जैसे शंकरविजय आदि भी आनन्दगिरि विरचित बताये जाते हैं, पर इन सबकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। आनन्द-गिरि के ग्रंथों के परिशीलन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि वह आभासवाद के कट्टर समर्थक हैं। सुरेश्वराचार्य सम्मत आभास प्रस्थान के समर्थन में आनन्दगिरि ने उनके मौलिक एवं मुख्य पक्ष का अनुसरण किया है।

आभास-लक्षण:—

आनन्दगिरि ने आभास को बहुधा लक्षित किया है। एक परिभाषा के अनुसार 'अहम्' इत्याकारक अपरोक्ष प्रतीति चैतन्याभास है—अहमित्याकारकप्रत्यक्षप्रतीति रूपेण भासमानत्वमेव चैतन्याभासत्वम्।[१] इस लक्षण का निष्कृष्टार्थ यह है कि अज्ञान तथा तत्कार्यभूत उपाधियों में 'अहम्' 'मम्' आदि की जो अपरोक्ष प्रतीति है, वह आभास है।[२] एक दूसरी परिभाषा के अनुसार 'प्रत्यक् चैतन्य का अवमत भास आभास है।'[३] आभास के इस लक्षण के समधिगम के लिए 'अवमत' पद का स्पष्टीकरण आवश्यक है। शंकरा-चार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रारम्भ में 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' कह कर अध्यास-लक्षण दिया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार अवसन्न अथवा अवमत भास अवभास है।[४] 'अवसाद' का शब्दार्थ उच्छेद है तथा 'अवमान' का शब्दार्थ यौक्तिक तिरस्कार है।[५] अतएव आनन्दगिरि के आभास लक्षण (प्रत्यक्चितोऽवमतो भासो नाम आभासः) का अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्चैतन्य की वह अवभासता अर्थात् प्रतीति आभास है जिसका प्रत्ययान्तर से बाध संभव है और जो यौक्तिक तिरस्कार का विषय हो सकता है। आभास के इस लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आभास मिथ्या ज्ञान है। अध्यात्मरामायण में भी आभास को 'मृषा बुद्धि' तथा 'अविद्याकार्य' बताया गया है।[६] जैसे हेतुलक्षण रहित होते हुए भी हेतुवत् अवभासमान को हेत्वाभास कहा जाता है[७]

---

१. द्रष्टव्य : प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अन्त में दिया गया परिशिष्ट सं० १

२. 'आभिमुख्येनाहमित्यापरोक्ष्येण भासत इत्याभासः।' (छान्दोग्यभाष्यटीका पृ० २६७)

३. 'प्रत्यक्चितोऽवमतो भासो नामाभासः।' (बृ० उ० भा० वा० टीका, अ०२, ब्रा० १, वा०२१६)

४. 'अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः। प्रत्ययान्तरबाधश्चास्यावसादोऽवमानो वा। एतावता मिथ्याज्ञानमित्युक्तं भवति।' (भामती, पृ० ११)

५. 'अवसाद उच्छेदः। अवमानो यौक्तिकतिरस्कारः।' (कल्पतरुः, पृ० १८)

६. 'आभासश्च मृषाबुद्धिरविद्याकार्यमुच्यते।' (अध्यात्म रामायण)

७. हेतुलक्षणरहिताः हेतुवदवभासमानाः हि हेत्वाभासः विवक्ष्यन्ते।' (तर्कसंग्रह : द्वितीय परिच्छेद, पृ० ६७)।

और उदाहरणलक्षणविरहित होते हुए भी उदाहरणवत् अवभासमान को उदाहरणाभास कहा जाता है[1] उसी प्रकार चिल्लक्षणविरहित पर चिद्वद् अवभासमान को चिदाभास की संज्ञा दी जाती है।[2] चिदाभास को निर्विकल्पक सर्वावभासक प्रत्यगात्म स्वरूप चैतन्य की छाया[3] भी कहते हैं। यद्यपि उपाधि विशेषणतया गृह्यमाण आत्म चैतन्य की छाया आभास है[4] तथापि इसे न चैतन्य धर्मक कहा जा सकता है, न उपाधि धर्मक, न चैतन्य तथा उपाधि दोनों का धर्म माना जा सकता है और न कोई स्वतंत्र पदार्थ कहा जा सकता है।[5] आभास की कार्य-कारणता दोनों दुर्वचनीय हैं तथा सत्, असत्, सदसत् या तदुभय भिन्न किसी भी रूप में इसका निरूपण संभव नहीं, इसलिए इसे मायामय अर्थात् मिथ्या कहा जाता है।[6] स्पष्ट शब्दों में अचिन्त्य और अनिर्वचनीय होने के कारण आभास मृषा है।[7] स्वरूपतः मिथ्या होते हुए भी लक्ष्य अर्थात् सन्मात्ररूप से आभास के सत्यत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता।[8] लक्ष्यत्वेन आभास के सत्यत्व व्यपदेश से आभास तथा प्रतिबिम्ब में अभेद व्यवस्थिति की आशंका नहीं की जा सकती क्योंकि प्रतिबिम्ब वाच्य रूप से भी सत्य होता है, अतएव प्रतिबिम्ब का बाध नहीं होता इसके विपरीत आभास वाच्यतः अपने उपाधि के समान अनिर्वच-

---

१. 'उदाहरणवदवभासमानाः तल्लक्षणरहिताः हि ते विवक्ष्यन्ते, गमकत्वात् (कतया) तद्वदवभासमानत्ववैजात्यात्।' (तर्कसंग्रहः, द्वितीय परिच्छेद, पृ० ९९)

२. 'चिद्वदवभासमानत्वे सति चिल्लक्षणरहितत्वाच्चिदाभास इति च व्यपदिश्यते।' (वेदान्तसंज्ञा प्रकरणम्, पृ० २५) तथा 'तल्लक्षणरहितत्वे सति तद्वदवभासमानत्वमेव तदाभासत्वम्।' (मंजरी)। षड्पदीस्तवव्याख्या। पृ० २८, डायमंड जुबली कमेमोरेशन वालूम, भाग-१)

३. 'चित्' निर्विकल्पकं सर्वावभासकं ज्ञानं प्रत्यगात्मस्वरूपं तस्य 'छाया' आभासः।' (वाक्यसुधाव्याख्या, श्लोक ६)

४ 'बुद्धिविशेषेण गृह्यमाणमात्मचैतन्यमाभासः छाया इति च उच्यते ॥' (वही, श्लोक, ६)

५. 'आभासश्च न बिम्बधर्मो नाप्युपाधि धर्मो नाऽपि स्वतंत्र इत्यत्र प्रतिपादितम्।' (वही-श्लोक ३६)

६. 'आभासानां विज्ञानस्य च कार्यकारणताया दुर्वचनत्वादाभासाः सर्वदैव निरूपयितुमशक्यत्वान्मायामयाः सन्तो मिथ्यैव भवन्तीत्यर्थः। माण्डूक्यगौडपादीयभाष्य व्याख्या ४।५१-५२ पृ० १९२।

७. यतः सर्वथाचिन्त्या अतो मृषैवेति शेषः ॥' (वही, पृ० १९२)

८. 'मिथ्यात्वेऽपि तल्लक्ष्यस्य सन्मात्रस्य सत्यत्वमिति व्यवस्थेत्यर्थः।' (छा० भा० टी० पृ० २९८)

नीय है और उपाधि निवृत्ति के साथ स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। सम्पूर्ण द्वैत के मूलकारणभूत अज्ञान तथा अज्ञानकार्य दोनों सर्वथा चिदाभासव्याप्त रहते है, इसीलिए आभास को आनन्दगिरि ने 'मायामयी द्वयी वृत्ति' कहा है।[1] आभास के वृत्तिद्वय को क्रमशः कारणाभास तथा कार्याभास कहा जा सकता है। सुरेश्वर-प्रतिष्ठापित आभास-प्रस्थान शीर्षक अध्याय मे कारणाभास तथा कार्याभास का विशद विवेचन किया जा चुका है।[2] अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है।

आभास की अपेक्षा तथा उपयोगिता—

(१) अज्ञान तथा अज्ञानकार्य दोनो की स्वरूपसिद्धि के लिए आभास की परम अपेक्षा है। चैतन्य तथा चैतन्याभास के द्वारा अज्ञान की स्वरूपसिद्धि होती है[3] और चैतन्य, चैतन्याभास तथा प्रत्यग्ज्ञान के द्वारा प्रमाता आदि को सिद्धि होती है।[4] अतः यह स्पष्ट है कि अज्ञान तथा तदुद्भूत भूतादि जड़ होने के कारण स्वतः सिद्ध नही हो सकते, केवल चैतन्याभासानुरंजित होने पर ही स्वरूपतः निष्पन्न होते हैं।[5]

(२) चिदाभास के कारण स्वरूपसिद्ध आत्मा मे अध्यस्त भूतजात को मोहवश आत्मा कहा जाता है क्योंकि आरोपित की अधिष्ठान के बिना सत्ता—स्फूर्ति नही हो सकती।[6] कहने की अभिसंधि यह है कि चिदाभास के कारण ही अनात्मा का आत्मपद व्यपदेशत्व सम्भव होता है।

---

१. 'कृत्स्नस्य द्वैतस्य मूलकारणमज्ञानं तस्य कार्यं वियदादि तत्रोभयत्र वृत्तिराभासस्तद्रूपोपाध्यवष्टम्भादसंगस्यापि मायामयी द्वयी वृत्तिः ॥' (शास्त्र प्रकाशिका, अ० १, ब्रा० ४, वा० ६३६, पृ० ५६१)

२. द्रष्टव्य : प्रस्तुत शोधप्रबन्ध, अ० ३, पृ० ५३-५६।

३. शास्त्रप्रकाशिका, 'चैतन्य तदाभासाभ्यामज्ञानसिद्धिमुक्त्वा मातृसिद्धिप्रकारमाह-संविदिति।' (अ० ३, ब्रा० ४, वा० १०५); 'आभासवशात्तमः-सिद्धिरित्यत्रानुभवं प्रमाणयति—नेति।' (अ० १, ब्रा० ४, वा० ३४ पृ० ४६६) तथा अ० ४, ब्रा० ३ वा० २६६, पृ० १४२६।

४. चैतन्यतदाभासाज्ञानैरापरोक्ष्यं मातुरित्यर्थः।' (वही, अ० ३, ब्रा० ४, वा० १०५)।

५. 'चैतन्यभासानुरंजनं विना बुद्ध्यादिसिद्ध्यनुपपत्तिद्योतको हि शब्दः ॥' (वही-४।३।२६)

६. 'आत्माज्ञानोद्भूतादि जाड्यान्न स्वतः सिध्यत्यतश्चिदाभासेनैकैनेव तत्सिद्धैस्तदात्मन्यध्यस्तमात्मेत्युच्यते कल्पितस्याधिष्ठानमन्तरेण सत्तास्फूर्त्योरभावात्।' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० १ ब्रा० ४, वा० २३, पृ० ४३२)।

(३) अज्ञान तथा बुद्ध्यादि स्वसत्ताकालपर्यन्त चिदाभासानुगत रहते हैं; चिदाभासाव्यभिचरित कभी नहीं रहते क्योंकि स्वयं जड़ होने के कारण इनकी स्वत: साधकता अयुक्त है।[१] जब अज्ञान अपनी सभी अवस्थाओं में चिदाभास व्याप्त है[२] फिर अज्ञान के कार्यभूत बुद्ध्यादि में आभास की अनुवृत्ति का कोई प्रश्न नहीं। अज्ञान तथा अज्ञान के कार्यभूत बुद्ध्यादि में आभास की अनुवृत्ति अनुभवसिद्ध ही है क्योंकि यदि जड़ अज्ञान या बुद्धि आभासानुरंजित न होती तो 'अहमज्ञ:' और 'अहं वेद्मि' इत्यादि की प्रतीति असम्भव हो जाती।[३]

(४) असंग आत्मा का सुख दु:खादिक भोग आभास के अभाव में असंभव है, अतएव आभास को आत्मा के भोग में द्वार माना जाता है।[४]

(५) बुद्धि के चैतन्याभास व्याप्त होने के कारण ही प्राणभृतों में समस्त व्यवहार अर्थात् शब्दादिविषयानुसंधान की शक्ति रहती है।[५]

(६) आत्मा की सर्वावभासकता का सहायक एकमात्र आभास है क्योंकि स्वाज्ञान-वश बुद्ध्यादि में उद्भूत आत्मा बुद्ध्यादि को केवल आभास की सहायता से सन्निधिवलेन प्रकाशित करता है।[६]

(७) प्रकाशन के अतिरिक्त प्रत्यगात्मा का स्वसृष्ट जगत् में प्रवेश भी आभास की सहायता से सम्भव होता है। सृष्टि में चैतन्य का आभासाख्य प्रवेश है, इसलिए

---

१. 'बुद्ध्यादिष्वाभासानुवृत्तिं नावयति-कारणेति। बुद्ध्यादे: स्वसत्तायां चिदाभासाव्यभिचारे युक्तिमाह। चिदाभनेनेति। तस्या जडतया स्वत: साधकत्वा-योगादित्यर्थ:।' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० ४, ब्रा० ३ वा० ९३ पृ० १३९२)

२. 'बाह्याकारस्य वृत्तिद्वारा धीसंक्रान्तिवच्चिदाभासव्याप्ति:सर्वावस्थासु मोहादेरस्तीति फलितमाह—घटादीति।' (वही, अ० ४, ब्रा० ३ वा० ९९ पृ० १३९३)

३. 'घट: स्फुरतीत्याद्यनुभवात्तस्य चिदाभासव्याप्तावपि कथमज्ञानस्य बुद्ध्यादेश्च तद्व्याप्तिस्तत्राह। चिदाभासोऽपि सर्वत्र न वेद्मीत्यनुभूतित:।' (वही, अ० ४, ब्रा० ३ वा० ९९, पृ० १३९३)

४. 'भोगे चिदाभासस्य बुद्धिगतस्य द्वारत्वं दर्शयति। स्वाभासेति।' (वही अ० ४, ब्रा० ३ वा० १००४); अ० ४, ब्रा० ३, वा० १२२७ तथा १२३२)।

५. 'तस्याऽन्म चैतन्याभासव्याप्तत्वे शब्दादिविषयानुसंधानशक्तिर्भवति इत्याह-अभिव्यक्तेति।' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० ४ ब्रा० ३ वा० २८५ पृ० १४२७)

६. 'स्वाज्ञानवशादात्मा बुद्ध्यादावुद्भूत: स्वाभासमहाया बुद्ध्यादि स्वसंनिधिमात्रेण प्रकाशयति।' (वही-अ० ४, ब्रा० ३, वा० ८६ पृ० १३९१)

सृष्टि आभासिन् हुई। आभासिन् का आभास से अन्यत्र सत्त्व नहीं[1] अतएव अज्ञान तथा अज्ञान प्रोद्भूत कार्यजात सभी को आभास कहा जाता है।[2]

(८) अज्ञान के लिए आभास की परम अपेक्षा है। चिदाभासयुक्त होने पर ही अघटमान घटनपटीयस्त्वेन प्रसिद्ध माया शब्दित अज्ञान की गति सर्वत्र अप्रतिहत होती है। आभास के द्वारा कूटस्थ—संश्लिष्ट होने पर अज्ञान की कारणता उपपन्न होती है क्योंकि जड़ (अज्ञान) में स्वत: कारणता कहाँ?[3] आभास व्याप्ति के बिना अविद्या-कार्यक्षम नहीं हो पाती।[4] कहने की अभिसंधि यह है कि अविद्या की सत्ता—स्फूर्तिप्रद चिदाभास ही है।

(९) आभास के द्वारा ही असंग आत्मा सदा अविद्यादि युक्त प्रतीत होता है।[5]

(१०) आत्मा के साक्षित्व में आभास आवश्यक तत्त्व है क्योंकि तत्साक्षिता स्वाभासप्राधान्येन उपपन्न होती है।[6]

(११) आत्मा में स्वत: प्रमातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व नहीं बन सकता; चिदाभास के द्वारा ही आत्मा इन धर्मों से युक्त-सा प्रतीत होता है। प्रमा का कर्त्ता होना प्रमातृत्व है। क्रिया में गुण अर्थात् उससे अन्वित होना कर्तृत्व है। प्रधानतया फलों का सम्बन्धी

---

१. 'न चाऽऽभासस्याभासिनोऽन्यत्र सत्त्वम्'''।' (वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ५०८, पृ० ५३६)

२. 'प्रत्यगाभासं यदखंडं तमः।' (वही, अ० १, ब्रा० ४, वा० ५०१ पृ० ५३४) तथा 'नहि वायुराकाशमन्तरेण कदाचित्स्वातन्त्र्येण सिध्यति तथा जगदपि सनिदानं स्वतो जडतया कालत्रयेपि सेद्धुमशक्यं प्रत्यगात्मस्वभावालोचनया तत्रासंभाव्यमानमेवाविद्यया तस्मिन्नेवसिद्धयाभासगम्यवर्तात्यर्थः।' (वही, अ० १ ब्रा० ४, वा० १४०५, पृ० ७१२)

३. 'अज्ञानस्याभासद्वारा कूटस्थैक्ये तस्य कारणत्वमिष्टं स्वतस्तदयोगादित्यर्थः।' (वही, अ० ४, ब्रा० ३ वा० ३८५ पृ० १४४४)

४. 'न चाऽऽभास व्याप्त्या विना अविद्या कार्याप्तेति।' (पंचप्रक्रिया टीका, पृ० ५०)

५. चित्प्रतिबिम्बद्वारैवाऽऽत्मा सदाऽविद्यादिना युज्यते न स्वतोऽसंगत्वश्रुतेरित्यर्थः॥ (शास्त्र प्रकाशिका, अ० ४, ब्रा० ३, वा० १३७७ पृ० १६२४)।

६. वही—'नाज्ञानमात्रात्साक्षित्वं किन्त्वाभासेनापि भाव्यमित्यर्थः। (अ० १, ब्रा० ४, वा० ३७४ पृ० ५०६) तथा 'स्वाभासप्राधान्येन साक्षिता''''''' (अ० ३, ब्रा० ४, वा० ११२)

होना भोक्तृत्व है। इन धर्मों की शुद्ध चैतन्य में स्वतः आश्रयता कैसे होगी? हां, आभास के द्वारा प्रमातृत्वादि सभी उपपन्न हो जाते हैं।[1]

निष्कर्ष यह है कि अज्ञान के स्वरूप और शक्तिद्वय तथा तद्विजृम्भित भूतजात की स्वरूपसिद्धि एवं आत्मा की विषयावभासनता, साक्षिता, कारणता, नियन्तृता तथा भोक्तृता प्रभृति की उपपत्ति के लिए आभास की परमापेक्षा है।

आनन्दगिरि-सम्मत प्रमुख आभास पदार्थ—

(१) माया—यह वह पारमेश्वरी शक्ति है, जिसके रहने पर जननमरणादि रूप संसार की स्थिति रहती है और निवृत्त होने पर संवृतिनिवृत्ति हो जाती है।[2] सिसृक्षित देहादिगत वैरूप्य की सिद्धिकारिणी होने के कारण त्रिगुणात्मिका है। सर्वत्र व्याप्त रहने के कारण वैष्णवी है। ईश्वर वशीभूता होने के कारण ईश्वर की (दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया) है। प्रतिभास अर्थात् आभासशरीर होने के कारण स्वनामसार्थक है। नानाविध कार्यकारणाकारतया परिणत होने के कारण मूल प्रकृति है।[3] अनुभवसिद्ध होने के कारण इसका अपलाप नहीं किया जा सकता।[4] चिद्वशीभूत होने के कारण 'चिन्मात्रतन्त्रज' है।[5] तत्त्वज्ञान के पूर्व अनिवृत्त रहने के कारण अनादि

---

१. न च चिदाभासव्याप्त्या विना कार्यकरणानि प्रत्यगात्मनो नियोज्यत्वे प्रयोजकीभवितुमुत्सहन्ते। कर्तृत्वं क्रियावांगुणत्वम्, भोक्तृत्वं फलित्वेन प्रधानत्वम्, प्रमातृत्वं प्रमां प्रति कर्तृत्वम्, तैश्च प्रच (सं) बन्धः साभासकार्यकरणसम्बन्धाद् भवति; न स्वतोऽविक्रियस्य तैस्सह सम्बन्धस्सेद्धुमर्हतीत्यर्थः।' (पंचप्रक्रिया टीका, पृ० ५१)।

२. 'यस्यां सत्यां जननमरणादिः संसारः, यन्निवृत्त्या तन्निवृत्तिः, सा मायाशक्तिरेष्टव्येत्यर्थः।' (शरीरक भाष्य टीका, पृ० २६७)

३. 'तत्राह—त्रिगुणात्मिकामिति। सिसृक्षितदेहादिगतवैरूप्यसिद्ध्यर्थमिदं विशेषणम्। तस्या व्यापकत्वं वक्तुं वैष्णवीमित्युक्तम्। ईश्वरपारवश्यं तस्या दर्शयति-स्वामिति। तस्याश्च प्रतिभासमात्र शरीरत्वमेव, न तु वस्तुत्वमित्याह—मायामिति। तस्या नानाविध—कार्याकारेण परिणामित्वं सूचयति—मूलप्रकृतिमिति। ईश्वरस्य प्रकृत्यधीनत्वं वारयति वशीकृत्येति' (गीताभाष्यव्याख्यानम, पृ० ३)

४. 'अनुभवसिद्धा सा नाकस्माकमपलापमर्हति।' (वही ७।१४ पृ० २६) तथा 'किं चा विद्या न कल्प्या नित्यानुभवसिद्धत्वादित्याह—साचेति।' (सम्बन्धवार्तिक टीका पृ० ५८)।

५. तैत्तिरीयभाष्यटिप्पणम्, २।८ पृ० ६४; ईशावास्यभाष्यटीका, पृ० १५ तथा केनवाक्य-विवरण व्याख्या पृ० १०।

है ।[1] इस माया या अविद्या की अनिर्वचनीयता चिदाभासव्याप्यता ही है ।[2] अनिर्वचनीय तथा स्त्री-पुत्र-वित्तादि के रूप में आपाततः सुन्दर प्रतीत होने के कारण 'अविचारितसुन्दर'[3] या 'अविचारितरमणीय'[4] है । 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इस श्रुतिवाक्य से कुछ लोग पारमेश्वरी शक्ति माया की अनेकता मानते हैं, पर यह उपयुक्त नहीं क्योंकि माया की विविधता उसकी अनेकता नहीं प्रत्युत 'आकाशाद्यशेषाकारता' है ।[5] माया ऐतिह्यमात्र सिद्ध ही नहीं प्रत्युत 'न सदासीन्नो सदासीत् ।' 'आसीदिदं तमोभूतम्,' 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् ।' 'माया ह्येषा मया सृष्टा ।' 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' तथा 'मायामेतां तरन्ति ते' इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियों से भी सिद्ध है ।[6] साभासा माया या अविद्या परमेश्वर की 'लीला' अर्थात् स्वभाव है[7] और इस स्वभावशक्ति मायाशक्ति के कारण ब्रह्म आकाशादि रूपों में उसी प्रकार आभासित होता है जैसे अधिष्ठानभूत रज्ज्वादि स्वभाव शक्ति स्वाज्ञान के कारण सर्पादि के रूप में आभासित होते हैं ।[8] साभास माया अर्थात् अज्ञान काल के प्रति कारण है और कार्य कारण पश्चाद्भावि होता है अतः इस (माया) का काल से परिच्छेद नितरां असम्भव है ।[9]

---

१. गीताभाष्यव्याख्यानम्–७।१४ पृ० २९; शारीरकभाष्यटीका, पृ० ४०, सम्बन्धवार्तिक टीका पृ० ५८; गीताभाष्यव्याख्यानम्–२।२१, पृ० १३१, ५।१ पृ० ४५९, १२।२ पृ० ३५३ तथा १३।३ पृ० १० और १२ ।

२. 'अनिर्वाच्यत्वमविद्यायाश्चिदाभासव्याप्तत्वम् ।' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० ४, ब्रा० ३, वा० १११२ पृ० १५७७) ।

३. वही—अ० १, ब्रा० ४, वा० ३२४ पृ० ३९७ ।

४. तर्कसंग्रहः, प्रथमपरिच्छेद पृ० ५५ ।

५. 'शक्तिर्मूलकारणं माया तस्या विविधत्वमाकाशाद्यशेषाकारत्वम् ।' (शारीरकभाष्य टीका, पृ० १०७) ।

६. 'सम्बन्धवार्तिक टीका; वा० १८२ पृ० ५८ तथा शारीरकभाष्यटीका, पृ० १०७ ।

७. 'स्वभावो विद्या …… । अनिर्वाच्या त्वविद्या परमेश्वरस्य स्वभावो लीलेति चोच्यते ।' (शारीरकभाष्य टीका, पृ० ४०६)

८. 'अधिष्ठानभूतरज्ज्वादीनां स्वभावशक्तिस्वाज्ञानादेव सर्पाद्याभासत्वम् तथा परस्य स्वमायाशक्तिवशादाकाशाद्यशेषाभासत्वम् । (माण्डूक्यगौडपादीयभाष्य व्याख्या १।८ पृ० ३७) ।

९. 'अव्याकृतं मायाख्यमज्ञानमनिर्वाच्यं तत्कालेन परिच्छिद्यते ।कालस्यापि कारणत्वात्कार्यस्य कारणात्पश्चाद्भाविनो न प्रागभाविकारणपरिच्छेदकत्वं संगच्छते ।' (वही पृ० १२)

कतिपय अद्वैत वेदान्तियों ने माया और अविद्या में भेद मानकर माया को ईश्वराश्रित तथा अविद्या को जीवाश्रित बताया है पर आनन्दगिरि ने अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक शंकराचार्य तथा आभास प्रस्थान के प्रतिष्ठापक सुरेश्वराचार्य के समान अविद्या और माया के भेद का स्थान-स्थान पर व्युदास किया है।[1] अनवच्छिन्न होने के कारण इस अविद्यात्मिका बीज शक्ति को आकाश[2] कहा जाता है। तत्त्वज्ञान के बिना इसकी निवृत्ति नहीं होती अतएव अक्षर[3] है। विचित्र कार्यकारिणी होने के कारण माया-पदवाच्य है।[4] अनिर्वाच्य होने के कारण अव्यक्त संज्ञिका है।[5] साभास होने से मृत्युपदाभिलप्य है।[6] कहने का अभिप्राय यह है कि माया, अज्ञान, अविद्या तथा आकाश प्रभृति सभी शब्द समानार्थक हैं, परस्पर भिन्न नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से अविद्या के इदमित्थं स्वरूप का निर्णय नहीं होता तथा अविद्या क्या है? यह समस्या बनी रह जाती है। यदि कहा जाय कि अविद्या 'अयथार्थज्ञप्ति' रूप है, तो उपयुक्त नहीं क्योंकि ज्ञप्ति मात्र कुछ-न-कुछ अर्थानुरोधि होता है अतएव उक्त लक्षण का व्याघात होगा। अभिसंधि यह है कि अविद्या के विषय का बाध होता है अतः ज्ञप्ति का अविद्या के लक्षण में कथमपि समन्वय नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि 'बाध्यार्था ज्ञप्ति' अविद्या है तो भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि विपर्यय आदि में प्रतीतितः अर्थबाद की असिद्धि है और प्रमाण से बाध मानने पर स्तम्भकुम्भादि के प्रत्यक्ष में भी बाध की तुल्यता है। 'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुतियों के अवष्टम्भ से स्तम्भ तथा कुम्भादि के उपलम्भ की बाध्यार्थता है। अविद्या का ज्ञान भी युक्त नहीं क्योंकि असम्यग्ज्ञप्ति रूप अविद्या ज्ञप्ति से निवर्त्य है। यदि यह कहा जाय कि सम्यग्ज्ञप्ति से अविद्या के निवर्त्यत्व में कोई विरोध नहीं होगा तो उपयुक्त नहीं क्योंकि सम्यग्ज्ञप्ति और अविद्या का परस्पराश्रय प्रसंग हो जायगा। यह कथन—कि बुद्ध्यन्तर के समान

---

१. 'मायाविद्ययोर्भेदादीश्वरस्यमायाश्रयत्वं जीवानामविद्याश्रयतेति वदन्तं प्रत्याह माया-मयीति।' (शारीरकभाष्यटीका पृ० २६७); वही पृ० ३३८ तथा ६२४ और बृ० भा० वा० टी०, अ० १, ब्रा० २, वा० १३५ पृ० ३२६।

२. 'अनवच्छिन्नत्वादाकाशत्वम्' (शारीरकभाष्य टीका, पृ० २६७)।

३. 'तत्त्वज्ञानं विनाऽनिवृत्तेरक्षरत्वम्।' (वही, पृ० २६७)

४. 'विचित्रकार्यत्वान्मायात्वम्' (शारीरक भाष्यटीका पृ० २६७)

५. 'अनिर्वाच्यत्वेनाव्यक्तशब्दार्हत्वम्।' (वही, पृ० २६७)

६. 'मायाख्यं साभासं मृत्युरित्युच्यते।' (बृहदारण्यकभाष्यटीका १।२।१३६ पृ० ३६३) तथा 'साभासं प्रत्यगज्ञानं कारणवाचि मृत्युशब्दवाच्यम्।' बृ० भा० वा० टी० अ० १, ब्रा० २ वा० १३६ पृ० ३२६)।

अविद्या के निवर्त्यत्व होने पर भी उसके बुद्धित्व की सिद्धि हो जायगी—भी अनुपयुक्त है क्योंकि वही कथित विरोधिगुणत्व यहाँ प्रयोजक है। अतः उत्तरज्ञानादि के द्वारा पूर्व सुखादि की निवृत्ति मानी जाती है।[1] अतः अविद्या न अयथार्थज्ञप्ति रूप है और न बाध्यार्थज्ञप्ति रूप। आनन्दगिरि के शब्दों में यह 'भ्रमोपादान' रूप है, क्योंकि अन्य किसी प्रकार से इसका स्वरूप नहीं बताया जा सकता। आत्मा कूटस्थ है अतः अविद्या को आत्मा के तत्त्व के रूप में नहीं माना जा सकता। यदि इसे आत्मा का तत्त्व मानेंगे तो इसका अयोग होगा क्योंकि निरविद्यक ब्रह्म में अविद्या या अविद्या के कार्यो का अवस्थान कथमपि युक्तिसंगत नहीं तथा आत्मा के अतिरिक्त न तो कोई तत्त्व है और न आत्मा किसी से सम्बन्धित है। (१) संशय (२) विपर्यय (३) मिथ्याग्रह तथा (४) विपर्यास के भेद से सिद्ध वैशेषिकों का अविद्याचातुर्विध्य भी नहीं स्वीकृत हो सकता क्योंकि निरुक्ति किये जाने पर संशयादि प्रत्येक बाधित हो जाते हैं।[2]

(२) ईश्वर-जगत्कारण-साक्षि-नियन्ता :—

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक के त्रिविध ईश्वर-लक्षणों में ईश्वर का आभासात्मक लक्षण अर्थात् 'अविद्यागत चिदाभास ईश्वर' सुरेश्वराचार्य का मुख्यपक्ष है, यह तत्प्रतिष्ठापित आभास-प्रस्थान नामक अध्याय में निरूपित किया जा चुका है। आनन्द-

---

१. 'केयम् अविद्या नाम ? (१) अयथार्था ज्ञप्तिः—इति चेत् न, व्याघातात्, ज्ञप्तिमात्रस्य यत्किंचिदर्थानुरोधित्वात्। (२) बाध्यार्थाज्ञप्तिः तथा—इति चेत् न; विपर्ययादौ अपि प्रतीतितः अर्थबाधस्य असिद्धत्वात्, मानतः तद्बाधस्य स्तम्भाद्युपलम्भेपि तुल्यत्वात्। उपलभ्यते हि 'नेह नानास्ति' इत्यादिना स्तम्भकुम्भाद्युपलम्भस्यापि बाध्यार्थत्वम्। न च अविद्यायाः ज्ञप्तित्वं युक्तम्, तन्निवर्त्यत्वात् असम्यग्ज्ञप्तेः। सम्यग्ज्ञप्त्या निर्वर्त्यत्वम् अविरुद्धम्—इति चेत्, न, परस्पराश्रय—प्रसंगात्। बुद्ध्यन्तरवत् तन्निवर्त्यत्वेपि बुद्धित्वसिद्धिः—इति चेत्, न, विरोधि गुणस्य तत्र प्रयोजकत्वात् उत्तरेण ज्ञानादिना पूर्वस्य सुखादेः अपि निवृत्त्यभ्युपगमात्।' (तर्कसंग्रहः, द्वितीय परिच्छेद, पृ० ७८)

२. 'भ्रमोपादानमज्ञानमन्यथा तदयोगतः।
कौटस्थ्यान्नात्मनस्तत्त्वमन्यथा तदयोगतः॥
चातुर्विध्यमविद्यायां परसिद्धं न सिध्यति॥
प्रत्येकं संशयादीनां निरुक्तेरथ बाधनात्॥
(वही—द्वितीय परिच्छेद, पृ० ७९)

गिरि ने ईश्वर के स्वरूप को सापेक्ष, अस्वाभाविक तथा आविद्यक कहा है[1] अतः स्पष्ट है कि वह सुरेश्वर के मुख्य पक्ष अर्थात् ईश्वर की आभासरूपता का समर्थन करते हैं। प्रत्यगज्ञानजन्य समस्त द्वैताकाररूप अज्ञान में चिदाभासरूप फलक है, उस पर समारूढ़ आत्मा ईश्वर, साक्षि तथा नियन्ता कहा जाता है। अज्ञान तथा तत्परिणामभूत प्रपंच में स्थित भी असंग आत्मा वस्तुतः प्रपंचसम्बन्धित नहीं कहा जा सकता है, अतएव ईश्वरादि कल्पित हैं।[2] प्रश्न होता है कि यदि अज्ञानगत आभासफलकारूढ़ आत्मा ईश्वर है तब ईश्वर का कल्पितत्त्व कैसे? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि वस्तुतः अज्ञानगत चिदाभास ही ईश्वर है तथापि अविवेक के कारण आत्मा को चिदाभास से अविविक्त मान लिया जाता है तथा उसे ईश्वर कह दिया जाता है। जैसे व्योम घट-करक आदि उपाधियों में वस्तुतः निविष्ट नहीं उसी प्रकार असंग आत्मा भी परमार्थतः उपाधिस्थ नहीं। आत्मा ईश्वर की वाच्यार्थ कोटि में कथमपि अन्तर्भूत नहीं, आत्मा का आभास मात्र ईश्वर है और यह आभास अपने आभासी अज्ञान के साथ ईश्वर के वाच्यार्थ में अन्तर्भूत है। आत्म-बोध से इस ईश्वर की हति सम्भव है अतः ईश्वर की आभासरूपता अविरुद्ध है।[3] भगवान् ने भी गीता में 'मममाया' कह कर माया को ईश्वर सम्बन्धित दिखाते हुए मायाविशिष्ट ईश्वर का कल्पितत्व सूचित किया है।

---

१. 'न हि सापेक्षं स्वरूपं स्वाभाविकं चाऽविद्यं रजतवदित्यर्थः। ये तु केचिदैश्वर्यमनारोपितमाश्रयन्ते ते पुनरैश्वर्यकारणत्वं चेत्यादिवार्तिकार्थं नाऽऽलोचयन्ते।' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ५४)

२. वही—'प्रत्यगज्ञानजेषु सर्वद्वैताकाराज्ञानपरिणामेषु स्वस्याऽऽभासस्तस्मिन्फलके समारूढः साक्षित्वेश्वरत्वकारणत्वान्तर्यामित्वरूपतामात्मा गच्छति स च प्रपंचस्थोऽपि वस्तुतोऽपि न तेन सम्बध्यतेऽसंगागमविरोधात्तस्मादीश्वरादि कल्पितम्।' (अ० १ ब्रा० ३, वा० ५३ पृ० ३५८); 'सेश्वरं जगदाविद्यमित्यर्थः।' (अ० १, ब्रा० ३, वा० ५४ पृ० ३५८) तथा अ० ३, ब्रा० ८ वा० ४३। शारीरकभाष्यव्याख्या—'उक्तं हि श्रुतिस्मृत्यनुरोधादविद्याकृते तदात्मके ये नामरूपे तद्रूपानवच्छिन्नोपाध्यभिव्यक्तश्चिदात्मा ताभ्यामेव नामरूपाभ्यां विरचितं प्रपंचं नियमयन्नीश्वरो नाम। ततो न स्वाभाविकमैश्वर्यमित्यर्थः।' (अ० २, ब्रा० १, सू० १४, पृ० ३८२, पंक्ति १०-१२)।

३. 'उक्तं हि—अविद्याकृत नामरूप-पाध्यनुरोधीश्वरो भवतीति। तथा च तद्बोधादेव तद्धतिरित्यविरुद्धमित्यर्थः।' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० १, ब्रा० ३, वा० ५३ पृ० ३५८)।

लौकिकों ने भी माया को वैष्णवी कहा है अतः ईश्वर का कल्पितत्व लोक सिद्ध है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर आभास रूप है और जैसे आभास वाच्यत्वेन कल्पित तथा लक्ष्यत्वेन अकल्पित है,[2] उसी प्रकार ईश्वर स्वरूपतः अर्थात् लक्ष्यत्वेन अकल्पित होते हुए भी संसृष्टाकारेण या वाच्यत्वेन कल्पित है।[3]

विष्णु पुराण में ऐश्वर्य, वीर्य तथा यश इत्यादि छह ऐश्वर्यों से युक्त होने के कारण ईश्वर को भगवान् कहा गया है।[4] आनन्दगिरि भी (१) ज्ञान, (२) ऐश्वर्य, (३) शक्ति, (४), बल, (५) वीर्य, तथा (६) तेज—इन छह गुणों से सदैव युक्त ईश्वर को भगवान् कहते हैं। ज्ञप्ति अथवा अर्थपरिच्छित्ति ज्ञान है। ईश्वरत्व या स्वातन्त्र्य अर्थात् ईशितव्य विषय का ईशनसामर्थ्य ऐश्वर्य है। अर्थनिर्वर्तन का सामर्थ्य अथवा मनोगत प्रागल्भ्य शक्ति है। अर्थ निर्वर्तन की सहायसम्पत्ति अथवा शरीरगत सामर्थ्य बल है। पराक्रमत्व वीर्य है तथा प्रागल्भ्य अथवा अप्रधृष्यता तेज है।[5] जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और हानि-इन तीनों की प्रयोजकता ईश्वर का त्रिविध आधिपत्य है। अपने इस त्रिविध आधिपत्य के द्वारा ईश्वर स्वकार्यभूत जगत् का उत्पत्त्यादि तीनों अवस्थाओं में अधिष्ठान तथा पालक सिद्ध होता है।[6]

---

१. 'तत्र च मम मायेति वदता भगवता मायामीश्वरस्य दर्शयता तद्विशिष्टस्य तस्य कल्पितत्वं सूचितम्।...। लौकिका हि वैष्णवीति मायां विष्णुना विशिषन्तो विष्णुरीश्वरस्य माया वैशिष्ट्यमाचक्षाणास्तस्य कल्पितत्वं मन्यन्ते।' (वही—अ० १ ब्रा० ४, वा० ३८३, पृ० ५०८)।

२. छान्दोग्यभाष्यव्याख्या, अ० ६ खं० ४ म० ३, पृ० २९८।

३. 'स्वरूपेणाकल्पितत्वेऽपि संसृष्टाकारेण कल्पितत्वमीश्वरस्य...।' (शास्त्रप्रकाशिका. १।४।३८३ पृ० ५०८)

४. विष्णुपुराण—६।५।७४। तथा ६।५।७८।

५. 'ज्ञानं ज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिः, ऐश्वर्यमीश्वरत्वं स्वातन्त्र्यं, शक्तिस्तदर्थनिर्वर्तन-सामर्थ्यं, बलं सहायसम्पत्तिः, वीर्यं पराक्रमत्वं, तेजस्तु प्रागल्भ्यमप्रधृष्यत्वम्, एते च षड्गुणाः सर्वविषयाः सदा भगवति वर्तन्ते।' (गीताभाष्यव्याख्यानम्, पृ० ३) तथा 'विभूतिर्नानाविधैश्वर्योपायसम्पत्तिः, बलं शरीरगतसामर्थ्यं, शक्तिर्मनोगतप्रागल्भ्यम्, ऐश्वर्यमीशितव्यमीशनसामर्थ्यम्।' (वही—७।१ पृ० ४)

६. 'उत्पत्तिस्थितिहानिप्रयोजकं त्रिविधमाधिपत्यं स खलु तिसृष्वस्थासु जगदुक्तेनाऽऽधिपत्येनाधिष्ठाय सदा पालयति स्वकार्यत्वात् जगतस्तस्मिन्नधिष्ठान-पालन सिद्धेरिति द्वितीयवार्तिकयोजना।' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० ४ ब्रा० ४, वा० ९९१-९२ पृ० १८८४।

ईश्वर, जगत्कारण, साक्षि तथा अन्तर्यामि में कोई विभेद नहीं।[1] एक ही ईश्वर भिन्न-भिन्न कार्य करता हुआ ईश्वरादि नामों से व्यपदिष्ट होता है। ऐश्वर्य, कारणत्व, साक्षित्व तथा अन्तर्यामित्व सभी सापेक्ष हैं क्योंकि आभास-प्रस्थान के अनुसार एक ही आत्मा सत्य है, तदतिरिक्त कुछ सत्य नहीं। अतः आत्मा वस्तुतः न ईश्वर हो सकता है, न अन्तर्यामि, न साक्षि और न जगत्कारण। आत्मातिरिक्त यदि कुछ ईशितव्य पदार्थ होता, तब आत्मा ईश्वर हो सकता था। उससे बाहर यदि कुछ होता, तो वह उसका अन्तर्यामि बन जाता। साक्ष्य पदार्थ होने पर आत्मसाक्षित्व संभव होता। वस्तुतः जगत् होता तो आत्मा की जगत्कारणता मान ली जाती। पर ईशितव्य-बाह्य-साक्ष्य-जगत् सभी उपाधिगत अनाद्यज्ञान कल्पित हैं। जैसे जपाकुसुम की रक्तिमा स्फटिक में आभासित होती है, उसी प्रकार उपाधिभूत अज्ञान में चैतन्य आभासित होता है। यह अज्ञानरूपोपाधिगत चिदाभास ही उपाधिसिद्धित्वेन ईश्वर, उपाध्यन्तर्गतत्वेन अन्तर्यामि, उपाधिदृश्यत्वेन साक्षि और उपाधि के जगत् रूप में परिणत होने में कारण होता है। आत्मा ईश्वर, अन्तर्यामि, साक्षि तथा जगत् कारण नहीं। वास्तविक स्थिति यही है तथापि उपाधि में आत्मा का जो आभास है उससे आत्मा के अविवेक अर्थात् भेदग्रह न होने के कारण आत्मा को ईश्वरादि कह दिया जाता है। अतएव ईश्वरादि शब्दों का वाच्यार्थ चिदाभास है, चैतन्य नहीं। हां; लक्ष्यार्थ चैतन्य हो सकता है।[2] वस्तुतः ईश्वर अन्तर्यामि तथा साक्षि में अन्तर नहीं तथापि आनन्दगिरि ने इनमें कार्यतः सूक्ष्म भेद बताया है। अव्याकृत अर्थात् ईश्वर उपाधिभूत अज्ञान प्रधान है और अन्तर्यामि उपहित अर्थात् आभास प्रधान है।[3] चिदाभास विशिष्ट-अविद्योपाधिता के कारण आत्मसाक्षित्व कहा जाता है और माया तथा मायाकार्य के नियन्तृत्व से अन्तर्यामि।[4] साक्षिता आभासप्राधान्येन उपपन्न होती है।[5] आनन्दगिरि के ग्रन्थों के परिशीलन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपाधि की प्रधानता से ऐश्वर्य तथा जगत्कारणत्व सम्भव होता है और आभास की प्रधानता से माया तथा माया के कार्यों का नियन्तृत्व तथा साक्षित्व।। स्पष्ट शब्दों में ऐश्वर्य तथा कारणत्व

---

१. शास्त्र प्रकाशिका—अ० १, ब्रा० ३, वा० ५३ पृ० ३५८।
२. महामहोपाध्याय वासुदेवशास्त्री अभ्यंकरः सिद्धान्तबिन्दुव्याख्या, पृ० ४२-४३।
३. 'उपाधिप्रधानमव्याकृतमुपहितप्रधानस्त्वन्तर्यामि इति भेदः।' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० १ ब्रा० २ वा० १३१ पृ० ३२८)।
४. 'चिदाभासविशिष्टाविद्योपाधेः साक्षित्वम् तस्यैव माया तत्कार्यनियन्तृत्वेनान्तर्यामीति भेदः।' (वही—अ० १ ब्रा० ४ वा० १५१ पृ० ४५७)
५. 'आभासप्राधान्येन साक्षिता।' (वही अ० ३ ब्रा० ४ वा० ११२)

प्रस्थान के अनुसार प्रतिबिम्ब या प्रतिबिम्बकल्प पद चिदाभास का व्याख्यान मात्र है।[1] निर्विकार चैतन्य अनात्मवत्प्रतिपन्न स्वाभास के द्वारा जीवत्व प्राप्त करता है।[2] अभिप्राय यह है कि चिदात्मा का मुख्य वास्तविक स्वरूप शुद्ध है तथा द्वितीय स्वरूप कल्पित–गौण अर्थात् चिदाभास रूप है और उसका यह चिदाभासरूप ही जीव शब्द वाच्य है।[3] चिदाभास वाच्य जीव स्वरूपतः अर्थात् अपने लक्ष्यभूत परमात्मरूप से अनादि है पर बुद्ध्यादिभूत मात्रासंसर्गजन्यत्व विशिष्ट रूप से सादि है।[4]

गोविन्दानन्द की रत्नप्रभा से यह ज्ञात होता है कि भास्कर ने चिदाभास के जीवत्व का खंडन किया है। भास्कर का प्रलाप है कि प्रतिबिम्ब अथवा आभास उपाधि संसृष्टतया ही नहीं प्रत्युत् स्वरूपतः कल्पित है। कल्पित प्रतिबिम्बाख्य जीव की मुक्ति में स्थिति नहीं रह सकती अतः चिदाभास का जीवत्व अनुपपन्न है। भास्कर का यह कथन आभाससिद्धान्तरहस्याज्ञाननिबन्धन होने के कारण मान्य नहीं हो सकता।[5] आनन्दगिरि ने अपने आभास-प्रस्थान में बहुशः कहा है कि वस्तुतः आभास का आभासक (ब्रह्म) से भेद नहीं तथापि उपाधिस्थितवैशिष्ट्य के कारण वह ब्रह्म भिन्न तथा कल्पित

---

१. '……आभासः स्वतोऽपरोक्षश्चित्प्रतिबिम्बः' (छान्दोग्यभाष्यटीका, अ० ६, खं० ४ मं० ३ पृ० २९७), 'अवभासाः चित्प्रतिबिम्बा….' (केनवाक्यविवरणव्याख्या २।१२।४ पृ० १९) तथा माण्डूक्यगौडपादीयभाष्यव्याख्या—'तस्यांशवो रश्मयो जीवाश्चिदाभासाः सूर्य प्रतिबिम्बकल्पाः पृ० १) और प्रतिबिम्कल्पान् जीवान् आभासभूतान्।' (८।६।३४)।

२. शास्त्रप्रकाशिका—'निर्विकारोऽपि परः स्वप्रतिबिम्बस्यानात्मवत्प्रतिपन्नस्य जन्मद्वारा जीवतामेति। (अ० १, पा० २, वा० १३७ पृ० ३२९); तथा 'आत्मा वस्तुतोऽद्वयोऽपि स्वाविद्यया बुद्ध्यादौ संसारहेतौ स्थितः स्वाभासद्वारा संसारित्वाभासमनुभवतीत्यर्थः।' (अ० ४, पा० ३ वा० ४०६ पृ० १४७७)।

३. 'चिदात्मनो हि वास्तवं शुद्धं स्वरूपं। तस्यैव च कल्पितं गौणं चिदाभासरूपं द्वितीयं स्वरूपं जीवशब्दवाच्यं।' सिद्धान्तबिन्दुव्याख्या (अभ्यंकरकृत) तथा 'तदाभासो जीवशब्दवाच्यः।' (छान्दोग्यभाष्यटीका, ६।४।३ पृ० २९७)।

४. 'तस्य स्वरूपेणानादित्वेऽपि विशिष्टरूपेण सादित्वं दर्शयति—बुद्ध्यादीनि। बुद्ध्यादिभूतमात्रादिभिश्चिदात्मनः संसर्गस्तेन जनितस्तत्तन्त्र इति यावत्।' (छान्दोग्यभाष्यटीका ६।४।३ पृ० २९७)

५. 'यत्त्वयं भास्करस्य प्रलापः प्रतिबिम्बस्य नोपाधिसंसृष्टतया कल्पितत्वं किन्तु स्वरूपेणैव, अतः कल्पितप्रतिबिम्बस्य मुक्तौ स्थित्ययोगान्न जीवत्वमिति स सिद्धान्तरहस्याज्ञानकृत उपेक्षणीयः….' (रत्नप्रभा, अ० २, पा० ३ सू० ५० पृ० ५०१ पं० ५–१०)।

हो जाता है।[1] आभासवाद यदि आभास को परमार्थतः आभासक से अतिरिक्त मानता तो अद्वैत वेदान्त के मुख्य सिद्धान्त 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' की मान्यता खंडित हो जाती और आभासभूत जीवलोक के परमार्थतः कल्पित होने पर आभासवादियों के द्वारा बन्धमोक्ष-व्यवस्था भी न की जाती। वास्तविक स्थिति दूसरी ही है। आभास उपाधिस्थित वैशिष्ट्येन अर्थात् संसृष्टाकारेण मिथ्या और सादि होते हुए भी अपने असंसृष्ट सदात्मरूप से अनादि तथा सत्य है।[2] अतः बन्ध-मोक्ष व्यवस्था का असामंजस्य आभास-प्रस्थान में कथमपि संभव नहीं।

अब प्रश्न यह है कि यदि आभासाख्य जीव वस्तुतः आभासक (ब्रह्म) से अतिरिक्त नहीं, फिर प्रतिबिम्बवादियों से आभासवादियों का अन्तर क्या होगा? प्रस्तुत प्रश्न के समाधान में कहा जाता है—(१) प्रतिबिम्बवादियों का चित्प्रतिबिम्ब सर्वथा बिम्ब है अतः उपाधि संसृष्ट होने पर भी वह कल्पित नहीं होता किन्तु बिम्बैकस्वरूप-लक्षण होता है।[3] अतः प्रतिबिम्बवादियों का चित्प्रतिबिम्बात्मा जीव स्वरूपतः ही नहीं प्रत्युत् संसृष्टाकार से भी सत्य है। इसके विपरीत आभासवादियों का चिदाभास उपाधिसंसृष्ट होने पर कल्पित है और ऐसी दशा में चिदाभास को न बिम्बधर्म कहा जा सकता है, न उपाधिधर्म, न बिम्ब और उपाधि दोनों का धर्म कहा जा सकता है, न अन्यतर से भिन्न अथवा अभिन्न कहा जा सकता है तथा न कोई स्वतंत्र वस्तु ही।

---

१. 'यद्यपि बिम्बप्रतिबिम्बयोर्न भेदोस्ति वस्तुतः तथापि उपाधिस्थित—वैशिष्ट्येन प्रतिबिम्बस्यासत्त्वम्...।' (वाक्यसुधाटीका, श्लोक ३६) तथा 'नच प्रतिबिम्बो वस्तुतो बिम्बादर्थान्तरमेकरूपनिभासनादतो विद्यया परस्यैवाविकृतस्य जीवत्वान्नाद्वैतहानिरित्यर्थः।' (शास्त्र प्रकाशिका, अ० १ पा० २ वा० १३७ पृ० ३२६) तथा न्यायनिर्णयः अ० १, पा० १ सू० ६ पृ० १०६)।

२. विशिष्टरूपेण मिथ्यात्वेऽपि स्वरूपेण सत्यत्वाज्जीवस्य ब्रह्मास्मीति ज्ञानात् मुक्तिः संभवतीति समाधत्ते—नैष दोष इति च ···। यथा प्रपंचो ब्रह्मात्मना सत्योऽपि स्वरूपेण मिथ्येत्युक्तं तथा जीवशब्दवाच्योऽपि ब्रह्मात्मना सत्यः स्वरूपेण मिथ्येति स्वीकर्तव्यमित्याह—तथेति। (छा० उ० भा० टीका ६।४।३ पृ० २६८) तथा स्वरूपेणाकल्पितत्वेऽपि संसृष्टाकारेण कल्पितत्वमीश्वरस्य जीववदभ्युपेयमिति भावः।' (शास्त्र प्रकाशिका—अ० १ पा० ४ वा० ३८३ पृ० ५०८)।

३. 'यत् पुनः दर्पणजलादिषु मुखचन्द्रादिप्रतिबिम्बोदाहरणम्, तत् अहंकर्तुरनिदमंशो बिम्बादिव प्रतिबिम्बं न ब्रह्मणो वस्त्वन्तरम्, किन्तु तदेव तत्,···कथं पुनस्तदेव तत्? एक स्वरूपलक्षणतावगमात्।' (पंचपादिका, प्रथम वर्णक, पृ० १०४)

अतः आभासात्मा जीव अविद्याकल्पित, अनिर्वचनीय तथा मृषा है।[1] (२) प्रतिबिम्ब-वादियों के अनुसार जीव वाच्यत्वेन तथा लक्ष्यत्वेन उभय प्रकार से सत्य होगा, पर आभासवादियों के अनुसार जीव वाच्यत्वेन मिथ्या है तथा केवल लक्ष्यरूप से सत्य है।[2] यद्यपि यह अवश्य है कि आनन्दगिरि ने अन्य अद्वैतवेदान्तियों के समान आभास के स्थान पर कभी-कभी प्रतिबिम्ब पद का भी प्रयोग किया है, पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उनके प्रस्थान से विवरण प्रस्थान का वैलक्षण्य नहीं।

एकजीववादः—

आनन्दगिरि के विस्तृत व्याख्याग्रन्थ न्यायनिर्णय तथा शास्त्रप्रकाशिका में नाना जीववाद का खंडन तथा एक जीववाद का मंडन है।[3] एक ब्रह्म ही स्वतः मुक्त होने के कारण विद्यालम्बन है और अविद्या बद्ध होने पर अविद्याध्वस्ति के हेतु का अधिकारी है, अतः अनेक जीववादियों का मत श्रुतशास्त्रता का द्योतक है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनोबुद्ध्यादि रूप उपाधिगत आभास के द्वारा ब्रह्म ही बद्ध होता है और आभास विशिष्ट उपाधि के नाश होने पर मुक्तवत् उपचरित होता है अतः एक जीववाद आभास प्रस्थानाभिमत है। विषयविषय्याकारतया अन्तःकरण का परिणाम अन्तःकरण व्यापार

---

१. 'उपाधिस्थित वैशिष्ट्येन प्रतिबिम्बस्यासत्त्वमाभासश्च न बिम्बधर्मो नाऽप्युपाधिधर्मो नाप्युभयधर्मो नापि स्वतंत्र इत्यत्र प्रतिपादितम्। अतः आभासात्मा जीवोऽविद्या कल्पित इत्यर्थः।' (वाक्यसुधाटीका, श्लोक ३६), 'न हि जीवः साक्षात् परमात्मैव, उपाधिव्यवधानात्। नापि वस्त्वन्तरं।' 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' इत्यादि श्रुतिस्मृतिविरोधादित्यर्थः।' (न्यायनिर्णयः, अ० २, पा०३ सू० ५० पृ० ५६१ तथा, जीवस्य मृषात्वे स्वीकृते सति तस्येहलोकपरलोकौ तद्धेतुर्मोक्षस्तद्धेतुश्चेति सर्वं मृषा स्यादित्यर्थः॥' (छान्दोग्यभाष्यटीका ६।४।३। पृ० २६८)

२. जीवशब्दवाच्यस्य मिथ्यात्वेऽपि तल्लक्ष्यस्य सन्मात्रस्य सत्यत्वमिति व्यवस्थेत्यर्थः।' (छान्दोग्यभाष्यटीका ६।४।३ पृ० २६८) तथा, प्रतिबिम्बो हि वाच्यरूपेण मिथ्या लक्ष्यरूपेण तु बिम्बमेव ···।' (केनवाक्यविवरणव्याख्या ३।१४।१ पृ० ३१)

३. 'आश्रयशब्दस्य श्रुतार्थत्यागायोगाज्जीवत्वापत्तेश्चाव्याकृतसंबन्धकृतत्वात् परिशुद्धे चिद्धातौ तत्संबन्धध्रौव्यात्। अतो भाष्यबहिर्भूतो नानाजीववादः।'(न्यायनिर्णयः अ० १ पा० २ सू० २१ पृ० १६१-६२ पं० १२-१३) 'अत एव उपाधिना जीवत्वे नाना जीववादोऽपि प्रत्युक्त इत्याह-एवमिति।' (वही-अ० २, पा० २ सू० ६ पृ० ६३७ पं० ८-६) तथा 'एकमेव ब्रह्म स्वतो मुक्तत्वाद् विद्यालम्बनमविद्यया बद्धत्वाच्च तद्ध्वस्तिहेत्वधिकारीत्यर्थः। एतेनानेकजीववादिनामश्रुतशास्त्रत्वमादर्शितम्।' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० १ ब्रा०४ वा० १३३६ पृ० ६८०)

है और इस विषयविषय्याकारतया परिणममान अन्तःकरण में आत्माभास का उदय आत्म-व्यापार है। इन अनेक व्यापारों के संनिपात होने पर ब्रह्म को 'अहं संसारी' यह अविद्यात्मक भ्रम उत्पन्न होता है[1] तथा जब उक्त अन्तःकरणगत चिदाभास संहृत अर्थात् केवल अनुपहित रूप से अवस्थित[2] रह जाता है तब स्वाभास द्वारा संसारित्वाभास का अनुभव करता हुआ आत्मा[3] अपने अप्राप्तवदवभासमान असंसारी स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। स्पष्ट शब्दों में श्रुतियाँ अनवच्छिन्न सदानन्दैकतान चिद्धातु में ही बन्ध मोक्ष का उपचार करती[4] हैं अतः अद्वैत राद्धान्त में अनेक जीववाद का आश्रयण अनुपपन्न है। बन्धमोक्ष के असांकर्य निवारण के लिए आनन्दगिरि ने 'चिदाभासाः जीवाः' इत्यादि बहुवचनात्मक पदों से[5] जीव की अनेकता की भी व्यवस्था की है। यद्यपि चिदाभास एक है तथापि प्राकृतभूतारब्ध सात्त्विक-राजस-तामस-व्यष्टिबुद्ध्युपाधि-संबंध से नानात्व को प्राप्त होता है अतः इस नाना चिदाभास के द्वारा ब्रह्म की औपचारिक 'नाना जीवरूपता' निर्दिष्ट की जाती है।[6] जीवपद का वाच्य चिदाभास है[7] अतः

---

१. 'विषयविषय्याकारोऽन्तःकरणस्य तत्र चिदाभासोदयश्चाऽऽत्मनो व्यापारस्तथा चानेकव्यापारसंनिपाते सत्यहं संसारीत्यविद्यात्मको भ्रमो जायते।' (बृहदारण्यक-भाष्य टीका, अ० ४, ब्रा० ४ मं० ६ पृ० ६१६)

२. 'उपाधिलये सत्युपहितस्यानुपहितमात्रत्वेनावस्थानाल्लयोक्तिर्न वस्तुतः।' (शास्त्र प्रकाशिका, अ०४ ब्रा०३ वा० ११७४ पृ० १५८८)

३. 'आत्मा वस्तुतोऽद्वयोऽपिस्वाविद्यया बुद्ध्यादौ संसारहेतौ स्वाभासद्वारा संसारित्वाभासमनुभवतीत्यर्थः।' (वही, अ०४ ब्रा०३ वा० ४०६ पृ० १४७७)

४. 'तत्तद्रूपेण स्थितस्य 'ब्रह्मचैतन्यस्यैव विद्याविद्याभ्यां बन्धमोक्षौ श्रुत्योच्यते न परिच्छिन्ने जीवशब्दिते प्रतिबिम्बादौ देवादौ कल्पिते बन्धमोक्षौ कल्प्येते कल्पनाया वस्तुनिष्ठत्वात्तन्न पूर्वापरविरोधः।' (शास्त्रप्रकाशिका—अ०१ब्रा०४ वा ०१४४१-४२ पृ० ७१८)

५. न्यायनिर्णयः अ०१ पा०१ सू० ४ पृ० १०१; अ० १ पा० १ सू० ६ पृ० ११३; अ० १ पा० ३ सू० १५ पृ० २२८; माण्डूक्यगौडपादीयभाष्यव्याख्या—पृ० २; पृ० ३; १।६। पृ० ३४ ; १।६ पृ० ३५ ; ४।४६ पृ० १८६ ; ४।९६ पृ० २१८ तथा केनवाक्यविवरणव्याख्या-२।१२।४ पृ० १६)

६. तस्यैव प्राकृतभूतारब्धसात्त्विकराजसतामसव्यष्टिबुद्ध्युपाधिसंबन्धान्नानाजीवरूपता।' (शास्त्र प्रकाशिका, अ०१ ब्रा०४ वा० १५२ पृ० ४५७) तथा अन्तःकरण विभक्तचैतन्याभासात् व्यष्टिरूपात्...' (वही अ० १ ब्रा०४ वा० १३४९-५० पृ० ७०२)।

७. 'तदाभासो जीवशब्दवाच्यः' (छान्दोग्यभाष्यटीका ३।४।३ पृ० २६७)

चिदाभास की अनेकता से जीव की अनेकता संभव हो जाती है। जैसे अग्नि से तत्समानरूप वाले विस्फुलिङ्ग उत्पन्न किए जाते हैं, उसी प्रकार चिदात्मा से चिदात्म-स्वभाव चिदाभासात्मक जीव उत्पन्न किये जाते हैं।[१] चिदाभासात्मक जीवों की चिदात्मस्वभावता आनन्दगिरि के आभास-प्रस्थान की विरोधिनी नहीं क्योंकि यह पहले कहा जा चुका है कि वह *आभासात्मा जीव को वाच्यत्वेन मृषा मानते हुए भी लक्ष्यत्वेन* सन्मात्र अर्थात् सत्य मानते हैं। यह शंका कि—जैसे अग्नि का विस्फुलिङ्गात्मना जन्म-व्यवहार वास्तव है, उसी प्रकार परमात्मा का भी तत्तद्विशिष्ट चिदाभासरूप से जन्म-व्यवहार वास्तविक माना जाय—उपयुक्त नहीं क्योंकि परमात्मा के द्वारा चिदाभास का जन्म उसी प्रकार औपचारिक है जैसे आकाश से घटाकाशादि का जन्म परिकल्पित है।[२] चिदाभास जीवों के नानात्व से आभास प्रस्थानाभिमत एक जीववाद की परस्पर पराहतार्थता की आशंका भी नहीं की जा सकती क्योंकि बुद्धयुपाधिक चिदाभास जीवों की चिदात्मत्वेन एकरूपता है, नानात्व तो केवल अज्ञानकृत व्यष्टि अन्तःकरणों की विभिन्नता के कारण प्रतीत हो रहा है।[३] 'एष त आत्मा'; 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढः' 'तत्त्वमसि'; 'अहमेवेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वम्', 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा', इत्यादि श्रुति वाक्यों से भी यह ज्ञात होता है कि नानात्व कल्पितोपाधिप्रयुक्त है।[४] यह शंका—कि एक जीव वाद में संसृति की समस्त व्यव-स्थाओं की अनुपपत्ति होगी और तत्त्वनिश्चय दुर्लभ हो जायगा—उपयुक्त नहीं; क्योंकि

---

१. रवेरंशवो यथा वर्तन्ते तथा पुरुषस्य स्वयं चैतन्यात्मकस्य चेतोरूपाः चैतन्याभासाः जीवाश्चेतोऽशंवो निर्दिश्यन्ते।···यथाग्निना समानरूपा विस्फुलिङ्गा जन्यन्ते तथा चिदात्मना समानस्वभावा जीवास्तेनोत्पाद्यन्ते। (माण्डूक्यगौडपादीयभाष्यव्याख्या, १।६ पृ० ३५)

२. अग्नेर्विस्फुलिङ्गात्मना जन्मवत्परस्यापि तत्तद्विशिष्ट चिदाभासरूपेण जन्म-व्यवहारो वास्तवः स्यादित्याशंकयाह। जन्म इति।' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० २ पा० १ वा० ४१७)

३. 'बुद्धयुपाधिकाः पुरुषाः जीवास्तेषां चिदात्मत्वेनैकरूपतैव तदज्ञानकृतान्तःकरणवलाद् भिन्नता भात्यतो दृष्टान्तस्य साध्यविकलतेत्यर्थः।' (वही, अ० ४ पा० ३ वा० १२२२ पृ० १५९७); 'सर्वजीवानामेकत्वं नानात्वं चेति पूर्वेण सम्बन्धः (बृ० भा० टी० १।४।६ पृ० ६७१) तथा 'तत्त्वतो विभागेपि देहकल्पनया भेदधीरित्यर्थः।' (माण्डूक्य गौडपादीयभाष्यव्याख्या १।२। पृ० २७।

४. 'कल्पनया परस्य नानात्वं वस्तुतस्त्वैकरस्यमित्यत्र श्रुतीरुदाहरति–तथेत्यादिना।' (बृ० उ० भा० टी० ३।८।१२ पृ० ४४८)

जैसे प्रबोध के पूर्व स्वप्नकालिक अशेष व्यवस्था संभव होती है और प्रबोध के पश्चात् सकल व्यवस्था का अभाव हो जाता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के पूर्व संसार के अखिल व्यवहार उपपन्न हैं तथा तत्पश्चात् उनका अभाव इष्ट है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म अनाद्यविद्या के कारण अशेष व्यवहारास्पद होता है। अतः एक जीववाद में कोई दोषलेश नहीं।[1]

जीव की त्रिविध अवस्थाएँ

(१) जागरितावस्था—साभास बुद्धि परिणामरूप उपाधियों से जब आत्मा का अर्थ विशेष से सम्बन्ध होता है, तब चक्षुरादि इन्द्रियों से इन्हीं स्थूल अर्थों का दर्शन करता हुआ जीव स्थूल विशेष देह के ऐक्यारोप को प्राप्त करता है।[2] इन्द्रियों से अर्थोपलब्धि करते हुए आत्मा की यह देहैक्य-भ्रान्ति-प्राप्ति की अवस्था आनन्दगिरि के आभास-प्रस्थान के अनुसार जागरितावस्था है। जागरितावस्था तथा स्थूल देह का अभिमानी जीव 'विश्व' कहा जाता है।[3] सुख-दु.खादि साक्षात्कारात्मक विषय भोगों की वाह्येन्द्रियोपनीतता[4] अथवा देवतानुगृहीत बाह्येन्द्रियों के द्वारा बुद्धि की सुख दुखादि विषयाकारपरिणामजन्यता[5] भोगों की स्थूलता या स्थविष्ठता है। इन स्थविष्ठ भोगों का भोगी होने के कारण माण्डूक्योपनिषद् में विश्व को 'स्थूलभुक्' कहा गया है, यह शंका कि - जाग्रत्काल में सावयव-सक्रिय बुद्धि-इन्द्रिय का वहिःसर्पण हो सकता है, निरवयव आत्मा का नहीं; अनुपयुक्त है क्योंकि जैसे सर्वव्यापक सविता अपनी रश्मियों से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार स्वतः अनवयव-अक्रिय आत्मा भी स्वाज्ञानविशिष्ट-व्यक्तचैतन्याभासाख्यविशेषयुक्तधीसहित हो श्रोत्रादि द्वारा

---

१. 'नन्वेकजीववादेऽपि सर्वव्यवस्थानुपपत्तेस्तस्त्वनिश्चयदौर्लभ्यं तुल्यमेवेति चेन्नेत्याह— ये त्विति। स्वप्नवत्प्रबोधात्प्रागशेषव्यवस्थासम्भवादूर्ध्वं च तदभावस्येष्टत्वादेकमेव ब्रह्मानाद्यविद्यावशादशेषव्यवहारास्पदमिति पक्षे न काचन दोषकलेति भावः।' (वही १।४।६ पृ० ६७-६८)

२. 'बुद्धिपरिणामा एवोपाधयस्तैरस्यार्थविशेषयोगाच्चक्षुरादि—इन्द्रियैः तानेव स्थूलार्थान् पश्यन् जीवस्तद्विशेषेणस्थूलदेहेनैक्यारोपमापन्नो जागर्तीति व्यवह्रियत इत्यर्थः।' (न्यायनिर्णयः १।१।६ पृ० ११४ पं० ५-६)

३. पंचीकरण विवरणम्, पृ० २८।

४. 'वाह्येन्द्रियोपनीतत्वं विषयाणां स्थौल्यम्—' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० १, ब्रा० ४, वा० ७४४ पृ० ५८२)

५. 'भोगाः सुख दुःखादि साक्षात्कारास्तेषां स्थविष्ठत्वं स्थूलतमत्वं देवतानुगृहीत-वाह्येन्द्रियद्वारा बुद्धेस्तद्विषयाकारपरिणामजन्यत्वं तान्भुक्त्वा···।' (माण्डूक्यगौडपादीय-भाष्य व्याख्या, पृ० २)

सम्पूर्ण बाह्य विषयों को व्याप्त कर लेता है।[1] सारांश में आत्मा का यह बहिः सर्पण स्वाभासवर्त्मना है स्वतः नहीं।

(२) स्वप्नावस्था—बाह्येन्द्रियों के उपसंहृत होने पर जागरित वासना के अनुसार मन का जाग्रत्कालिक विषयों के आभासाकार में अवभासन स्वप्न है।[2] विचित्र जाग्रद्वासनाओं से विशिष्ट मनोमात्रोपाधि जीव इस स्वप्नावस्था में उच्चावचवासनामात्र देहों का अनुभव करता है।[3] जाग्रद्वासना के आश्रयभूत मनोमात्रोपाधिविशिष्ट-स्वात्मभोगों के भोगी जीव को 'तैजस' कहा जाता है। विषय भोगजन्य वासना ही इन्द्रियों के द्वारा स्वप्न में विषयों की अवभासिका होती है। अतः बाह्य विषय में जो अनुभवजनित संस्कार हैं, वही स्वप्न के हेतु हैं।[4]

(क) बाह्यार्थानुभव का स्वरूप—अभी कहा गया है कि स्वप्नावस्था का विविध-विचित्र-पदार्थ-सार्थ बाह्यानुभवजनित संस्कार हेतुक हैं। अतः जिज्ञासा होती है कि बाह्यार्थानुभव किसका धर्म है? आत्मा कूटस्थ है, अतः प्रतिविषयक आगन्तुक बाह्यार्थानुभव आत्मा का धर्म नहीं हो सकता। देह, इन्द्रिय तथा मन का अचेतनत्व निश्चित है अतः देहादिकों का भी धर्म नहीं। यद्यपि देहेन्द्रिय मन और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध होने पर बाह्यार्थानुभव उत्पन्न हो जाता है; तथापि यह जायमान विषयानुभव किसका धर्म है? नहीं ज्ञात होता। यह कथन-कि देह-इन्द्रिय-मन तथा आत्मा के परस्पर मिलने पर विषयानुभव का दर्शन होता है अतएव बाह्यार्थानुभव सबका धर्म है—उपयुक्त नहीं; क्योंकि 'संघात चेतनावाद' का शास्त्रकारों ने खंडन किया है। यह

---

१. 'बुद्धेरिन्द्रियाणां च सावयवत्वसक्रियत्वाभ्यां बहिःसर्पणेऽपि निरवयवस्याऽऽत्मनो न तद्युक्तमित्याशंकयाऽऽह। तत इति। यतो बुद्धेः करणानां च बहिःसर्पणं ततः स्वतोऽनवयवोऽक्रियोऽप्यात्मा स्वाज्ञानविशिष्टो व्यक्तचैतन्याभासाख्यविशेषयुक्तधी-सहितः श्रोत्रादिद्वारा सर्वानर्थान्व्याप्नोति रश्मिद्वारा सर्वव्यापकसवितृवत्।' (शास्त्रप्रकाशिका-२।१।३३६)

२. 'बाह्येषु करणेषूपसंहृतेषु जागरितवासनानुसारेण मनसस्तदर्थाभासाकारावभासनं स्वप्न-शब्दितम्।' (माण्डूक्यगौडपादीयभाष्यव्याख्या, ४।८७। पृ० २१२)

३. 'जाग्रद्वासनाभिर्विचित्राभिर्विशिष्टोमनोमात्रोपाधिर्जीवः स्वप्नानुच्चावचान् वासना-मात्रदेहाननुभवन् 'एवमेव खलु सोम्यैतन्मनः' इति मनः शब्दवाच्य इति मनो द्वारा लक्ष्यो भवति।' (न्याय निर्णयः अ० १, पा० १, सू० ६ पृ० ११८ पंक्ति ३-८)

४. 'एषा वासना ·····अक्षैः इन्द्रियैः बहिः विषयान् कल्पयति इति योजना। एतदुक्तं भवति—बाह्यविषये अनुभवजनिता संस्काराः स्वप्नहेतव इति।' (वाक्यसुधा टीका, श्लोक ११)

शंका-कि देहरूपादिमत् है अतः घटादि के समान इसके अचेतनत्व का निश्चय होता है, भौतिक विषयक इन्द्रियों की केवल भौतिकता ही नहीं ज्ञात होती अपितु करणत्वेन इनकी कुठारादि के समान चैतन्याश्रयता भी अनुपपन्न है, धर्मिग्राहक प्रमाण से मन का भी करणत्व सिद्ध होता है अतः मन इन्द्रिय के समान अचेतन होगा, चैतन्य के अचेतनत्व का कोई प्रश्न नहीं अतएव पारिशेष्यात् विषयानुभव को आत्मा का ही धर्म क्यों न मान लिया जाय ?—भी अनुपयुक्त है। क्योंकि आत्मनिर्गुणत्व प्रतिपादक श्रुतियों से आत्मा में उक्त परिशेष की सिद्धि असम्भव है। बुद्धि अर्थात् ज्ञान अर्थ प्रकाशक है और जैसे प्रदीप का प्रकाश स्वाश्रित द्रव्य अर्थात् दीपादि के अभाव मे असंभव है, उसी प्रकार प्रकाशगुणत्वादि के रूप में सम्मत ज्ञान का भी जन्य स्वाश्रित द्रव्य जन्म के बिना अनुपपन्न है। इस युक्ति से भी आत्मा में पारिशेष्यात् विषयानुभव सिद्धि का विरोध होता है।[1] अतः विषयानुभव 'तत्सत्यं स आत्मा' (छा० उ० ६।८।४) तथा 'वाचारम्भणं विकारो नाम धेयम्।' (छा० उ० ६।१।४) इत्यादि श्रुतियो से प्रतिपाद्य सत्य चिदात्मा तथा अनृत मन आदि विकारगणों का मिथुनीभाव लक्षणात्मक विभ्रम मात्र है।[2] आभास-प्रस्थान की परिष्कृत शब्दावली के अनुसार—'चिदात्मा में अध्यास परिनिष्पन्न साभास अहंकार की चैतन्याभास व्याप्त होने के कारण विषयपर्यन्त जो जलूकावत् दीर्घी भावलक्षणा वृत्ति है, वही विषयानुभव है।'[3] परिमित शब्दों में जलूकावत् प्रतिविषय सर्पणात्मिका साभासान्तःकरण वृत्ति ही बाह्यविषयानुभव है। इस अन्तःकरण-वृत्ति के आश्रयभूत अहंकार से अभिन्न-सा अवभासमान चिदात्मा प्रमातृत्व का अनुभव करता हुआ जागरणावस्थावान् प्रतीत होता है तथा जाग्रद् भोगजनक कर्मक्षय होने पर अहंकार विकाररूप विषयानुभव स्वाश्रयभूत स्वाभासाहंकार में वासना रूप से विलीन रहता है। स्वप्नावस्था में यह सर्वजाग्रत वासनाश्रयभूत अन्तःकरण ही ग्राह्य ग्राहकाकारतया परिणत होता है।[4]

---

१. 'नैवम्, तस्य निर्गुणत्वश्रुतिविरोधेन परिशेषासिद्धेः। अर्थ प्रकाशो बुद्धिरिति प्रकाशगुणत्वादिति मतस्य ज्ञानस्य प्रदीपप्रकाशवत् स्वाश्रयद्रव्यजन्मव्यतिरेकेण जन्मानुपपत्तिरिति युक्तिविरोधाच्च परिशेषासिद्धिः।' (वाक्यसुधाटीका, श्लोक ११)

२. 'तस्माद् विषयानुभवो विभ्रम एव स च सत्यानृतमिथुनीभावलक्षणः।' (वही—श्लोक ११)

३. 'तथा च चिदात्मनि अध्यासपरिनिष्पन्नाहंकारस्य चैतन्य च्छायाव्याप्ततया साभासस्य विषयपर्यन्तं जलूकावद्दीर्घीभावलक्षणा या वृत्तिः सा विषयानुभव इत्यागतम्।' (वही, श्लोक ११)

४. 'एवमहंकारविकाररूपो विषयानुभवः स्वाश्रये साभासाहंकारे एव वासनारूपेण निलीयते। एवं सर्वजाग्रतवासनाश्रयमन्तःकरणं'' '''ग्राह्य ग्राहकरूपेण विवर्तमानं भवति।' (वाक्यसुधाटीका, श्लोक ११)

(ख) स्वप्न प्रपंच का उपादान तथा अधिष्ठान—आनन्दगिरि के अनुसार स्वप्न प्रपंच का उपादान सामासान्तःकरण है। वाक्यसुधा-टीका में उन्होंने स्पष्ट रूप से निद्रादिदोषोपप्लुत, अदृष्टसमुद्बुद्धवासनाविशिष्ट सर्वजाग्रतवासनाश्रय अन्तःकरण के स्वयमेव स्वाप्नकालिक ग्राह्य-ग्राहक वस्तुओं के आकार में परिणत होने के तथ्य का उद्घाटन किया है।[१] प्रस्तुत मत मधुसूदन सरस्वती के सिद्धान्त बिन्दु में प्रथम पक्ष के रूप में संगृहीत है।[२] प्रकृत शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में उल्लिखित किया गया है कि 'मूलाविद्यावच्छिन्न चैतन्य स्वप्नावस्था का अधिष्ठान है'—यह मत आभासवादी आचार्य सुरेश्वर सम्मत कहा जा सकता है।[३] आनन्दगिरि आभासवादी हैं तथा सत् की सर्वाधिष्ठानता मानते हैं।[४] इसलिए उन्होंने सुरेश्वराचार्य के मत का समर्थन किया है।[५] सत् केवल स्वप्नावस्था का अधिष्ठान ही नहीं, अपितु द्रष्टा[६] तथा साक्षि[७] भी है।

(३) सुषुप्ति अवस्था—जाग्रद् भोग हेतुक चैतन्याभासव्याप्त स्वकीय इन्द्रिय-वृत्तियों का तथा स्वाप्न भोग हेतुक चिदाभास-विशिष्ट वासनाश्रयभूत उपसंहृतकरण-

---

१. 'अन्तःकरणं निद्रादिदोषोपप्लुतमदृष्टादिसमुद्बुद्धवासनं स्वयमेव ग्राह्यग्राहक-रूपेण विवर्तमानं भवति।' (वाक्यस, धाटी का, श्लोक ११)।

२. 'तत्र च मन एव गजतुरगाद्यर्थाकारेण विवर्तते अविद्यावृत्त्या च ज्ञायते इति केचित्।' (सिद्धान्तबिन्दु, पृ० ६२, गे० ओ० सी०)

३. सुरेश्वराचार्यप्रतिष्ठापित आभास-प्रस्थान, पृ० ८३।

४. 'न च तस्यासत्त्वं—सर्वाधिष्ठानत्वात्—इत्युक्तम्।' (तर्कसंग्रहः, प्रथम परिच्छेद, पृ० ११)

५. तदधिष्ठानतया तदनुगतश्चिदात्मा स्वप्नावस्थावानिव भवति।' (वाक्यसुधाटीका, श्लोक ११)

६. वासना हि जायमानाश्चिदाभासव्याप्ता जायन्त आत्मा तु स्वतंत्रो न केनचित् अपि संबध्यतेऽतस्तयोरात्मवासनयोरन्योन्यसंगत्यभावाद् वासनानामात्मनि धी-द्वाराऽऽरोपितत्वाच्चाऽऽरोपितमात्मनस्तद्द्रष्टृत्वम्।' (शास्त्र प्रकाशिका, ४।३।८८९ पृ० १५४०)

७. 'कूटस्थाद्वयस्यैव चैतन्याभासव्याप्तजाग्रद्वासनानुसारेण स्वप्ने प्रतीचः साक्षित्वं तथाऽन्यान्तरेऽपि काल्पनिकं स्वयंज्योतिपस्तादविरुद्धमित्यर्थः।' (वही, ४।३।९६ पृ० १५४३)

ग्राम अन्तःकरण वृत्ति का प्रत्यक् चैतन्य में उपसंहार सुषुप्ति है।[1] इस सुषुप्ति काल में जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था के विभक्ततया वर्तमान साभासान्तःकरण अर्थात् विशेष दर्शन के कारणभूत प्रमाता, चक्षुरादि प्रमाण, रूपादि प्रमेय सभी अविद्या प्रतिपन्न रहते हैं और कारणमात्रतया अवस्थित होने के कारण अभिव्यक्त नहीं होते।[2] साभासान्तःकरण का कारण से ऐक्य होने पर चिदाभासग्रस्त अहंकार-व्याप्तिकृत देह का चैतन्य उसी प्रकार वियुक्त हो जाता है जैसे घटादि सदैव अचेतन रहते हैं।[3] स्पष्ट शब्दों में सुषुप्ति वह अवस्था है जहाँ न तो स्थूलदेह की चेष्टाएँ रहती हैं, न मन का वासनात्मक स्मरण रहता है और न विशेष विज्ञान जनक प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय विभाग की अभिव्यक्ति ही रहती है। यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में सुषुप्त समस्त विशेष विज्ञान विरहित रहता है तथापि जागरित और स्वप्नावस्था की सर्वविषयविज्ञातृत्व लक्षणों वाली भूत अर्थात् निष्पन्न गति से पूर्णतः सब जानने के कारण 'प्राज्ञ' कहा जाता है। अथवा प्रज्ञप्ति इस (सुषुप्त) का असाधारण रूप है, अतएव सुषुप्त्यवस्थाभिमानी जीव प्राज्ञ है।[4] यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में भी अविद्या बनी रहती है तथापि सुषुप्ति में कभी-कभी

---

१. 'स्वकीयेन्द्रियवृत्तीनां जाग्रद्भोगहेतूनां चैतन्याभासव्याप्तानां प्रतीच्युपसंहारे सुषुप्तिः।' (वही, अ० २, ब्रा० १ वा० ३३७) तथा 'यत्र यस्यामवस्थायां तदेतत्स्वप्ने यथा स्यात्तथा सुप्तः स्वापावस्थायां प्राप्तो भवति तस्यामवस्थायां उपसंहृतकरणग्रामस्तद् व्यापारकृतकालुष्यहीनः स्वप्नमज्ञानमात्रतया विलापयन्मुक्ताद्व्यावृत्तस्तैजसान्तरभावी प्राज्ञः ' (न्यायनिर्णयः, अ० १ पा० ३ सू० १६ पृ० २३६)।

२. 'साभासमन्तःकरणं यत्स्वप्नेऽविदिति विशेषदर्शनकारणं प्रमातृद्वितीयं तस्मादन्यच्चक्षुरादिप्रमाणं रूपादि च प्रमेयं विभक्तं तत्सर्वं जाग्रत्स्वप्नयोरविद्याप्रतिपन्नं सुषुप्तिकाले कारणमात्रतां गतमभिव्यक्तं नास्ति।' (बृहदारण्यकभाष्यटीका ४।३।२३ पृ० ५७१)

३. 'सुप्तौ' सुषुप्त्यवस्थायाम् 'अहंकारलये' अहंकारे कारणैकतां प्राप्ते सति देहोऽपि स्थूलः 'अचेतनः' चेतनावियुक्तो भवेत्। अपि शब्दो बाह्यघटादि दृष्टान्तार्थः। यथा सदैव घटादयो चेतना एव तथा देहोऽपि अचेतन एव सदा चैतन्यव्यभिचारित्वात्। चिच्छायाग्रस्ताहंकारव्याप्तिकृतं हि देहे चैतन्यं तद्वियोगे वियुज्यते।' (वाक्यसुधाटीकाश्लो० १०)

४. 'यद्यपि सुषुप्तस्तस्यामवस्थायां समस्तविशेषविज्ञानविरहितो भवति तथापि भूता निष्पन्ना या जागरिते स्वप्ने च सर्वविषयज्ञातृत्वलक्षणा गतिस्तया प्रकर्षेण सर्वतः समन्ताज्जानातीति प्राज्ञ शब्दवाच्यो भवतीत्यर्थः। तर्हि प्राज्ञशब्दस्य मुख्यार्थत्वं न सिध्यतीत्याशंक्याऽऽह-अथवेति।' (माण्डूक्यगौडपादीयभाष्यव्याख्या, पृ० २३)

निम्न कारणों से अविद्या का अभाव कह दिया जाता है।—(१) 'अज्ञोऽहम्' इस प्रकार विभक्त रूप से भासमान अविद्या यद्यपि परमार्थतः है ही नहीं तथापि प्रतीतितः तीनों अवस्थाओं में उसके अस्तित्व का व्यवहार होता है। सुषुप्ति में यह विभक्ततया नहीं ज्ञात होती अर्थात् अनभिव्यक्त रहती है, अतः सुषुप्ति में इसका अभाव बता दिया जाता है।[1] (२) अविद्या मातृपक्षतया अर्थात् साभास अन्तःकरणनिष्ठतया भासित होती है, पर अर्थात् आत्मपक्षतया नहीं; स्वापकाल में प्रमाता का अभाव रहता है अतः इस अवस्था में अज्ञानाभाववचन युक्तिसंगत है।[2] निष्कर्ष यह है कि अविद्या का इस अवस्था में अभाववचन केवल उसके अनभिव्यक्त होने का परिचायक है, अनस्तित्वावबोधक नहीं। यह शंका-कि सुषुप्ति में द्रष्टा का निषेध किया जाता है और 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टृ' श्रुति से आत्मा द्रष्टा के रूप में श्रावित है। परिणामतः सुषुप्ति में आत्मा ही निषेध्य है—उपयुक्त नहीं; क्योंकि दृगात्मा के शब्दादि दर्शन में श्रोत्रादि करणोपकरणभूत साभासान्तःकरण ही हेतु है, अतः अक्षर को द्रष्टा नहीं स्वीकार किया जा सकता।[3] स्पष्ट शब्दों में साभासान्तःकरणमात्र चक्षुरादि द्वारा विषयाकारतया परिणत हो द्रष्टृ शब्द वाच्य होता है अतः सुषुप्ति अवस्था में द्रष्टा का अभाव कह देने से आत्मा के अभाव की आशंका व्यर्थ है।

बन्ध-मोक्ष तथा बन्ध हेतु :—

अज्ञान तथा तत्कार्यभूत प्रातिभासिक शरीरादि संतान में जो 'ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादि अनात्मबुद्धि अर्थात् मिथ्याभिनिवेशात्मक प्रत्यय है, वही आनन्दगिरीय आभासप्रस्थान के अनुसार आत्मा का बन्ध है।[4] ऊपरि निरूपित सुषुप्ति एवं जागरितादि

१. शास्त्र प्रकाशिका, अ० ४, ब्रा० ३, वा० १५१७ पृ० १६४५। बृहदारण्यकभाष्यटीका—४।३।१६ पृ० ५५१; ४।३।२१ पृ० ५५८; ५६० तथा छा० भा० टी० ६।६।१ पृ० ३२२।

२. 'किं च मातृपक्षतया विद्या भासते न परपक्षतया न च स्वापे माताऽतो युक्तं तदा तदभाववचनम्।' (शास्त्र प्रकाशिका, अ० ४, ब्रा० ३ वा० १५१७ पृ० १६४८)

३. 'द्रष्टा स्वपि निषिध्यते चेदात्मैव निषेध्यः स्यान्नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेति श्रुतेरित्याशंक्याह—श्रोत्रादीति साभासान्तःकरणं श्रोत्रादिकरणोपकरणं दृगात्मनः शब्दादिदर्शने परिणामितया यतो हेतुस्तदक्षरं न दृष्टृ स्वीक्रियते।...।' (वही, ४।३।१५२७ पृ० १६४९)

४. न्याय निर्णयः—'आत्मनोऽज्ञानतत्कार्यसंबन्धो बन्धः।' (१।१।१ पृ० ३७ पं० ४); बन्धविश्लेषं मुक्तिमवधार्य वक्तुं, बन्धमनुवदति—देहादिष्विति। (१।३।२ पृ० २०७ पं० १०) तथा 'वाचारम्भणमात्रे विकारेऽनृते शरीरादौ ब्राह्मणोऽहमित्याद्यभिसन्धानरूपो मिथ्याभिनिवेशात्मको यः प्रत्ययः।'(छा० भा० टी० २।२३।१ पृ०१०३)

अवस्थाओं में भी अज्ञान तथा अज्ञान के कार्यों से आत्मा का सम्बन्ध बना रहता है अतएव इन तीनों अवस्थाओं को भी आनन्दगिरि ने बन्ध का पर्याय माना है। चिद्धातु जाग्रत्काल में पुत्रादि के प्रति 'अहं-मम' आदि का अभिमान करता हुआ पुत्रादि के वश में रहता है। स्वप्नावस्था में पुत्रादि की नाशदृष्टि से वासनामय रोदनादि का अनुभव करता है तथा स्वापावस्था में विशेपज्ञानशून्य रह अज्ञानमात्र के वश में स्थित रहता है और इस प्रकार बन्धापरनाम जागरितादि अवस्थाओं के कालुष्य से दूषित आत्मा का जो रूप है, वह संसार दशा में अवस्थित हो जाता है।[1] अवस्थात्रय के कालुष्य से दूषित होने वाला आत्मा का यह स्वरूप शुद्ध नहीं प्रत्युत गौण या साभास रूप है,[2] इसी के द्वारा उसे संसारित्वाभास का अनुभव होता है[3] और वह बद्ध प्रतीत होता है।[4] इन्हीं अज्ञान एवं अज्ञान के कार्यों से आत्म-सम्बन्ध-विश्लेप आत्मा का मोक्ष कहा जाता है।[5] अन्तःकरण विशिष्ट जीवाख्य प्रतिबिम्ब का बन्ध-मोक्ष न कह कर

---

१. 'जागरिते पुत्रादावहं-ममाभिमानादन्धवत्परवशो भवति स्वप्ने तन्नाशदृष्ट्या वासनामयं रोदनाद्यनुभवति सुपुप्ते विशेपविज्ञानशून्यश्चिद्धातुरज्ञानमात्र परवशस्तिष्ठतीत्यवस्थात्रयेण बन्धापरनाम्ना कालुष्येण दूषितं यदात्मरूपं तेनात्मा संसारदशायामवतिष्ठते।' (न्यायनिर्णयः अ० ४, पा० ४ सू० २ पृ० ८६३ पं० ३-४)

२. 'चिदात्मनो हि वास्तवं शुद्धं मुख्यं स्वरूपम्। तस्यैव च कल्पितं गौणं चिदाभासरूपं द्वितीयं स्वरूपं जीव शब्दवाच्यम्।' (अभ्यंकरः, सिद्धान्तबिन्दु व्याख्या पृ० ४५)

३. 'आत्मा वस्तुतोऽद्वयोऽपि स्वाविद्यया बुद्धयादौ संसारहेतौ स्थितः स्वाभासद्वारा संसारित्वाभासमनुभवति।' (शास्त्रप्रकाशिका, अ० ४ आ० ३ वा० ४०६ पृ० ११४७)

४. 'तस्मात् एकमेव ब्रह्म चैतन्यैकतानं अनाद्यनिर्वच्यानवच्छिन्नाविद्या सम्बन्धात् बद्धमिव प्रतिभासते।' (तर्कसंग्रहः, तृतीय परिच्छेद, पृ० १४०)

५. न्याय निर्णयः—'तद्विच्छेदो मोक्षः।' (१।१।१ पृ० ३७ पंक्ति ५), 'बन्धमनूद्य तद्विश्लेषं मोक्षमाचक्षाणः सूत्रं योजयति।' (१।३।२ पृ० २०७-८ पं० ११-१) तथा 'जीवानां क्रमेणानेकशरीरानुयायित्वात्प्रातिभासिकस्य शरीरादिसंतानस्य मिथ्याभिमानविषयत्वाच्छुक्तिरूप्यवदज्ञानबीजस्य विच्छेद आत्मनो मोक्षसंज्ञेति संबन्धः' (केनवाक्यविवरणव्याख्या, ३।१।४।१ पृ० ३१)

आत्मा का बन्ध-मोक्ष क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में आनन्दगिरि का कहना है कि अन्तःकरण विशिष्ट जीव का मोक्ष में अन्वय संभव नहीं, यदि अन्वय माना जायगा तो संसार की अनिवृत्ति का प्रसंग होगा और यदि अन्य का बन्ध और अन्य का मोक्ष माना जाय तो भी साधन का वैयर्थ्य होगा क्योंकि अन्य की निवृत्ति के लिए अन्य का प्रयत्न नहीं देखा जाता; इसीलिए उपाधिवैशिष्ट्य के द्वारा उपाधिप्रतिबिम्ब कल्प जीव के स्वरूप में बन्ध-मोक्ष की कल्पना की जाती है, उपाधिविशिष्ट कल्पित जीव में नहीं।[1]

चिदाभास और अज्ञान बन्ध के मुख्य हेतु हैं।[2] यह शंका कि 'पुण्यो वै पुण्येन' इत्यादि श्रुतियों के अवष्टम्भ से धर्माधर्म को ही बन्ध का हेतु मानना चाहिए-उपयुक्त नहीं, क्योंकि असंग आत्मा का प्रत्यगाभासवती अविद्या के बिना धर्माधर्म से सम्बन्ध नहीं हो सकता अतः आभासविशिष्ट अविद्या स्वयमेव ही धर्मादि के द्वारा बन्ध हेतु है।[3] कभी-कभी बन्ध को फल बताया गया है, पर इस कथन से पूर्वापरविरोध की आशंका उचित नहीं क्योंकि निर्विशेष चिदात्मा में अविद्या कर्माद्यात्मना विजृम्भित होती है अतः बन्ध के कर्मज होने पर भी उसके अविद्याजन्यत्व की हानि नहीं होगी।[4] सर्वप्रथम अनाद्यविद्यावृत्त अज्ञानप्रतिबिम्बित चिदात्मा देहादि आत्मा में आत्मत्वबुद्धि करता है, पुनः रागादि से प्रेरित होता है तत्पश्चात् कर्मानुष्ठान करता है और अन्ततः वर्तमान शरीरहेतुक कर्मक्षय होने पर यथाकर्म नूतन देह प्राप्त करके पुरातन शरीर को त्याग

---

१. 'आत्मन इव कस्मादुच्यते विशिष्टस्य बन्धमोक्षौ किं नेष्येते तत्र हि स्वरूपापेक्षत्वादिति। विशिष्टस्य मोक्षेऽन्वयासंभवादन्वये वा संसारानिवृत्तिप्रसंगादन्यस्य च बन्धेऽन्यस्य च मोक्षे साधनवैयर्थ्यादुपाधिवैशिष्ट्यद्वारेण स्वरूपस्यैवोपाधिप्रतिबिम्बकल्पस्य बन्धमोक्षौ।' (केनवाक्यविवरण व्याख्या, ३।१४।१ पृ० ३१); तत्त्वदृष्टेनाश्रितब्रह्मचैतन्यस्यैव विद्याविद्याभ्यां बन्धमोक्षौ श्रुत्योच्येते न परिच्छिन्नजीवनाश्रिते प्रतिबिम्बादौ देवादौ कल्पिते बन्धमोक्षौ कल्प्येते।' (शास्त्रप्रकाशिका अ० १ ब्रा० ४ वा० १४८१-८२ पृ० ७१८) तथा पंचप्रक्रिया टीका, विचार ५, पृ० ५८-६१)

२. 'चिदाभासाज्ञानयोर्बन्धहेतुत्वम्।' (शास्त्रप्रकाशिका, २।१।२१८ तथा, न्याय निर्णय, पृ० ५६१ पं०३)

३. 'न हि धर्माधर्मौ तद्धेतू ···अविद्यैव धर्मादिद्वारा तद्धेतुः।' (मुं० वा० व्या० पृ० १२)

४. 'निर्विशेषे चिदात्मनि तदविद्या कर्माद्यात्मना विजृम्भते तथा च बन्धस्य कर्मजत्वेऽपि नाविद्याजत्वहानिरित्यर्थः।' (शास्त्र प्रकाशिका, ३।३।१३)

देता है।[1] जीव के अनन्त-बन्धन-ग्रस्त होने का यही क्रम है। सारांश यह है कि अविद्या वशीभूत आत्मा का, तृणजलूकावत् एक शरीर से दूसरे शरीर अथवा इसी जन्म में जागरितादि अवस्थाओ का अभिमानी हो दुखादि का अनुभव बन्ध है तथा अविद्या तथा आभास बन्ध के मुख्य हेतु हैं क्योंकि धर्माधर्म कर्म और देहादिक बन्ध के सहायक तत्त्व होते हुए भी अविद्या विजृम्भित होने के कारण अविद्या हैं, अतः इनका मुख्य कारणत्व उपपन्न नहीं।

बन्ध-निवृत्ति का उपाय:—

बन्धनिवृत्ति का एकमात्र उपाय अज्ञानध्वंसकारक ज्ञान है—इस विषय में श्रुत्यन्तवेत्ताओं की विप्रतिपत्ति नहीं। ज्ञान के साधनों का विशद विवेचन सुरेश्वर सम्मत आभास-प्रस्थान नामक अध्याय मे किया जा चुका है, अतः यहाँ केवल उन साधनों का ही उल्लेख किया जायगा, जिनके विषय में आनन्दगिरि का सुरेश्वर से भिन्न या मौलिक मत है।

(१) कर्मों की विविदिषार्थता या विद्यार्थता—कर्मकांड[2] तथा तद्विहित यज्ञादि नित्य नैमित्तिक कर्मों,[3] वेदानुवचनों[4] तथा त्रिविध उपासनाओं का[5] विविदिषा के द्वारा मुक्ति में उपयोग मानकर एक तरफ तो आनन्दगिरि ने सुरेश्वर के आभास-प्रस्थान का

---

१. 'अनाद्यविद्यावृत्तश्चिदात्मा देहादौअ नात्मन्यात्मबुद्धिमादधाति, तद्युक्तो रागादिना प्रेर्यते, तत्प्रयुक्तश्च कर्मानुष्ठति, तत्कर्त्ता च यथाकर्म नूतनदेहमादत्ते, पुरातनं त्यजति इत्येवमविद्यात्वे संसारित्वमित्यर्थः।' (गीताभाष्यव्याख्यानम्, १३।३ पृ० १०) काठकोपनिषद्भाष्य व्याख्यानम् २।२। ११ पृ० १०२ तथा तैत्तिरीयभाष्य टिप्पणम् पृ० ८४)

२. सम्बन्धवार्तिक टीका, पृ० ६ तथा बृ० व I० टी० पृ० ४।

३. गीताभाष्यव्याख्यानम् ५।२५ पृ० ५०८; सम्बन्धवार्तिक टीका, वा० ८८ पृ० ३१।

४. सम्बन्ध वार्तिक, वा० १४ पृ० ११। (आनन्दगिरिव्याख्या)

५. 'अभ्युदयार्थानि प्रतीकोपासनानि क्रममुक्त्यर्थानि दहराद्युपासनानि। कर्मसमृद्ध्यर्थान्युद्गीथादिध्यानानि।' (न्यायनिर्णय, १।१।१२ पृ० ११७ पं० १३-१५); उपासनमपि फलानभिसंधिनानुष्ठितं बुद्धिशुद्धिद्वारेण ब्रह्मज्ञानायोपकरोतीत्युक्तम्।' (तैतिरीयभाष्यटिप्पणम् ३।१० पृ० १११) शास्त्रप्रकाशिका १।४।७७१ तथा ५।१। ५-६ पृ० १६४६)

समर्थन किया है और दूसरी तरफ कर्म को संस्कार द्वारा[1] मुक्ति हेतु मानकर विवरण प्रस्थान का समर्थन किया है। कहने का अभिप्राय है कि आनन्दगिरि के आभास-प्रस्थान में कर्मो की 'विविदिषार्थता' तथा 'संस्कार के द्वारा विद्यार्थता' दोनों पक्ष[2] समर्थित हैं।

(२) श्रवण-मनन-निदिध्यासन

उपर्युक्त गृहस्थाश्रमसम्बन्धित यागादिकर्म विद्या के बहिरंग साधन हैं पर श्रवणादि कर्म संन्यासाश्रमसम्बन्धित होने के कारण अंतरंग हैं।[3] संसाराख्य महाव्याधि के निरास में श्रवणादि रूप चिकित्सा ही बलवती होती है।[4] आनन्दगिरि के आभास-प्रस्थान के अनुसार इनके स्वरूपादि का विवेचन निम्नलिखित है—

(क) स्वरूप

गुरुपादोपसर्पण पूर्वक वेदान्तों का तात्पर्यावधारण अर्थात् एक रस ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों का शक्ति तात्पर्य निश्चय श्रवण है। उसी ब्रह्म में श्रुत्यनुसारिणी युक्ति के द्वारा संभावना का आधान मनन है। श्रुत और मत (सच्चिदानन्दैकतान ब्रह्म) में बुद्धि का स्थैर्य निदिध्यासन है।[5] प्रस्तुत श्रवणादि के लक्षण से यह ज्ञात होता है कि आनन्दगिरि ने श्रवण-मनन के लक्षण में सुरेश्वराचार्य का मत[6] और निदिध्यासन के लक्षण में

---

१. 'विविदिषा द्वारा वा) संस्कार द्वारा वा कर्ममुक्तिहेतुरित्यभ्युपगतम्।' (सम्बन्धवार्तिक टीका, वा० १६२ पृ० ६०) तुलनीय बृहदारण्यकवार्तिकसार, (वा० २५ पृ० ५३)

२. सिद्धान्तलेशसंग्रहः, तृतीय परिच्छेद, पृ० ४१५-२३।

३. गृहस्थाश्रमकर्मणां बहिरङ्गत्वम् सन्यासाश्रमकर्मणामन्तरंगत्वम्।' (तैत्तिरीयभाष्य-टिप्पणम्, १।१२ पृ० ४३)

४. 'संसाराख्यव्याधिनिरासार्थं श्रवणादिरूपा चिकित्सा।' (शास्त्रप्रकाशिका १।४।१८६ पृ० ४६४)

५. 'वेदान्तानामेकरसे ब्रह्मणि शक्तितात्पर्यनिश्चयः श्रवणम्। तस्मिन्नेव श्रुत्यनुसारिण्या युक्त्या संभावनाधानं मननम्। श्रुते मते च बुद्धेः स्थैर्यं निदिध्यासनम्।' (न्याय निर्णय, १।१।४ पृ० ६७ पं० १२-१३) तथा 'श्रवणं गुरुपादोपसर्पणपूर्वकं वेदान्तानां तात्पर्यावधारणम्।' (तैत्तिरीय भाष्यटिप्पणम्, पृ० ८)

६. श्रुतिलिंगादिको न्यायः शब्दशक्तिविवेककृत्॥
आगमार्थविनिश्चित्यै मन्तव्य इति भण्यते।'

(बृ० उ० भा० वा० अ० २, ब्रा० ४ वा० २१४)

पद्मपादाचार्य का मत[1] स्वीकार किया है। केनोपनिषद् के 'प्रतिबोधविदितं मतम्' मन्त्र के 'प्रतिबोध' पद के भाष्य में शंकराचार्य ने (१) सुप्त के बोध के समान निर्निमित्तबोध तथा (२) सकृद्‌बोध को प्रतिबोध मानने वाले मतद्वय का उल्लेख किया है।[2] आनन्दगिरि ने 'प्रतिबोध' पद को निदिध्यासनार्थक माना है तथा उपर्युक्त मतद्वय की संगति में 'अपरायत्तबोधो हि निदिध्यासनमुच्यते'[3] एवं 'सकृत्प्रवृत्या मृद्‌गातिक्रियाकारकरूपमृत्। अज्ञानमागमज्ञानं साङ्गत्यं नास्त्यतोऽनयोः।'[4] प्रभृति बृहदारण्यकीय वार्तिकों के उद्धरण के साथ-साथ इन (मतों) के प्रति अपनी अरुचि भी प्रकट की है।[5] इनका कहना है कि अविद्यानिवर्तक आगन्तुक बोध की निर्निमित्तता संभाव नहीं, क्योंकि कार्य सनिमित्तव्याप्त होता है। दृष्टान्त के रूप में उल्लिखित सुषुप्ति अवस्था की भी निर्निमित्तता युक्त नहीं क्योंकि इस (सुषुप्ति) काल में पूर्वपूर्वनिरोधावस्थासंस्कारोद्भूत अविद्यावृत्यभिव्यक्त चैतन्य को ही सुखसाक्षात्कारोपगम होता है। अतएव वृत्तिविशिष्ट के विनाश होने पर सुपुप्तोत्थपुरुष के ज्ञान को स्मरण रूप मानना युक्तिसंगत है। सुषुप्ति में अविद्यावृत्ति बनी है अतः सौपुप्त ज्ञान की निर्निमित्तता कैसी? प्रवृत्तफलकर्म रूप प्रतिबन्ध के वर्तमान रहने से प्रमातृत्वाभास की निवृत्ति नहीं हो सकती, अतएव

---

१. 'निदिध्यासनं मननोपबृंहितवाक्यार्थे स्थिरीभावः।' (पंचपादिका, नवमवर्णक, पृ० ३५२–५३)।

२. 'यत्पुनः प्रतिबोधशब्देन निर्निमित्तो बोधः प्रतिबोधो यथा सुप्तस्येत्यर्थं परिकल्पति। सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे।' (केनोपनिषद्‌पदभाष्यम्, २।१२।४ पृ० १९–२०)

३. बृ० उ० भा० वा०, अ० २ ब्रा० ४ वा० २१७।

४. वही, अ० ३ ब्रा० ३ वा० ७१।

५. 'ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयतो यावच्चेतोव्यापृतिस्तावत्संप्रज्ञातसमाधिनिवृत्तेः चेतो व्यापारे यः परमानन्दसाक्षात्कारः सौपुप्तानन्दसाक्षात्कारवतो संप्रज्ञातसमाधिः प्रतिबोध उच्यते। तदुक्तं वार्तिककृता—'अपरायत्तबोधो···।' इति। अथवा क्रियब्रह्मात्मत्वानुभवे सति प्रमातृत्वानुपरत्तौ पुनर्ज्ञानासंभवात्तद्योमुक्तिकारणम् सकृद् विज्ञानं प्रतिबोध उच्यते।

'सकृत्प्रवृत्या···नास्त्यतोऽनयोः।' इति।

पक्षद्वयेऽप्यरुचिमाह—निर्निमित्त इति।' केनोपनिषद्‌पदभाष्यटिप्पणम् २।१२।४ पृ० १९-२०।

निदिध्यासन असकृद्बोध रूप भी नहीं हो सकता।[1] सारांश में आनन्दगिरि न तो निदिध्यासन को सुरेश्वर के समान अपरायत्तबोध रूप मानते हैं और न सकृज्ज्ञानरूप। आगमश्रुत एवं मननमत वेदान्तार्थ में बुद्धि की स्थिरता ही उनके अनुसार निदिध्यासन है।

(ख) पौर्वापर्य तथा अंगांगि भाव सम्बन्ध :—

श्रवणादि के पौर्वापर्य तथा अंगांगि भाव सम्बन्ध के विषय में भी आनन्दगिरि का सुरेश्वर से मतैक्य नहीं। विवरणकार के समान उन्होंने श्रवण को अंगि तथा मनन-निदिध्यासन को अंग माना है। प्रमाण-विचारक होने के कारण श्रवण अंगि है तथा मनन-निदिध्यासन श्रवणकार्यभूत ब्रह्म-साक्षात्कार के प्रतिबन्धों के निरा रक होने के कारण श्रवण के अंग हैं, अतः श्रवणादि की समप्रधानता नहीं स्वीकृत हो सकती।[2] अंगांगि भाव से जब श्रवणादि का असकृदनुष्ठानतया समुच्चय होता है तभी सामग्री के पौष्कल्य से तत्त्वज्ञान फलशिरस्क होता है।[3] श्रवण यद्यपि प्रधान है, तथापि तत्त्वज्ञान के लिए इन तीनों का समुच्चित अनुष्ठान अपेक्षित है क्योंकि मननादि के द्वारा प्रतिबन्धों के प्रध्वंस होने पर ही वेदान्त वाक्यों की फलवत् ज्ञानजनकता सम्भव होती है।[4] यद्यपि

---

१. 'अयमाशयः—न तावदविद्यानिवर्तकस्याऽऽगन्तुकस्य बोधस्य निर्निमित्तत्त्वं संभवति। कार्यस्य सनिमित्तत्त्वव्याप्तेः। सौषुप्तस्यापि न निर्निमित्तत्वमविद्याया पूर्वपूर्वनिरोधावस्थासंस्कारोद्भूततादृशवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यस्य तत्र सुखसाक्षात्कारोपगमात्। अतएव वृत्तिविशिष्टस्य विनाशे स्मरणमुपपद्यते। अत्रापि तर्ह्यावृत्तिसंस्कारप्रचयान्निवृत्तेऽपि चित्ते ब्रह्माभिव्यक्तं स्यादिति चेन्न। तथा सत्यप्रमात्वेन विनष्टपुत्रापरोक्षादिवाविद्यानिवृत्तिर्न स्यात्। शाब्दज्ञानसंवादात्प्रमात्वे परतन्त्रत्वप्रसंगः शब्दमूलत्वात्प्रमात्वेन निर्निमित्ततेति प्रवृत्तफलकर्म प्रतिबन्धाद्वर्तमान प्रमातृत्वाभासानिवृत्तेरसकृद्बोधोऽपि संभवतीति पक्षद्वयेऽपि नाऽऽदरः।' (केनोपनिषत्पदभाष्य टिप्पणम् २। १२।४ पृ० २०)।

२. 'श्रवणस्य प्रमाणविचारत्वेन प्रधानत्वादंगित्वं मनननिदिध्यासनयोस्तु तत्कार्यप्रतिबन्धप्रतिध्वंसित्वादंगित्वम्।' (बृ० भा० टि० २।४।५ पृ० ३०५, पंक्ति ९-१०)।

३. 'यदा श्रवणादीन्यसकृदनुष्ठानेन समुच्चितानि तदा सामग्रीपौष्कल्यात्तत्त्वज्ञानं फलशिरस्कं भिष्यति।' (बृहदारण्यकभाष्यटीका, २।४।५ पृ० ३०५ पं० १०-११)

४. 'मननाद्यभावे श्रवणमात्रेण नैव तदुत्पद्यते। मननादिना प्रतिबन्धाप्रध्वंसे वाक्यस्य फलवज्ज्ञानजनकत्वायोगादित्यर्थः।' (वही, पृ० ३०५ पं० १२-१३)

आनन्दगिरि ने विवरणकार सम्मत अंशांशिभाव का अभ्युपगम किया है तथापि उनके पौर्वापर्य को न मानकर[1] 'समुच्चित अनुष्ठान' के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है।

(ग) श्रवणादि में विधि :—

वाचस्पति मिश्र के समान श्रवण-मनन और निदिध्यासन इन तीनों में आनन्दगिरि ने किसी भी प्रकार की विधि नहीं मानी है।[2] यदि श्रवणादि में विधि नहीं है तो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० उ० २।४।५ तथा ४।५।६) इत्यादि विधिवत्क वचनों का प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनात्मदर्शनप्रवण चित्त का प्रत्यगाभिमुख्य स्वतः नहीं हो सकता अतएव अनात्मधीनिरास के द्वारा प्राप्त होने वाली फलभूतात्मबुद्धि के लिए श्रवणादि विधिरूप वाक्यों से अनूदित किये जाते हैं। इन अनूदित विधिरूप वचनों से केवल विधिकार्यलेशलाभ होता है, अतएव 'श्रोतव्यादि' वचन विधिच्छाया है, विधि नहीं।[3] प्रस्तुत मत के अतिरिक्त आनन्दगिरि के द्वारा श्रवणादि की विधि पक्षता भी स्वीकृत है पर 'अस्तु' तथा 'वा' पदों से[4] इस पक्ष का उल्लिखित होना इस तथ्य का द्योतक है कि यह उनका अभिमत पक्ष नहीं, प्रत्युत अभ्युपगमवाद है।

वाक्य में सामानाधिकरण्यम् :—

श्रवणादि के समुच्चित अनुष्ठान से तत्त्वमस्यादि वाक्यों का अर्थबोध होता है। जहल्लक्षणावादी होने के कारण आनन्दगिरि ने महावाक्यों के अर्थावबोध के लिए स्वकीय आभास-प्रस्थान में 'बाधायां सामानाधिकरण्यम्' का सिद्धान्त स्वीकार किया है। जैसे 'यश्चोरः स स्थाणुः' वाक्य से चोर का पूर्णतः बाध होकर स्थाणु बोध होता

---

1. 'पंचपादिका विवरण, प्रथम वर्णक, पृ० ४११-१२।
2. 'श्रवणादेर्विधेयत्वेऽविधेयत्वेऽपीति यावत्। अन्यपरत्वातिरेकाभ्यां श्रवणे प्रवृत्तस्य तस्योत्कर्षे सत्यर्थावगमे मननं न विधिमपेक्षते। यथा तर्कतोमतं तत्त्वं तथा तस्य तर्कागमाभ्यां निश्चितत्वात् सामर्थ्यादेव निदिध्यासनसिद्धौ तदपि विध्यनपेक्षमेवेत्यर्थः। त्रयाणां विध्यनपेक्षत्वे फलितमाह-तस्मादिति। (बृ० भा० टी०, २।५।१ पृ० ७२४ पं० १३-१७)
3. सत्यनात्मदर्शने तत्प्रवणस्य चेतसो न प्रत्यगाभिमुख्यमित्यनात्मधीनिरासेन फलभूतात्मबुद्धिप्रयोजनकतया तदाभिमुख्यायाश्रवणव्यतिरेकसिद्धा एवं श्रवणादयो विधिसरूपैर्वाक्यैरनूद्यन्ते। तेन विधिकार्यैकदेशलाभाद्विधिच्छायापन्नत्वात् न विधय इत्यर्थः।' (न्यायनिर्णय, अ० १ पा० ४ सू० ४ पृ० ८४-८५ पं० १३-१,२)।
4. 'अस्तु वा मुमुक्षुप्रवृत्तेर्नियतत्वाद्वाक्यभेदेन श्रवणादि विधिः।' (वही १।४।४ पृ० ८५, पं० २)

है, उसी प्रकार यहाँ उपाधि एवं उपहित (आभास) में कुछ भी आदेय न होने कारण दोनों का बाध होता है और बाध्य के लक्ष्यार्थ शुद्धचिन्मात्र का प्रबोध कराया जाता है। इस प्रकार तत्त्वम्पदों का अभेद में सामानाधिकरण्य न होकर बाधा में ही सामानाधिकरण्य होता है।[१] स्पष्ट शब्दों में आनन्दगिरि सम्मत आभास प्रस्थान के अनुसार क्रमशः ईश्वर जीव वाचक 'तत्' 'त्वम्' दोनों पदार्थ आभास हैं अतएव पूर्णतः निरसनीय हैं और इसके निरसन में 'बाधायां सामानाधिकरण्यम्' की व्यवस्थिति है।

वाक्योत्थ बुद्धिवृत्तिः—

'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि 'आदि महावाक्यों से उत्पन्न अखंडार्थबोध को आनन्दगिरि ने 'वाक्योत्था बुद्धिवृत्ति' कहा है। बुद्धिवृत्ति 'ब्रह्माहं रूप'[२] है अतएव इसके लिए उनके ग्रन्थों में' ब्रह्म विद्या'[३] 'स्वरूपसाक्षात्कार'[४] 'विद्या, अनुभव तथा विद्वदनुभव'[५] आदि पद प्राप्त होते हैं। ब्रह्मानुभूति रूप यह वाक्योत्था बुद्धिवृत्ति ब्रह्म स्वभाव-चित्प्रकाश से सिद्ध होती है क्योंकि जड़ होने के कारण इसकी स्वतः सिद्धता अयुक्त है। प्रमाणतः बोधित होने पर इसका अवस्थान असंभव है अतएव मानतः भी नहीं सिद्ध हो सकती है।[६] यद्यपि अविद्याकार्य होने के कारण यह कर्मादि के समान अविद्यात्मक ही है तथा स्वविषयभूत प्रत्यगर्थसामर्थ्य से प्रत्यङ्मोहनिवर्तक होने के कारण मोक्ष की हेतु है।[७] इस वाक्योत्था बुद्धिवृत्ति में अभिव्यक्त होने पर ही दृगात्मा

---

१. 'तद्विकारंनवं जगत् सर्वं ब्रह्मैवेति बाधायां सामानाधिकरण्यं योऽयं स्थाणुः पुमानसाविितिवत्...।' (मुण्डकोपनिषद्भाष्यव्याख्यानम् ३।१।११ पृ० ३४); 'यदिदं ब्रह्मक्षत्रादि तत्सर्वं आत्मैवेति बाधायां सामानाधिकरण्याद् द्वैताभावोक्त्यात्मनोऽद्वितीयत्वेन पूर्णत्वोक्तेर्न तत्र हेयत्वमादेयत्वं च।' (न्यायनिर्णय १।१।४ पृ० ८५ पं० ३-४) तथा ऐतरेयोपनिषद्भाष्य टीका १।१ पृ० २७)

२. 'वाक्योत्था ब्रह्माहमित्येवं रूपा बुद्धि वृत्तिः।'

३. बुद्धिवृत्तिं वाक्योत्थां ब्रह्मविद्येति प्रतिजानत इति योजना।' (शास्त्रप्रकाशिका, १।४।१०७७ पृ० ६५०)

४. 'वाक्योत्थाखंडाद्वयब्रह्माकारस्वरूपसाक्षात्कारं...। (वही, ४।४।५७५ पृ० १८१४ १४-१५)

५. 'विद्या साक्षात्कारो बुद्धिवृत्तिः।'(न्यायनिर्णय, पृ० २६,पं० ४) तथा 'अनुभवो ब्रह्मसाक्षात्कारो विद्वदनुभवः।' (वही १।२।२ पृ० ५२ पं० ४)

६. 'वाक्योत्थं ज्ञानं ब्रह्मानुभूतिः सा जाड्यान्न स्वतः सिद्धा नापि मानतोऽनवस्थानादतो ब्रह्मस्वभावचित्प्रकाशात्सिद्धा।' संबन्धवार्तिकटीका, वा० १७७ पृ० ५६)

७. 'यद्यपि ब्रह्मज्ञानमविद्याकार्यत्वादुक्तकर्मादिवदविद्यात्मकमेव तथापि स्वविषयभूतप्रत्यगर्थसामर्थ्यात्तस्याविद्यानिवर्तकत्वेन मोक्षहेतुत्वं निर्वाह्निम्।' (शास्त्रप्रकाशिका अ०१ ब्रा०४ वा० १४२६ पृ० ७१६)

स्वाविद्या को सकार्य दग्ध कर स्वस्थ होता है।[1] विशुद्ध ब्रह्मात्मज्ञान रूप इस बुद्धि-वृत्ति के फलभूत अविद्यानिवृत्ति के लिए किसी सहकारिकरण की अपेक्षा उसी प्रकार नहीं जैसे रज्ज्वादि-तत्त्वज्ञान को सर्पादि रूप अज्ञाननिवृत्ति में अन्य किसी की अपेक्षा नही होती।[2] अन्वयव्यतिरेकाख्य अनुमान तथा आगम के द्वारा पदार्थपरिशोधन से परिनिष्पन्न होने वाली यह विवेकात्मिका बुद्धिवृत्ति आनन्दगिरि के अनुसार गीता में उल्लिखित 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' है।[3]

अज्ञाननिवर्तक बुद्धीद्धबोध तथा बोधेद्धाबुद्धि रूप दो पक्षः—

आनन्दगिरि आभास-प्रस्थान के वे आचार्य हैं जिन्होंने अज्ञान ध्वंसकारक ज्ञान के द्विविध पक्षों को सुस्पष्ट रूप से प्रवर्तित किया है—(१) बुद्धीद्धो बोधः, (२) बोधेद्धा बुद्धिः।[4] 'बुद्धो द्धोबोधः' का अर्थ है, तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्यसच्चिदानन्दस्वरूपप्रत्यगात्मभावाकारितबुद्धिवृत्त्यभाासित चैतन्य 'और बोधेद्धा बुद्धिः' का अर्थ है—चिदाभास-खचित तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्य सच्चिदानन्दस्वरूपप्रत्यगात्मभावाकारित बुद्धिवृत्ति। स्पष्ट शब्दों में बुद्धीद्ध बोध के अज्ञाननिवर्तकत्व का अभिप्राय है वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यारूढ या तद्वृत्त्यभिव्यक्त चिदात्मा की अज्ञाननिवर्तकता और बोधेद्धा बुद्धि की अबोधध्वंसिता का तात्पर्य है आत्मचैतन्यव्याप्ता अद्वयप्रत्यङ्मात्राकारवाक्योत्था बुद्धि वृत्ति की अविद्यानिवर्तकता। प्रथम पक्ष संबन्धित यह शंका—कि केवल सर्वसाधकबोध की अज्ञानध्वंसिता न मान कर क्यों बुद्धीद्ध बोध की अज्ञानध्वंसिता मानी जाती है—उपयुक्त नहीं, क्योंकि यद्यपि बोधाख्य स्वरूपचैतन्य सर्वसाधकत्वेन प्रमाण है, तथापि आत्मा का असाधारण अर्थ सच्चिदानन्दाद्वय प्रत्यग्भाव है। आत्मा का प्रस्तुत असाधारणार्थात्मक और वाक्योत्थ बुद्धि वृत्तिरूप ज्ञान है, उसकी ही सहायता से चैतन्य (बोध) स्वगत अज्ञान और उसके कार्यों के ध्वंसकत्वरूप भावत्व को प्राप्त करता है, वाक्यीयवृत्त्यनपेक्ष

---

१. 'कृतान्वयव्यतिरेकस्य श्रवणाधिकारिणः श्रुताद् वाक्यादैक्यज्ञाने तस्मिन्नभिव्यक्तो दृगात्मा स्वविद्यां सकार्यां दग्ध्वा स्वस्थो भवति।' (संबन्धवार्तिक टीका वा० १५६ पृ० ५१)

२. 'विशुद्धं ब्रह्मात्मज्ञानं स्वफलसिद्धौ न सहकारिसापेक्षम्, अज्ञाननिवृत्तिफलत्वाद् रज्ज्वादितत्त्वज्ञानवत्।' (गीताभाष्यव्याख्यानम् २।११ पृ० ७७)

३. 'अन्वयव्यतिरेकाख्येन अनुमानेनागमेन च पदार्थपरिशोधननिष्पन्ना विवेकात्मिका या बुद्धिः।' वही २।४१ पृ० १७४)

४. 'बुद्धीद्धो बोधो बोधेद्धा वा बुद्धिरबोधादिध्वंसिनीति पक्षद्वयं तद्गमकमाह-ब्रह्मविद्भिरिति।' शास्त्रप्रकाशिका, १।४।३१५) तथा 'बुद्धीद्धबोधस्याज्ञानादिनिवर्तकत्वमुक्त्वा बोधेद्धबुद्धेस्तन्निवर्तकत्वमिति पक्षान्तरमाह-ज्ञानेनेति।' (गीता भाष्यव्याख्यानम् १०।११ पृ० २२२)

चैतन्य अर्थात् केवल बोधअज्ञान का साधक है अतएव अज्ञाननिवर्तक नहीं हो सकता।[1] समूचे उत्तर का सार यह है कि केवल बोध अज्ञान का साधक है और बुद्धीद्ध बोध अज्ञान का निवर्तक है अतएव बोध का मानत्व अज्ञानसिद्धि में ही संभव है, अज्ञाननिवृत्ति में नहीं। द्वितीय पक्ष के ऊपर किया जाने वाला यह आक्षेप—कि वाक्योत्या बुद्धिवृत्ति प्रमाण है अतएव अविद्यानिवृत्ति रूप स्वफल में स्वयं ही शक्त है फिर 'बोधेद्धा बुद्धि' को क्यों सकार्याज्ञानध्वंसिनी कहा जाता है?—भी अनुपपन्न है क्योंकि यद्यपि वाक्यीय ज्ञान मान है तथापि उपरि व्याख्यात असाधारण अर्थ के रूप में व्यक्त आत्मा का जो रूप है, उसके अवष्टम्भ से ही यह (वाक्यीय) ज्ञान अज्ञानादिध्वंसितात्मक मानत्व प्राप्त करता है। जड़ बुद्धिवृत्ति वस्तुबल के बिना अकेले ही अज्ञानादि की ध्वंसिता का मान नहीं प्राप्त कर सकती।[2] 'बुद्धीद्धो बोधः' एवं 'बोधेद्धा बुद्धिः' रूप पक्षद्वय केवल अर्थापत्ति से ही प्रमाणित नहीं हैं अपि तु आनन्दगिरि के अनुसार श्रुत्युपोद्बलित भी हैं।[3]

ब्रह्म की वाक्योत्थ बुद्धिवृत्तिविषयता:—

आनन्दगिरि के आभास-प्रस्थान में द्विविध वृत्तियों का विवेचन प्राप्त होता है—(१) चक्षुरादि जन्य परिणामि साभासा बुद्धिवृत्ति और (२) प्रत्यङ्मात्राकारा तत्त्वमस्यादिवाक्योत्या बुद्धिवृत्ति। इन द्विविध वृत्तियों को क्रमशः लौकिकी तथा श्रौती

---

१. 'यद्यपि बोधाख्यं स्वरूपचैतन्यं सर्वसाधकत्वेन मानं तथाप्यात्मनोऽसाधारणोऽर्थः सच्चिदानन्दद्वयप्रत्ययभावस्तदाकारत्वेन वाक्योत्यबुद्धिवृत्तिरूपं यज्ज्ञानं तावन्मात्र सहायादेव तत्स्वसत्ताज्ञानं तत्कार्यध्वंसित्वरूपं मानत्वमश्नुते न केवलं वाक्यीयवृत्त्यनपेक्षं चैतन्यमुक्तरूपं मानत्वमाप्नोति तत्साधकस्य तन्निवर्तकत्वायोगात्॥' (शास्त्रप्रकाशिका, १।४। ३१७ पृ० ४६४)

२. 'यद्यपि वाक्यीयं ज्ञानं मानं तथाप्यात्मनोऽसाधारणोऽर्थो यो व्याख्यातस्तदात्मना व्यक्तं यद् रूपं तात्त्विकं तन्मात्रावष्टम्भादेवैतज्ज्ञानमज्ञानादिध्वंसित्वात्मकं मानत्वं लभते न तु वृत्तिज्ञानं केवलमुक्तमानत्वमश्नुवीत जडस्य वस्तुत्वं विना तदयोगादित्यर्थः। (वही, १।४।३१७ पृ० ४६४)

३. 'न केवलं अर्थापत्तिरेव मानं किंतु श्रुतिरपि पक्षद्वयमुपोद्बलयतीत्याह—उतेति। अथातोऽनुप्रश्ना उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्येत्यादिना ब्रह्मणो विद्वदविद्वत्साधारण्याद् अविद्वानपि तत्प्राप्नोति किं वा विद्वानेव तत्प्राप्तिश्च स्यान्नवेति प्रश्नपूर्वकं सोऽकामयतेत्यादिना ब्रह्मास्तित्वसाधनद्वारा यदा ह्येवैष, एतस्मिन्नित्यादिश्रुतिस्तज्ज्ञानादुक्तपक्षद्वयानुसारेण फलं निर्धारयतीत्यर्थः। (शास्त्रप्रकाशिका, १।४।३१६ पृ० ४६३-६४)

दृष्टि भी कहा जाता है। पहली अर्थात् विषयादिजन्य परिणामि साभासा बुद्धि वृत्ति अविद्योत्थ होने के कारण ब्रह्म को विषय नहीं बना सकती क्योंकि प्रमाता—अन्तःकरण-का परिणाम स्वयं आत्मा से गृहीत अर्थात् प्रतिभासित होता है और यह स्वयं आत्मा का प्रतिभासक उसी प्रकार नहीं हो सकता जैसे सवितृ—प्रकाश्य सविता का प्रकाशक नहीं हो सकता।[1] दूसरी बात यह भी है कि इस आभास प्रस्थान के अनुसार आत्माभास के अनुग्रह से बुद्धिवृत्ति स्वयं शब्दादिविषयानुसंधान में शक्त होती है अतः इसकी ब्रह्म—विषयता की कल्पना असंभव है। पर द्वितीय दृष्टि अर्थात् वाक्योत्था बुद्धिवृत्ति लौकिकी दृष्टि तथा उसके विषय और सकार्याविद्या को बाधित कर प्रत्यङ्मात्र, अद्वय आत्मा को विषय बनाती है।[2] यद्यपि शब्दाद्यनात्माकार धीवृत्ति भावाभाव दोनों अवस्थाओं में चिदाभास व्याप्त होने के कारण चैतन्यव्याप्त कही जाती है तथापि अद्वय प्रत्यङ्-मात्राकारा तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थबुद्धिवृत्ति ही अविद्यापनुति द्वारा ब्रह्मविद्याविषया बनती है क्योंकि वृत्त्यन्तर चिदाकार होने पर भी आकारान्तोद्ग्राहि होने के कारण न तो अविद्यादि का निवर्तक हो सकता है और न ब्रह्मविषयक ही।'[3] तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० उ० ३।६।२६) तथा पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।' (क० उ० २।१।१) आदि श्रुतियों से भी यह समर्थित है कि वाक्योत्थ दृष्टि ही ब्रह्मविषयिणी होती है। चक्षुरादि जन्यलौकिकी दृष्टि नहीं।[4] ब्रह्म की वाक्योत्थ बुद्धिवृत्तिविषयता से उसकी शब्दैकगम्यता में कोई विरोध नहीं। मनन शब्दित अन्वयव्यतिरेकाख्य श्रौत युक्ति के अवष्टम्भपूर्वक अवस्थात्रय में व्यभिचरित होने वाले बुद्धिग्राह्य बुद्ध्याकार सम्पूर्ण बाह्य अनात्म पदार्थों का निराकरण कर और

---

१. 'परिणामि साभासा बुद्धिरिष्टा चक्षुरादिजन्यावृत्तिरविद्योत्थशब्दादिविषया न ब्रह्म विषयीकरोतीत्याह—कर्तुरिति। प्रमातृपरिणामस्याऽऽत्मग्राह्यतया तद्ग्राहकत्वमयुक्तं न हि सवितृप्रकाश्यं रूपं सवितारं प्रकाशयतीति।' शास्त्रप्रकाशिका वही-१।४।१४३२ पृ० ७१७-१८

२. तर्हि श्रौतीदृष्टिः दृष्टित्वादितरवन्न ब्रह्म स्पृशेदित्याशंक्य श्रौताद्वयप्रत्यङ्मात्र दृष्ट्येतरदृष्टिं तद्विषयं चाविद्यातत्कार्यं निरस्य, तद्ब्रह्माऽऽत्मानमद्वयं प्रत्यङ्मात्रं व्याप्नोतीत्याह-तदिति।' (शास्त्रप्रकाशिका, १।४।१४३३ पृ० ७१८)।

३. 'अनात्मकारधीवृत्तिभावाभावयोरात्मचैतन्यव्याप्तत्वेऽपि तत्त्वमादिवाक्योत्थबुद्धिवृत्तिरेवाद्वयप्रत्यङ्मात्राकारा तदविद्यामपनुदति वृत्त्यन्तरं चिदाकारमप्याकारान्तरोद्ग्राहित्वान्न तामपनेतुमर्हति।' (वही ४।३।६५४-५५ पृ० १८२८)

४. 'वाक्योत्थदृष्टिर्हि ब्रह्म स्पृशति तदौपनिषदत्वश्रुतेर्दृष्ट्यन्तरं तु नैवं पराञ्चि खानि इति श्रुतेरिति भावः।' (वही १।४।१४३२ पृ० ७१८)

सदैव अव्यभिचारि तथा अवाक्यार्थात्मक अर्थात् वाक्यार्थान्वियायोग्य त्वं पदार्थ रूप चिन्मात्र को केवल चिदाकार ज्ञान से ग्रहण करने पर व्यवस्थित मुमुक्षु को तत्त्वमस्यादि वाक्योत्थ 'ब्रह्माहं' इस प्रकार की जो बुद्धि वृत्ति संजात होती है वह स्वात्मगत अज्ञान तथा तत्कार्य का स्वोदयनान्तरीयकत्वेन दहन करती हुई त्वमर्थ के ब्रह्मत्व एवं ब्रह्म के सकल विशेषशून्य आत्मत्व का बोधन करती है, अतएव ब्रह्म की शब्दैकगम्यता अक्षुण्ण है।[1] वाक्योत्थ बुद्धिवृत्ति से चित् केवल उपलक्षित होता है[2] अतः इस बुद्धिवृत्ति या श्रौती दृष्टि की आत्मविषयता से आत्मा के वाङ्मनसातीतत्व प्रतिपादिक श्रुतियों से विरोध की आशंका व्यर्थ है।

अविद्यानिवृत्ति का स्वरूप—

अविद्या निवृत्ति आत्मरूप है।[3] इसकी आत्मरूपता की सिद्धि के लिए आनन्दगिरि ने यह युक्ति दी है कि जैसे जब सर्प का अवभास हो रहा है तो सर्प की सत्ता रज्जुरूप है और जब सर्प की निवृत्ति हो जाती है तब भी उसका असत्त्व रज्जुरूप है, उसी प्रकार अज्ञानादि का भी भावाभाव सत्त्व वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्युपलक्षित् चिदतिरिक्त नहीं, अपितु अज्ञान अपने सत्त्व और असत्त्व दोनों क्षणों में आत्मरूप है।[4] यह आक्षेप—कि यदि अविद्यानिवृत्ति आत्ममात्र है तो उसकी निवृत्ति में आत्मोपायत्व असंभव है क्योंकि उपायोपेयत्व में भेद की अपेक्षा होती है—उपयुक्त नहीं, क्योंकि क्रमशः अविद्याविरोध्याकार अर्थात् अद्वयानन्द प्रत्यङ्मात्ररूप से और अविद्या निवृत्तिरूप फल से आत्मा की उपायोपेयता दोनों सम्भव हैं अर्थात् आकारभेद से एक ही

---

१. 'मननशब्दितान्वयव्यतिरेकाद्यश्रौतयुक्त्यवष्टम्भाद् बुद्धिग्राह्यं बुद्धयाकारं बाह्यं सर्वमनात्मजातमवस्थात्रये व्यभिचारित्वान्निराकृत्य चिन्मात्रस्य सदैवाव्यभिचारित्वात्केवलचिदाकारज्ञानेनावाक्यार्थात्मकं ज्ञानं वाक्यार्थान्वियायोग्यं तदेवं चिन्मात्रं त्वंपदार्थरूपं गृहीत्वा व्यवस्थितस्य मुमुक्षोस्तत्त्वमस्यादिवाक्योत्था ब्रह्माहमित्येवं रूपा बुद्धिवृत्तिरात्मगतमज्ञानं तत्कार्यं च स्वोदयनान्तरीयकत्वेन दहंती त्वमर्थस्य ब्रह्मत्वं ब्रह्मणश्चाऽऽत्मत्वं सकलविशेषशून्यं बोधयत्येवेत्यंगीकारायुक्तं ब्रह्मणः शब्दैकगम्यत्वमित्यर्थः।' (तै० भा० वा० टीका, पृ० १८५, वा० ५६-५७)

२. 'वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्युपलक्षिता चित्' (शास्त्रप्रकाशिका, १।३।१८८ पृ० ३८६)

३. वही—१।३।१८८ पृ० ३८६; १।४।८६५ पृ० ६०६; ४।३।१५२१ पृ० १६४८; ४।४।३०१ पृ० १७७० तथा ४।४।८५५ पृ० १८६१।

४. 'तथाऽपि तन्निवृत्तिरात्मनो भिन्नाऽभिन्ना वा प्रथमे द्वैतापत्तिर्द्वितीये भावाभावयोरेकत्वानुपपत्तिरित्याशंक्याऽऽह। निवृत्तिरिति। वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्युपलक्षितचिदतिरेकेण कल्पिताज्ञानकृतादिभावाभावयोर्न सत्त्वं कल्पितसर्पस्य रज्ज्वतिरिक्तसत्त्वासत्त्वादृष्टेरित्यर्थः।' (वही—१।३।१८८ पृ० ३८६)

आत्मा में उपायोपेय रूप दोनों भाव सिद्ध हो जाता है।[1] 'अविभागो वचनात्' (ब्र० सू० ४।२।१६) न्याय से भी सिद्ध होता है कि अविद्या प्रमाणप्रहत हो ब्रह्मात्मता को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार अज्ञानध्वस्ति ब्रह्मात्मसमान है अतः द्वैतापात सम्भव नहीं। अज्ञाननिवृत्ति को ब्रह्मात्मरूप मानने से अज्ञान की अनाश्रयता भी आशंक्य नहीं क्योंकि अज्ञानध्वंस के पूर्व ब्रह्म की अज्ञानाश्रयता सिद्ध है।[2] अज्ञाननिवर्तक पक्षद्वय के प्रसंग में भी यह उल्लिखित किया गया है कि ब्रह्म स्वरूप से अज्ञान का साधक है और अद्वयानन्द प्रत्यङ्मात्ररूप से वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्त हो अज्ञान का निवर्तक है। अतः आत्मा के द्वारा अविद्यासिद्धि तथा अविद्यानिवृत्ति दोनों के होने में परस्पर कोई विरोध नहीं और अविद्यानिवृत्ति की आत्ममानता में भी कोई असंगति नहीं।

मुक्ति :—

मुक्ति और ब्रह्म में ऐक्य है[3] इसीलिए शंकराचार्य के समान आनन्दगिरि ने भी मुक्ति को अक्रिय, अनादि, अनाधेय, अकार्य, अपरिणामि, अखण्ड तथा नित्याप्त रूप मानकर उसके लिए सम्पूर्ण उत्पत्त्यादि विधियों का वैफल्य सिद्ध किया है।[4] बोद्धा के सदैव आत्मरूप में स्थित होने पर भी अविद्याविहित होने के कारण आत्मबोध से अविद्या—

---

१. 'नन्वविद्या निवृत्तेरात्ममात्रत्वान्न तत्र तस्योपायत्वम्। उपायोपेयत्वस्य भेदापेक्षत्वा-त्तत्राऽऽह। परागिति।...।' तथा चाविद्या विरोध्याकारेणोपायत्वं तन्निवृत्यात्मना च फलत्वादुपेयतेत्येकत्रैवात्मन्याकारभेदादुभयथात्वम्।' (सम्बन्धवार्तिकटीका, वा० १५६ पृ० ५१)

२. 'ननु ज्ञानादज्ञानध्वस्तिर्भवन्ती ब्रह्मणोऽन्या न वा। आद्ये द्वैतापातो द्वितीये ब्रह्म नाज्ञानादज्ञानाश्रयः स्यात्तद्ध्वंसकत्वान्नहि निवृत्तेर्निवर्त्तिमदाश्रयत्वतत्राह। साऽप्येतीति। अविद्या हि प्रमाणप्रहता ब्रह्मतां प्राप्य प्रलीयते। अविभागो वचनादिति न्यायात्। अतो ज्ञानध्वंसस्य ब्रह्मानतिरेकान्न द्वैतापातः। न च ब्रह्मणोऽज्ञानाश्रयत्वं तद्ध्वंसात्प्राक्तदाश्रयत्वात्।' (वही, वा० १७७ पृ० ५६)

३. 'मुक्तिब्रह्मणोरैक्यात्तत्र दोषाद्यभावान्न तस्याः संस्कार्यता।' (न्याय निर्णय, अ० १ पा० १ सू० ४ पृ० ८२, पं० १२-१३)

४. 'न तावन्मुक्तिरुत्पाद्या वा। अक्रियत्वादनादित्वाच्च। न चाप्तिराप्या वा सम्बन्ध—त्वात्प्राप्तरूपत्वाच्च। नापि संस्कारः संस्कार्या वा। निर्गुणत्वादनाधेयातिशय-त्वाच्च। नापि विकारो विकार्या वा कार्यत्वादपरिणामित्वाच्च। तस्मान्न विधिफलं मुक्तिः। (सम्बन्धवार्तिकटीका, वा० २३६ पृ० ७२; तैत्तिरीयभाष्यटिप्पणम् १।१२ पृ० ३६ तथा शास्त्रप्रकाशिका, १।४।८१२ पृ० ५६५।

ध्वस्ति होने पर मुक्ति में आप्यत्व का उपचार किया जाता है।[1] मुक्ति यद्यपि 'स्वरूप-स्थिति' है तथापि अज्ञान के कारण 'असत्कल्पा' प्रतीत होती है। ज्ञान से अज्ञान के नाश होने पर इस असत्कल्प तथा अप्राप्तवदुपचरित मुक्ति की प्राप्ति होती है अतएव इसे 'ज्ञान-मात्राधीना' कहा जाता है।[2] सुरेश्वर के समान आनन्दगिरि ने भी स्वाभास-प्रस्थान में (१) जीवन्मुक्ति तथा (२) विदेहमुक्ति—इन दोनों मुक्ति के रूपों का विवेचन किया है।

जीवन्मुक्ति :—

जीवन्मुक्ति वह स्थिति है, जहाँ ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति तो हो जाती है पर प्रारब्ध कर्म के नाश न होने के कारण तत्फलभूत देहाभास तथा जगदाभास में विद्वान् का रागाद्याभास शेष रहता है। दूसरे शब्दों में इस अवस्था में अविद्याविक्षेप-शक्तिमूलक कर्तृत्व, भोक्तृत्वाभिमान रूप सम्पूर्ण आभास निवृत्त हो जाते हैं तथा आवरण-शक्ति-संस्कारमात्र-सध्रीचीन अविद्यालेशमूलक देहाभास और जगदाभास बना रहता है। प्रारब्ध कर्म भी अज्ञानज है और अज्ञान से अज्ञान का नाश अवश्यम्भावि है; 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' (गीता ४।३७) इस स्मृतिवाक्य से भी ज्ञान के द्वारा समस्त कर्मों की निवृत्ति उपदिष्ट है, फिर अज्ञानज प्रारब्ध कर्म क्यों शिष्ट रह सकेगा ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि जैसे मुक्तवाण के वेग का बलवत् प्रतिबन्धक के अभाव में वेगक्षय नहीं होता उसी प्रकार देहाभास-जगदाभास के रूप में प्रवृत्तफलवाले कर्म का भी भोग के अभाव में क्षय नहीं हो सकता। गीता में उल्लिखित सकलकर्मों की निवर्तनीयता में भी प्रारब्ध कर्म का नहीं अपितु उन अनारब्ध कर्मों का परिगणन है, जो ज्ञानोदय के पूर्व इस जन्म में ही किए गये हैं और ज्ञान के साथ वर्तमान तथा अनेकों जन्मों में अर्जित हैं।[3] यदि ज्ञानोदय-समसमय ही सद्योमुक्तिवादियों

---

१. 'तद्बोद्धुरात्मत्वेन स्थिताऽपि मुक्तिरविद्यापिहिता तद्बोधात्तद्ध्वस्तेराप्योपचर्यतेऽतो यथोक्तहेतोरोगिप्रेप्सिते स्वास्थ्ये व्यभिचारान्न वास्तवे साध्यसाधकतेत्यर्थः (सम्बन्ध-वार्तिकटीका, वा० २८, पृ० १५)

२. 'स्वरूपस्थितिर्मुक्तिः स चा ज्ञानादसत्कल्पा भाति ज्ञानादेव तन्निरस्यतेऽतो ज्ञान-मात्राधीना सेत्यर्थः' (शास्त्रप्रकाशिका, १।४। १६६६ पृ० ७६२)

३. 'शास्त्रप्रकाशिका—१।४।१५२६ पृ० ७२६; न्यायनिर्णय—३।३२ पृ० ७२४-२५ पं० ६-१० और १-२ तथा गीताभाष्यव्याख्यानम्—'तर्हि कथं ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात्कुरुते'इत्युक्तम् ? तत्राऽऽह—अत इति। ज्ञानादारब्धफलानां कर्मणां निवृत्त्यनुपपत्तेरनारब्धफलानि यानि कर्माणि पूर्वं ज्ञानोदयादस्मिन्नेव जन्मनि कृतानि ज्ञानेन च सह वर्तमानानि प्राचीनेषु चानेकेषु जन्मस्वर्जितानि, तानि सर्वाणि ज्ञानं कारणनिवर्तनेन निवर्तयति।' (४।३७ पृ० ४४६)

के समान देहापोह माना जाय तो तत्त्वदर्शियों के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान ही फलवत् होता है इस आशय के प्रतिपादक श्रुति[1] एवं स्मृति[2] वाक्यों के बाधित होने का भी प्रसंग होगा, अतएव प्रवृत्तफलकर्मसंपादक अज्ञानलेश को ज्ञाननाश्य नहीं माना जा सकता।[3] जीवन्मुक्ति विद्वान् को इस अवस्था में यद्यपि देहाभास एवं जगदाभास की अनुवृत्ति होती रहती है, पर स्वरूपसाक्षात्कार किए रहने के कारण उसे इन देहादिकों के प्रति कोई कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमान नहीं होता। जीवन्मुक्त का सम्पूर्ण व्यवहार व्यावहाराभास है, जो बाधित होकर भी 'प्रक्षालितलशुनभांडवत्' अनुवृत्त होता है।[4] विद्वच्छरीर-स्थिति के हेतुभूत अविद्यालेशाश्रय कर्मशेषनिमित्त जीवन्मुक्त विद्वान् के भिक्षाटनादि में प्रेरणाभाव के कारण कर्मत्व नहीं किन्तु यावत्प्राण शरीरसंयोगभावि ये मात्र कर्माभास हैं जिनको विद्वान् कभी स्वगत नहीं मानता।[5] यद्यपि जीवन्मुक्त को जागरितावस्था में व्यतिरेकाभासदर्शन होता है तथापि उसके लिए ये आभास उसी प्रकार भय के कारण नहीं होते जैसे मायावी स्वविरचित व्याघ्राभास से नहीं डरता।[6]

(२) विदेहमुक्ति :—

देहारम्भक कर्मप्रयुक्त देहावभास तथा जगदवभास की निवृत्ति होने पर देहात्म तथा प्रारब्ध कर्मात्म रूप से अवस्थित अविद्या और तत्कार्यभूत वासनामय संसार के वस्तुस्वरूप से ही परिशिष्ट रहने पर सच्चिदानन्दात्मक सत्यज्ञानानन्दस्वरूप प्रत्यगात्मा पर ब्रह्म ही है। आत्मा का यह अखंडवस्त्वात्मना अवस्थान ही मोक्ष है।[7]

---

१. 'आचार्याद्धैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापयति।' (मु० उ०)
२. 'गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते।' (मनुस्मृति)
३. 'ज्ञानोदयसमसमयमेव देहापोहे तत्त्वदर्शिभिरुपदिष्टं ज्ञानं फलवदिति भवदभिप्रायस्य बाधितत्वप्रसंगादाचार्यलाभान्यथानुपपत्त्या प्रवृत्तफलकर्मसंपादकमज्ञानलेशं न नाशयति ज्ञानमित्यर्थः।' (गीताभाष्यव्याख्यानम् ४।३७)
४. 'बाधितानुवृत्त्या तु व्यवहाराभाससिद्धिः।' (माण्डूक्यगौडपादीयभाष्यव्याख्या ३।३६ पृ० १४६)
५. 'विद्वच्छरीरस्थितिहेत्वविद्यालेशाश्रयकर्मशेषनिमित्तं तु विदुषो भिक्षाटनादि न कर्म चोदनाभावात्किंतु यावत्प्राणशरीरसंयोगभावि तत्कर्माभासं तच्च विद्वान् स्वगतं न मन्यते।' (ईशावास्यभाष्यटीका, पृ० २०)
६. 'यद्यपि जागरे व्यतिरेकाभासदर्शनं विदुषस्तथापि न तद्भयकारणं, नहि मायावी स्वविरचितव्याघ्राभासाद्बिभेति।' (तैत्तिरीयभाष्यटिप्पणम् २।८ पृ० ९२)।
७. पंचीकरणविवरणम्, पृ० ५३।

षष्ठ अध्याय

विद्यारण्याभिमत आभास-प्रस्थान

विद्यारण्य की आभासवादिता

प्रतिबिम्ब और आभास के विवेचन की एक मात्र कसौटी यही है कि जो प्रतिबिम्ब को सत्य मानते हैं, वह प्रतिबिम्बवादी हैं और जो प्रतिबिम्ब को असत्य मानते हैं, वह आभासवादी हैं।'[1] भले ही एक के स्थान पर दूसरे का भी प्रयोग हो जाय। महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर ने भी सिद्धान्त-बिन्दु की व्याख्या में इस के उपयोग का समर्थन किया है।[2] इसी व्याख्या ग्रन्थ के उपोद्घात में उनका कथन है कि वार्तिककार तथा उनके अनुयायियों ने व्याधपुत्र, राधासुत तथा जपाकुसुम के दृष्टान्त से जीवात्मा तथा अविद्यादि उपाधि दोनों की काल्पनिकता स्वीकार कर आभासवाद का निरूपण किया है।[3] आभास और प्रतिबिम्ब-प्रस्थान के पार्थक्य निर्देशक स्वीय वचनों को ध्यान में रखे बिना तदनन्तर उन्होंने यह भी कहा है कि 'विद्वन्मुकुट-हीर--मणि विद्यारण्य ने प्रतिबिम्बवाद का पूर्णतः ही अंगीकार किया है।[4] पर विद्यारण्य

---

१. 'तस्य च प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वमेवेति प्रतिबिम्बवादिनः, मिथ्यात्वमेवेत्याभास वादिनः।' (सिद्धान्तबिन्दुः, पृ० १६, गे० ओ० सी०)

२. सिद्धान्तबिन्दुव्याख्या, पृ० २५ (अभ्यंकर कृत)

३. 'जीवात्मन एव केवलं काल्पनिकत्वमुतोपाधेरविद्याया एव केवलमुतोभयोरिति प्रश्नमुद्भाव्य वार्तिकारास्तदनुयायिनश्चोपनिषद्वाक्यानां शारीरभाष्यवाक्यानां च स्फुटमुत्तानार्थं प्रतिपिपादयिष्यन्त उभयोरपि काल्पनिकत्वं स्वीकृत्याभासवादं निरूपयांचक्रिरे। ते आत्मनः काल्पनिकं मिथ्याभूतं स्वरूपं जीवः आत्मरूपं मूलस्वरूपं कालान्तरविद्याविनिवृत्तौ व्याधराजपुत्र इव राजपुत्रोऽहमिति स्मृतौ राधासुतमात्मानं मन्यमानः कर्ण इव वा कुन्तीसुतत्वाकर्णने प्रतिपद्यत इति वदन्तो द्वयोरप्याभासत्वं प्रदर्शयामासुः। एतच्च दहराधिकरणे उत्तराच्चेदिति सूत्रे भाष्ये च सूचितम्। अर्वाचीना आभासवादिनो जपाकुसुमदृष्टान्तं प्रदर्शयन्ति।' सिद्धान्तबिन्दुः, उपोद्घात पृ० १५, अनुच्छेद २१

४. 'विद्वन्मुकुटहीरमणयो विद्यारण्या अपि पूर्णत्वेनांगीकारं चक्रुः अस्य प्रतिबिम्बवादस्य।' (सिद्धान्तबिन्दु, उपोद्घात, अनुच्छेद २५ पृ० १८)

के स्वतंत्र ग्रंथों के अनुशीलन से यह सिद्ध नहीं होता कि वे प्रतिबिम्बवादी हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'पंचदशी' आदि में 'ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तथाविधः। बिम्बलक्षणहीनः सन् बिम्बवद् भासते न हि।' (८।३२) आदि श्लोकों से आभासार्थतया प्रतिबिम्ब-पद का प्रयोग,[1] स्थान-स्थान पर 'जीवेशावाभासेन करोति' (नृसिंह उ० ९) श्रुत्यव-ष्टम्भ से ईश्वरादि की काल्पनिकता का समर्थन[2] और 'जपाकुसुम' दृष्टान्त का समवलम्बन[3] किया है। यह आभास प्रस्थान के लिए ही संगत होता है न कि प्रतिबिम्ब के लिए। आभासवादसमर्थक इन मुख्य वैशिष्ट्यसमन्वलित विद्यारण्यग्रन्थों के होते हुए भी महामहोपाध्याय अभ्यंकर का यह अभ्युपगम कि विद्यारण्य पूर्णतः प्रतिबिम्बवादी हैं, विवरणमत-प्रकाशक 'विवरणप्रमेयसंग्रह' नामक विद्यारण्य के ग्रन्थ का सूचक हो सकता है किन्तु पंचदशी आदि में उपन्यस्त 'आभासवाद'[4] का सूचक नहीं माना जा सकता। यदि उनके अनुसार विद्यारण्य को प्रतिबिम्बवादी माना जाय तो अभ्यंकर की उन मान्यताओं को भी आघात लगेगा जिनके आधार पर उन्होंने आभास तथा प्रतिबिम्ब

---

१. पंचदशी—८।३२ तथा 'असंगत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता। स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिम्बवद्भासनं विदुः।' (८।३३)
२. वही—'आत्माभासस्य जीवस्य।' (६।११); चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे।' (६।१३३); 'मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम्।' (६।१५५) 'मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः। कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्।'(७।३) तथा मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः। मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुम्भवत्।' (८।८) तथा अनुभूति प्रकाश—'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः। उपाध्योर्या चिदाभासौ तौ जीवेशावुदीरितौ।' (१९।४९)
३. 'अनुभूतिप्रकाश'—'जपाकुसुमरक्तत्वं स्फटिके कल्प्यते यथा। चिदाभासप्रवेशोऽयं चित्यध्यारोप्यते तथा।' (१३।१९—पृ० २५९) तथा 'स्फटिको रक्ततां प्राप्य जपाकुसुमकल्पिताम्। पद्मरागायते तद्वदुपलभ्यत्वमात्मनः॥' (१३।२० पृ० २६०) बृहदारण्यकवार्तिकसारः—अ० १ ब्रा० ४ वा० ४३७ पृ० ३३२; अ० २ ब्रा० १ वा० ५४ पृ० ४५६ तथा 'नानाबुद्धिविभेदस्य कर्ता तत्त्वनिश्चयात्ततः। स्फटिके पद्मरागत्वमिव स्वाज्ञानृताज्ञ त्वयि॥' (अ० २ ब्रा० १, वा० १० ३ पृ० ५३२।
4. 'In the Pancadasi, Bhartitirtha holds what is known as abhasa-vada whi ch is a variety of the pratibimba-vada. While the Vivarana view regards the reflection as real and idential with the prototype, according to the theory propounded in the Pancadasi, the abhasa is wholly illusory.' (The Philosoahy of Advaita with special reference to Bharatitirtha—Vidyaranya by Dr. T. M. P. Mahadevan, Chapter seven p. 225.

प्रस्थान का अन्तर किया है।[1] विद्यारण्य ने अपने ग्रन्थ वृहदारण्यकवार्तिकसार, पंचदशी तथा अनुभूति प्रकाश में प्रतिविम्ब के भेद या अनात्मत्व अर्थात् आभास प्रस्थान का समर्थन किया है।[2] सिद्धान्तलेशसंग्रहकार अप्पय दीक्षित ने प्रतिविम्ब के मिथ्यात्व पक्ष में ही विद्यारण्य का अभिप्राय बताया है।[3] इन सब प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विद्यारण्य प्रतिविम्बवादी नहीं, किन्तु आभासवादी थे।

ईश्वर-जीव-स्वरूप :—

विद्यारण्य की पंचदशी में ईश्वर और जीव का स्वरूप बहुधा निरूपित है—

तत्त्वविवेकप्रकरण में उन्होंने कहा है कि त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति का शुद्ध सत्त्व प्रधान अंश माया है और मलिन सत्त्व प्रधान अंश अविद्या है। प्रस्तुत माया और अविद्यागत चित्प्रतिविम्ब क्रमशः ईश्वर तथा जीव हैं।[4] इस ईश्वर तथा जीव के लक्षण में अविद्या का अर्थ अविद्याकार्यभूत अन्तःकरण मानना चाहिए, क्योंकि विद्यारण्य ने भी विवरणकार तथा वार्तिककार के समान अविद्या तथा माया के भेद के खंडन का समर्थन किया है।[5] अनुभूति प्रकाश में उन्होंने अज्ञानगत प्रतिविम्ब को ईश्वर कहा

---

१. सिद्धान्तविन्दु उपोद्‌घात, अनुच्छेद २६, पृ० १८-१९।

२. वृ० वा० सा०—'असत्येन......प्रतिविम्बेन......।'
(वा० ३७३ पृ० १२४)

पंचदशी—'ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः साहस्र्यां विश्रुतो यतः।' (८।१२)
'यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः।' (६।४६)
'आभासत्वस्य मिथ्यात्वात्......।' (७।१५)
'मायिकोऽयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि।' (७।२१७) तथा
'दर्वद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमोभवेत्।' (८।५२)

अनुभूति प्रकाशः—'अहंकारश्च चिच्छाया मिथ्याभूम्यादिवत्ततः।' (१।३८) तथा
'छायाऽनृतेव दृष्टा..........................।' (७।३८)।

३. 'अद्वैतविद्याकृतस्तु प्रतिविम्बस्य मिथ्यात्वमभ्युपगच्छतां त्रिविधजीववादिनां विद्यारण्यगुरुप्रभृतीनामभिप्रायमेवमाहुः।' (सिद्धान्तलेशसंग्रहः, द्वितीय परिच्छेद, पृ० २२१)

४. पंचदशी, १।१५-१७।

५. 'अविद्यामाययोर्भेदमात्यन्तिकमपाकरोत।'
यत्नाद् विवरणाचार्यं कचे स्वाकारभिन्नताम्।' (वृ० वा० सा० अ० १, ब्रा० ४ वा० ११६० पृ० ४५४)

है।[1] इसलिए भी अविद्या या अज्ञानगत प्रतिबिम्ब को जो जीव नहीं माना जा सकता। अतः इस लक्षण का तात्पर्य यह मानना चाहिए कि मायागत चित्प्रतिबिम्ब या चिदाभास ईश्वर है तथा अविद्याकार्यभूत अन्तःकरणगत चित्प्रतिबिम्ब या चिदाभास जीव है।

चित्-चातुर्विध्य के आधार पर निरूपित ईश्वरादि का स्वरूप :—

'चित्रदीप प्रकरण' में घटाकाशादि के दृष्टान्त से 'चित्-चातुर्विध्य' का निरूपण किया गया है।[2] जैसे घट रूप उपाधि से अवच्छिन्न आकाश घटाकाश है, उस घटावच्छिन्न आकाश स्थित जल में प्रतिबिम्बित अभ्र-नक्षत्र-सहित आकाश—जलाकाश है, घट आदि उपाधियों से अनवच्छिन्न आकाश—महाकाश है और महाकाश के मध्यवर्त्ती मेघमंडल के अवयवों में प्रतिबिम्बित आकाश मेघाकाश है;[3] उसी प्रकार अविद्या-कल्पित पंचीकृत-भूत-कार्य-रूप स्थूल-सूक्ष्म-भूत देहद्वय के अधिष्ठान रूप से वर्तमान देहद्वयावच्छिन्न कूट (अयोघन)[4] के समान निर्विकार रूप से स्थित आत्मा-कूटस्थ चैतन्य है,[5] इस कूटस्थ चैतन्य में कल्पित अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य-सांसारिक जीव चैतन्य है।[6] समस्तोपाध्यनवच्छिन्न चैतन्य-ब्रह्म चैतन्य है और माहेश्वरी माया रूप तम में विद्यमान सर्व प्राणियों की धीवासनाओं में प्रतिबिम्बित चैतन्य-ईश्वर चैतन्य है।[7] कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे एक ही आकाश घटाकाश, जलाकाश, महाकाश तथा मेघाकाश—इन चार भेदों में प्रतीत होता है, उसी प्रकार एकल आत्मा भी कूटस्थ, जीव, ब्रह्म तथा ईश्वर के भेद से चतुर्विध प्रतीत होता है। इस चिच्चातुर्विध्य पक्ष से निष्कृष्ट मेघाकाश तुल्य ईश्वर का स्वरूप है—सर्वप्राणि-धीवासनोपरत अज्ञानस्थचित्प्रतिबिम्ब तथा जलाकाशतुल्य जीव का स्वरूप है—अन्तःकरणस्थ चित्प्रतिबिम्ब।

---

१. 'यदावरकमज्ञानमात्मास्मिन् प्रतिबिम्बति।'
'ईश्वरः प्रतिबिम्बोऽसौ सृष्ट्यादीनां प्रवर्तकः॥' (अनुभूति प्रकाश, १०।३६पृ०१९८)

२. 'कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा॥
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा॥' (पंचदशी, ६।१८) तथा सिद्धान्त-लेशसंग्रहः, प्रथम परिच्छेद, पृ० ८७-८८)

३. पंचदशी, ६।१९—२१।

४. 'अयोघने शैलशृंगे सीरांगे कूटमस्त्रियाम्॥' (अमरकोश, तृतीयकांड, वर्ग ३ श्लोक ३७)

५. पंचदशी, ६।२२।

६. वही—६।२३।

७. वही—६।२४।

ब्रह्मानन्द प्रकरण में स्थूल आदि समष्टि-व्यष्टि उपाधियों के भेद से चैतन्य का छह भेद कहा गया है—(१) विश्व, (२) तैजस, (३) प्राज्ञ-त्रिविध जीव तथा (४) विराट्, (५) हिरण्यगर्भ, (६) ईश्वर-त्रिविध ईश्वर।[1]

'चित्रदीप प्रकरण' में चित्रपट के दृष्टान्त से (१) ब्रह्म (२) ईश्वर (३) सूत्रात्मा (४) वैराज नामक चतुर्विध चेतन तथा पंचम चिदाभास रूप जीव निरूपित है।[2] जैसे स्वाभाविक शुभ्र वस्त्र 'धौत' कहलाता है, अन्न से लिप्त 'घट्टित' कहा जाता है, मस्यादि विकारयुक्त 'लांछित' कहा जाता है और यथायोग वर्णों से पूरित 'रंजित' कहा जाता है; उसी प्रकार माया तथा तत्कार्यरहित परमात्मा 'चित्' कहा जाता है, मायोपाधि से युक्त 'अन्तर्यामि' (ईश्वर), अपंचीकृत-भूतकार्य समष्टि सूक्ष्म शरीर से उपहित 'सूत्रात्मा' और पंचीकृत भूतकार्य-समष्टिस्थूलशरीरोपहित 'विराट्' कहलाता है।[3] सारांश में जैसे एक ही चित्रित पट की चार अवस्थायें होती हैं, उसी प्रकार तत्तदुपाधि-उपहित परमात्मा की भी चार अवस्थायें कही जाती हैं। इस चित्रपट स्थानीय परमात्मा में उत्तमाधम भाव से वर्तमान ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त चेतन तथा गिरिनद्यादि जड़जात चित्रस्थानीय हैं।[4] जैसे चित्र में चित्रित मनुष्यों के चित्र के आधारभूत वस्त्र के सदृश वस्त्राभास लिखे जाते हैं, वैसे ही परमात्मा में आरोपित स्थूल देहाभिमानी अहंकारों के अधिष्ठानभूत-आधारभूत चैतन्यसदृश चिदाभासों (जीवों) की कल्पना की जाती है। ये चिदाभास जीव ही देव-तिर्यक्-मनुष्यादि-शरीर को प्राप्त कर बहुधा संसरण करते हैं।[5] जैसे वस्त्राभासगत नील-पीत आदि वर्णों का आधार वस्त्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु अज्ञानी व्यक्ति उन वर्णों का आधार वस्तु में व्यवहार करने लग जाते हैं वैसे ही चिदाभासगत संसरण का सम्बन्ध अधि-

---

१. पंचदशी—११।६०।

२. वही—६।२।३ तथा सिद्धान्तलेशसंग्रहः परिच्छेद १ पृ० ८७-८६

३. 'स्वतश्चिदन्तर्यामि तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः ॥
सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ॥' (पंचदशी ६।४)

४. 'ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि ॥
उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत्।' (वही ६।५)।

५. चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक्।
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ॥
पृथक् पृथक् चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम्।
कल्प्यन्ते जीवनामानो बहुधा संसरन्त्यमी। (पंचदशी ६।६-७)

ष्ठान चैतन के साथ अविवेकी पुरुष करने लगते हैं।[1] इस चित्रपट दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि मायोपाधियुक्त चैतन्य ईश्वर है और चेतन कूटस्थ में कल्पित आभास जीव है।[2]

'दृग्दृश्यविवेक' में त्रिविध जीव का उल्लेख है—(१) मायावच्छिन्न, कूटस्थ में कल्पित चिदाभास—व्यावहारिक जीव, (२) निद्रावृत—व्यावहारिक जीव में कल्पित चिदाभास—प्रातिभासिक जीव तथा (३) परब्रह्म में कल्पित अविद्या—अहंकार से अवच्छिन्न—पारमार्थिक जीव।[3]

यहाँ आशंका होती है कि ईश्वर-जीव-स्वरूप-निरूपण-परक इन विविध वर्णनशैलियों का समन्वय हो सकता है या नहीं? आपाततः इनमें विरोध है पर विचार करने के पश्चात् विरोध आभास रूप हो जाता है। दृग्दृश्यविवेक के उपर्युक्त उद्धरण में कूटस्थ का जीवकोटि में अन्तर्भाव यह सिद्ध करता है कि विद्यारण्याभिमत आभास प्रस्थान में चतुर्विध चेतनप्रक्रिया का त्रिविध चेतन (ईश्वर, जीव तथा विशुद्ध चैतन्य) प्रक्रिया से पारस्परिक विरोध नहीं। ब्रह्मानन्द ग्रन्थ.में वर्णित छह प्रकार के चेतनों में भी विश्व आदि तीन का जीव में और विराट् आदि त्रिविध चेतन का ईश्वर में अन्तर्भाव हो जाता है। शेष रह जाता है—चित्रदीप के चित्रपट की धौत-घट्टित-लांछित-रंजित-नाम की चतुर्विध अवस्थाओं के समान ब्रह्म-अन्तर्यामि-सूत्रात्मा-विराट् नामक चतुर्विध मुख्य चेतन तथा वस्त्राभासस्थानीय पंचम चिदाभास जीव। यहाँ भी अन्तर्यामि, सूत्रात्मा और विराट् का ईश्वर में, चिदाभास का जीवकक्ष में तथा ब्रह्म का शुद्ध चेतन में अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार त्रिविध चेतनप्रक्रिया में सभी वर्णनशैलियों का समन्वय हो जाता है।

ईश्वर तथा जीव के विभिन्न लक्षणों में भी कोई विरोध नहीं। सभी लक्षणों से यही निरूपित है कि साधिष्ठान मायागत चिदाभास ईश्वर है और साधिष्ठान लिंगदेह-गत चिदाभास जीव है। स्पष्ट शब्दों में कूटस्थ, मोह तथा 'चिदाभास—इन तीनों का संघात ईश्वर है[4] और लिंग देहाधिष्ठानभूत चैतन्य, चैतन्य में कल्पित लिंग देह तथा

---

१. वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान् ॥
वदन्त्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः। (पंचदशी—६।८)

२. यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः ॥ (वही—६।४६)

३. अवच्छिन्नश्चिदाभासः तृतीयः स्वप्नकल्पितः।
विज्ञेयस्त्रिविधो जीवस्तत्राद्यः पारमार्थिकः ॥ (श्लोक ३२ तथा ३३-३६)

४. 'मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतो मायी महेश्वरः ॥
अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः च एव हि।' (पंचदशी ६।१५७) तथा
'कूटस्थ दृष्टि तन्मोहो दृष्ट्याभासश्च तत्मयम् ॥
साक्षी सर्वजगद्धेतुर्नियन्तेति च भण्यते ॥ (बृ० वा० सा० ४।४।६८ पृ० ६८७)

लिंग देहस्थ चिदाभास—इन तीनों का संघात जीव है।[1] वेदान्त की पारिभाषिक शब्दावली में ईश्वर और जीव को क्रमशः 'अविद्यागतस्वाभासाविविक्त चित्' तथा 'अन्तःकरणगत स्वाभासाविविक्त चित्' कहा जा सकता है। विद्यारण्य का यह ईश्वर—जीव स्वरूपोपन्यास सुरेश्वर के आभास प्रस्थान के प्रसंग में निरूपित द्वितीय पक्ष[2] का अनुमोदन है। तृप्तिदीप प्रकरण में विद्यारण्य ने स्पष्ट कहा है कि साधिष्ठान जीव ही मोक्षमार्गादि के साधनों के अनुष्ठान में अधिकारी कहा जाता है अतः यदि केवल चिदाभास रूप से जीव का स्वरूप माना जाय तो मोक्ष आदि में जीव का अन्वय नहीं बन सकेगा।[3] 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों के अखंडार्थबोध में भागत्याग अर्थात् जहदजहल्लक्षणा[4] तथा 'बाधायां सामानाधिकरण्यम्'[5] का अभ्युपगम ही इस तथ्य का संसूचक है कि विद्यारण्य के ईश्वर तथा जीव के वाच्यार्थ में आभास, उपाधि तथा अधिष्ठानभूत चैतन्य (कूटस्थ)—तीनों का अन्तर्भाव है।

साक्षि-स्वरूप—ईश्वर तथा जीव के स्वरूप के समान पंचदशी के तीन अध्यायों में विद्यारण्य ने साक्षि का स्वरूप भी विभिन्न प्रकार से निर्दिष्ट किया है। 'कूटस्थ दीप' में उन्होंने देहद्वयाधिष्ठानभूत स्वावच्छेदक स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों के साक्षाद्द्रष्टा तथा कर्तृत्वादि विकारशून्य कूटस्थ चैतन्य को साक्षि कहा है।[6] लोक में भी साक्षि उसी को कहा जाता है जो उदासीन रहता हुआ पर्यवेक्षक होता है। चिदाभास जीव का साक्षित्व न मान कर कूटस्थ को साक्षि मानना कपोलकल्पित नहीं। क्योंकि 'अन्तःकरण तद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः। आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नात्मानं प्रपद्यसे॥' इत्यादि पूर्वाचार्यों के वचनों से भी कूटस्थ का साक्षित्व विनिश्चित है।[7] श्रुतियों में चैतन्य को सच्चिदानन्दस्वरूप कहा गया है। सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा समाधिव्यतिरिक्त अवस्थाओं में

---

१. 'चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः॥
चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते॥' पंचदशी ३।१११) तथा
'भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासंगचिद्वपुः।
अन्योन्याध्यासतोऽसंगधीस्थजीवोऽत्र पुरुषः॥' (वही ७।५)

२. प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, तृतीय अध्याय, पृ० ७६।

३. 'साधिष्ठानविमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु।
केवलो निरधिष्ठानविभ्रान्तेः क्वाप्यसिद्धितः॥' (पंचदशी, ७।६)।

४. वही—७।४४ तथा ८८।

५. वही—८।४२-४४।

६. सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथमपरिच्छेद पृ० १८०-८२।

७. पंचदशी—८।२५।

घटादिविषयज्ञान अन्तःकरण वृत्तियों के द्वारा होता है। अतः जाग्रदादिक अवस्थाओं में जीव की अन्तःकरण वृत्तियाँ स्थूल-सूक्ष्म देहद्वय की अवभासिका होती हैं। यद्यपि सुषुप्त्यादि अवस्थाओं में ये अन्तः करण की वृत्तियाँ नहीं रहतीं[1] तथापि यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि इन अवस्थाओं में चैतन्य नहीं है। अतः यह मानना होगा कि कूटस्थ चैतन्य जाग्रदादि समस्त अवस्थाओं का ही उदासीन प्रेक्षक नहीं अपितु उनमें चिदाभासविशिष्ट बुद्धि वृत्तियों की संधियों, अन्तरालों एवं अभावों का भी उदासीन पर्यवेक्षक अर्थात् साक्षि है।[2] स्पष्ट शब्दों में साक्षि वह है जो वृत्तियों के भाव और अभाव दोनों का प्रेक्षक है।[3] वेद एवं पुराणों में भी चैतन्य को बुद्धिवृत्तियों की उत्पत्ति एवं प्रागभाव दोनों का साक्षि कहा गया है।[4] असत्य जगत् का आलंबन होने से यह साक्षि सत्य है; जड़जात का साधक अर्थात् अवभासक होने से चिद् रूप है और सदा प्रेमास्पद होने के कारण आनन्दरूप है।[5] 'आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना। सर्वसम्बन्धवत्त्वेन सम्पूर्णः शिवसंज्ञितः।' इत्यादि श्लोकों से शैवपुराण में भी केवल स्वप्रभमिव कूटस्थ को जगत्, ईश्वर तथा जीव से प्रविविक्त कहा गया है।[6] सम्पूर्ण श्रुतियों में एक स्वर से कूटस्थ को पूर्ण सत्य, स्वतःप्रमाण तथा समस्तवस्तुविलग बताया गया है।[7] यह कूटस्थ अर्थात् साक्षि, असंग, निरतिशय तथा अव्यय है। न तो इसका निरोध है और न इसकी उत्पत्ति है। न यह बद्ध है और न साधक है। बद्ध न होने से इसकी मुमुक्षा और बन्धविमुक्ति भी नहीं बनती। यह परम सत्य है पर इसका स्वरूप 'अवाङ्मनसगम्य' है और इसीलिए श्रुतियां जीव, ईश्वर या जगत् का समाश्रयण कर इसका उपदेश देती हैं।[8]

---

१. पंचदशी ८।२०।
२. चिदाभासविशिष्टानां तथानेकधियामसौ ॥
   सन्धिं धियामभावं च भासयन् प्रविविच्यताम् ॥ (वही—८।३)
३. 'सन्धयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः।
   निर्विकारेण येनासौ कूटस्थेति चोच्यते ॥' (वही—८।२१)
४. वृत्तेः साक्षितया वृत्ति, प्रागभावस्य च स्थितः।
   बुभुत्सायास्तथाज्ञोऽस्मीत्याभासज्ञानवस्तुतः ॥ (८।५८)
५. असत्यालम्बनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु ॥
   साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥ (वही ८।५७)
६. वही—८।५८-५९।
७. 'असंग एव कूटस्थ सर्वदा नास्य कश्चन। भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ॥'
   (वही—८।७०)
८. वही—८।७१-७२।

नाटक दीप में साक्षि की तुलना नृत्यशालास्थ दीप से की गयी है। जैसे एक रूप से वर्तमान नाट्य-शालास्थित दीप प्रभु, सभ्य तथा नर्तकी प्रभृति को किसी विशेष अर्थात् बुद्ध्यादि विकार के विना ही प्रकाशित करता है और उनके अभाव में भी स्वयं भासमान रहता है अर्थात् प्रभु (नृत्य कराने वाले या नृत्याभिमानी) के प्रकाशन में बड़ा रूप, सभ्यों के प्रकाशन में मध्यम स्वरूप और नर्तकी आदि के प्रकाशन में निकृष्ट रूप नहीं धारण करता और इन सब के अभाव में भी स्वयं प्रकाशित रहता है। उसी प्रकार साक्षिभूत अहंकार और बुद्धि सभी को प्रकाशित करता है तथा इनके अभाव में भी सर्वथा प्रकाशमान रहता है। जड़, स्फूर्तिरहित तथा चैतन्याभासभास्य बुद्धि को विषयावभासक या साक्षि नहीं कहा जा सकता। अतएव सर्वावभासक साक्षि का अभ्युपगम करना ही होगा। चैतन्य के आभास से युक्त अहंकार रूप जीव विषय भोग के साकल्य-वैकल्याभिमान प्रयुक्त हर्ष-विषादयुक्त होता है इसलिए वह नृत्याभिमानी प्रभु तुल्य है। विषय जीव के परिसरवर्ति है, तथापि जीव के हर्ष—विषाद आदि से अप्रभावित रहने के कारण सभ्य पुरुष के समान है। अनेक प्रकार के विकारों से युक्त होने के कारण बुद्धि नर्तकी के समान है तथा जैसे ताल आदि धारण करने वाले पुरुष नर्तकी का अनुसरण करते हैं वैसे ही इन्द्रियाँ भी बुद्धि का अनुसरण करती हैं, अतः ये (इन्द्रियां) ताल आदि धारी पुरुष के तुल्य हैं। साक्षि बिना किसी विशेष के ही इन सब (अहंकारादि) का अवभासक होता है। स्पष्ट शब्दों में जैसे स्वस्थानसंस्थित ही दीप गमनादि विकार—शून्य रह स्वसन्निहित अखिल पदार्थों का अवभासक है उसी प्रकार 'स्थिर स्थायी' साक्षि भी समस्त अहंकारादि का बहिरन्तरवभासक है।[1] बाह्यदेशस्थ विषयों को बाह्य कहा जाता है और जो देह के अन्दर है, उसे आन्तर कहा जाता है। यह देहापेक्ष बहिरन्त-र्विभाग भी साक्षि में संभव नहीं।[2] इष्टग्राहकत्वेन देहान्तरावस्थित बुद्धि रूपादि-ग्रहण के लिए चक्षुरादिद्वारा बार-बार बाहर आती है और बुद्धिनिष्ठ चांचल्य को ही बुद्धि-भासक साक्षि में आरोपित कर दिया जाता है अतः साक्षि में चांचल्य वास्तविक नहीं। साक्षि सर्वथा दीप के समान निजस्थान स्थित है, उसमें बाह्यगमन या अन्तरागमन संभव नहीं। बुद्धि के योग से वह बहिरन्तर्गमागम करता हुआ सा प्रतीत होता है। यह न बाह्य को जानता है और न आन्तर को क्योंकि बाह्यान्तरभेद तो बुद्धि से प्रतीत हो रहा है। अद्वितीयासंग साक्षि को सर्वगत कहना उसमें देशादि इयत्ता की प्रकल्पना होगी। सर्वगतत्व के समान साक्षि का साक्षित्व भी प्रकल्पित है क्योंकि कल्पित वस्तुओं के प्रकाशन से साक्षि कहा जाता है; स्वतः तो वह 'वाग्बुद्ध्यगोचर' है। यदि साक्षि

---

१. पंचदशी १०।११–१५।

२. 'बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि।
विषया बाह्यदेहस्था देहस्यान्तरहंकृतिः॥' (वही १०।१६)

अवाङ्मनस गोचर है तो मुमुक्षु को उसका ग्रहण कैसे होगा ? इस प्रश्न के समाधान में विद्यारण्य ने कहा है कि आत्मा यद्यपि अग्राह्य है तथापि सर्वग्रह अर्थात् स्वात्मातिरिक्त द्वैत के मिथ्यात्वविनिश्चय से इस द्वैतजात की उपशान्ति होने पर मुमुक्षु स्वात्मतया अवशिष्ट हो जाता है अतः अग्राह्यत्व के अभाव में भी साक्षिस्वरूपानुभूति असिद्ध नहीं ।[1]

विवेचित चित्चातुर्विध्य से यह निर्गलित होता है कि जैसे महाकाश घट से अवच्छिन्न सा प्रतीत होता है उसी प्रकार निर्विकार भी कूटस्थ स्थूल सूक्ष्म देहों से अवच्छिन्न सा प्रतीत होता है कूट अर्थात् लोहघन के समान निर्विकार रहने के कारण स्थूल सूक्ष्म-देहद्वयावच्छिन्न चैतन्य को कूटस्थ कहा जाता है ।[2] यह कूटस्थ ही साक्षि है और जीव से पृथक् है । पृथक् होते हुए भी जीव से तिरोहित होने के कारण साक्षि उसी प्रकार नहीं प्रतिभासित होता जैसे जलाकाशतिरोहित घटाकाश की प्रतीति नहीं होती ।[3]

साक्षि-स्वरूप-निरूपक उपर्युक्त त्रिविधि वर्णनशैलियों से यह निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि विद्यारण्य के आभास-प्रस्थान में न तो सुरेश्वर के आभास प्रस्थान के समान कारणाभास रूप ईश्वर को साक्षि माना गया है[4] और न अन्य अद्वैतवेदान्तियों के समान जीव को,[5] अपितु अधिष्ठानतया वर्तमान स्थूल-सूक्ष्म देहद्वयावच्छिन्न निर्विकार कूटस्थ को साक्षि कहा गया है ।

आभास की सात अवस्थायें:—

तृप्तिदीप प्रकरण में विद्यारण्य ने चिदाभास की निम्न सात अवस्थायें बतायी हैं—

(१) अज्ञान,
(२) आवृति,
(३) विक्षेप,
(४) परोक्ष ज्ञान,
(५) अपरोक्ष ज्ञान

---

१. पंचदशी–१०।१७–२५ ।
२. वही–६।१८-२२ ।
३. 'जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः ॥
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ॥ (वही-१८।२४)
४. प्रस्तुतशोधप्रबन्ध, तृतीय अध्याय, पृ० ८०-८१ ।
५. 'अन्ये तु सत्यं जीव एव साक्षी, न तु सर्वगतेनाविद्योपहितेन रूपेण ।' (सिद्धान्त लेश संग्रहः, परिच्छेद, १ पृ० १९० ।

(६) शोक-मोक्ष तथा
(७) निरंकुश तृप्ति।

इन्हीं अवस्थाओं से चिदाभास का बन्ध-मोक्ष सिद्ध होता है अतएव इनका उपन्यास महत्त्वपूर्ण है। अज्ञानावरणविक्षेपरूप प्रथम तीन अवस्थाएँ चिदाभास की बन्ध कारिणी हैं और अन्तिम चार मोक्षकारयित्री।[1]

बन्धहेतुक अवस्थाएँ :—आत्मतत्त्वविचार के प्रागभाव के साथ वर्तमान 'न जानामि' इस प्रकार से अनुभूयमान जो उदासीन व्यवहार का कारण है वह अज्ञान है। शास्त्रोक्त प्रकार का अतिलंघन कर केवल तर्क से विचार करने पर 'कूटस्थो न भाति' रूप में होने वाला अन्यथा प्रत्यय आवरण है। व्यामोह तथा विपरीत प्रतीति आवरण के कार्य हैं। स्थूल-सूक्ष्म शरीरद्वय सहित चिदाभास-प्रतिभास विक्षेप है। यह चिदाभास 'बन्धक' अर्थात् बन्ध का हेतु है। संसाराख्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा प्रमातृत्व सभी इसके कार्य हैं।[2] यह शंका कि अज्ञान और आवरण विक्षेपोत्पत्ति के पूर्व ही स्थित रहते हैं और चिदाभास विक्षेपान्तःपाति है अतः इस (चिदाभास) का अज्ञानवरणावस्थात्व संभव नहीं—अनुपयुक्त है; क्योंकि विक्षेपपूर्व अवस्थित भी अज्ञान आवरण का असंग आत्मावस्थात्व अनुपपन्न है अतः परिशेष से अज्ञान और आवरण दोनों को चिदाभास की ही अवस्था कही जाती है। विक्षेपोत्पत्ति के पूर्व भी विक्षेप संस्कार बना रहता है। इसलिए भी अज्ञान तथा आवरण का आभासावस्थात्व अविरुद्ध है। यह कथन—कि अप्रसिद्ध संस्काराभ्युपगम द्वारा विक्षेपावस्थात्व मानने से अच्छा है ब्रह्म में आरोपित अज्ञान तथा आवरण को ब्रह्मावस्थ मान लिया जाय—भी उपयुक्त नहीं; क्योंकि बन्ध में सभी अध्यारोपित हैं अतः ऐसा मानने पर अद्वैत सिद्धान्त का अपलाप होगा।[3] पूर्वाचार्यों के द्वारा कथित ब्रह्म की अज्ञानाश्रयता ब्रह्म के तदधिष्ठानत्व की विवक्षा से है। जीव अज्ञानाभिमानी है अतएव अज्ञान का जीवावस्था अर्थात् जीवाश्रयत्व ही समुपपन्न है।[4] स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म की अज्ञानाश्रयता अधिष्ठानत्वविवक्षा और जीव में अज्ञानाश्रयता तदभिमानित्वविवक्षा से है।

---

१. 'अज्ञानमावृतिस्तद्वद् विक्षेपश्च परोक्षधीः।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरंकुशा॥
सप्तावस्था इमा सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ।
बन्धमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बन्धकृताः स्मृताः। (पंचदशी, ७।३३-३४)

२. वही—७।३५-३७।

३. वही—७।३८-४२।

४. 'अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेति अधिष्ठानतया जगुः।
जीवावस्थात्वमज्ञानमभिमानित्वादवादिषम्। (वही —७।४३)

मोक्षहेतुभूत अवस्थाएँ:—

परोक्ष तथा अपरोक्ष ज्ञानद्वय के आवरणकारणभूत अज्ञान के नष्ट होने पर अज्ञानोत्पादित 'कूटस्थो न भाति' 'तथा कूटस्थो नास्ति'—व्यवहार के कारणरूप दोनों आवरण कारणाभाव के कारण विनष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि 'कूटस्थोस्ति' इस प्रकार के परोक्ष ज्ञान से अज्ञान का असत्त्वावरणकारणत्व निवृत्त होता है 'कूटस्थोस्मि' —इस अपरोक्ष ज्ञान से 'कूटस्थो न भाति' इस प्रकार का रूपावरण कारणत्व निवृत्त होता है। यद्यपि परोक्ष तथा अपरोक्ष ज्ञान क्रमशः आभास की चतुर्थ तथा पंचम अवस्थाएँ हैं पर मोक्ष-हेतु-क्रम में इन्हें क्रमशः प्रथम-द्वितीय कहा जा सकता है। अन्तिम दोनों अवस्थाएं अर्थात् शोक-मोक्ष तथा निरंकुश तृप्ति ज्ञान की फलरूप अवस्थाएँ हैं। अज्ञानावरण की निवृत्ति होने पर भ्रान्तितः प्रतीयमान जीवत्व के भी निवृत्त हो जाने से जीवत्व निमित्तक कर्तृत्वादि लक्षणात्मक अखिल संसाराख्य शोक भी निवृत्त हो जाता है। अविद्या तथा तत्कार्यभूत संसार निवृत्ति की यह अवस्था आभासात्मा जीव की छठी अवस्था है। शोकापगमलक्षणा निरंकुश तृप्ति चिदाभास की अन्तिम अवस्था है।

इस अवस्था में शोक-निरास हो जाने से आभास नित्यमुक्तरूप हो जाता है।[1] इसी अवस्था को आभास का मोक्ष कहा जाता है; क्योंकि यहाँ आभास का काल्पनिक स्वरूप पूर्णतया संत्यक्त हो जाता है और जीव कूटस्थत्वेन स्थित हो जाता है।[2]

आभास की इन सातों अवस्थाओं के विश्लेषण से यह सुतरां स्पष्ट है कि विद्यारण्य के आभास-प्रस्थान में आभासात्मा ही बन्ध तथा मोक्ष दोनों का अधिकारी है। आत्मा में बन्धमोक्षहेतुक इन अवस्थाओं के मानने पर आत्मा की कूटस्थता व्याहत होती है इसीलिए विद्यारण्य ने इन सभी अवस्थाओं को आभाससम्बन्वित बताया है।[3]

---

१. पंचदशी, ७।४४-४७।

२. वही—७। ८८।

३. ननूक्तावस्थासप्तकस्य आत्मधर्मत्वांगीकारे तस्य कूटस्थत्वं व्याहन्येत—इत्याशंक्य एताः सप्तावस्था चिदाभासस्यैव न कूटस्थेत्याह—सप्तावस्था इति।' (पंचदशी व्याख्या ७।३४ पृ० २४३)

सप्तम अध्याय

उपसंहार

श्रुतिहिमवत्-समुद्‌भूत अद्वैत-त्रिपथगा के स्रोत-स्थानीय आभास-प्रस्थान-संवंधित मत-मतान्तरों पर आवृत निष्कर्ष प्रस्तुत करने के पूर्व अद्वैत वेदान्त के अवच्छेद तथा प्रतिविम्ब प्रस्थानों से, प्रत्यभिज्ञादर्शन के आभासवाद से तथा ब्रैडले (Bradley) के आभास (appearance) से स्वग्रन्थाभिमत आभास-प्रस्थान के मुख्य सैद्धान्तिक अन्तरों को स्पष्ट किया जा रहा है ।

अवच्छेदवाद तथा आभासवाद :—

नीरूप चैतन्य का अन्तःकरण में आभास असंभव है तथा आभास जीव के मिथ्या होने के कारण वन्ध-मोक्ष-सामानाधिकरण्य अनुपपन्न होगा—ऐसा मानकर वाचस्पति मिश्र प्रभृति अवच्छेदवादियों ने आभासवाद का खंडन किया है तथा अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के रूप में जीव की व्यवस्था की है, अतः इनके प्रस्थान को अवच्छेदवाद कहा जाता है ।[1] इसके विपरीत नीरूप भी जपाकुसुम-रूप की स्फटिकादि में आभास-प्रतीति के समान नीरूप चैतन्य का अन्तःकरण में आभास सम्भव है[2] तथा स्वरूपतः मिथ्या भी आभास के लक्ष्यतः सत्य होने के कारण[3] वन्ध-मोक्ष-सामानाधिकरण्य उपपन्न होगा—ऐसा स्वीकार कर प्रस्तुत प्रवन्धविषयीभूत सुरेश्वरादि आचार्यों ने आभासवाद का प्रवर्त्तन और समर्थन करके अन्तःकरणगत चिदाभास के रूप में जीव की व्यवस्था की है, अतः इनके प्रस्थान को आभासवाद कहा जाता है । इन द्विविध प्रस्थानों के प्रमुख अन्तर निम्न हैं :—

---

१. वाचस्पत्यम्, पृ० ४२०, कलिकाता १९२९ ।

२. 'तथा च नीरूपस्य निरवयवस्य ब्रह्मणः कथं प्रतिविम्वः (आभासः)—इति चेन् १ न; काचिद् अत्रानुपपत्तिः । विभ्रमहेतूनां विचित्रत्वात् जपाकुसुमरूपस्य नीरूपस्यापि स्फटिकादौ प्रतिविम्वदर्शनात्, मठाद्यन्तर्गतपुरुषोच्चार्यमाण-शब्दस्यापि उपरिभागा-वच्छेदेन प्रतिशब्दाख्यप्रतिविम्बोपलम्भाच्च ।' (अद्वैतब्रह्मसिद्धिः):, चतुर्थो मुद्‌गर प्रहारः, पृ० २१६-१७ ।

३. 'जीवशब्दवाच्यस्य मिथ्यात्वेऽपि तल्लक्ष्यस्य सन्मात्रस्य सत्यत्वमिति व्यवस्था ।' (आनन्दगिरिः छान्दोग्यभाष्यटीका, अ० ६, खं० ४, म० ३, पृ० २९८)

(१) अवच्छेदवाद में अवच्छेद कल्पित है और उपाध्युपहित या अवच्छिद्य अर्थात् चैतन्य तात्त्विक है।[1] पर आभासवाद में उपाधि स्वान्तःपाति आभास के साथ मिथ्या है और आभासक अर्थात् चैतन्य तात्त्विक है।[2]

(२) जैसे महाकाश का घटादि उपाधियों से एकदेशीय सा परिच्छेद होता है, उसी प्रकार अवच्छेदवाद में अवच्छिद्य अर्थात् चैतन्य का अज्ञानादि उपाधियों से एकदेशीय सा अवच्छेद होता है, इसके विपरीत आभासवाद में चैतन्याभास सर्वात्मना ही उपाधिस्थ हो जाता है।

(३) अवच्छेद तथा अवच्छिद्य में सर्वथा अन्तर बना रहता है, पर आभास तथा उपाधि में अन्तर की प्रतीति नहीं होती। इसीलिए अवच्छेद के बाधित होने पर अवच्छिद्य के बाधित होने का प्रश्न नहीं, पर आभास और उपाधि दोनों समकाल बाधित होते हैं।

(४) अवच्छेदवाद का मुख्य सिद्धांत 'दृष्टिसृष्टिवाद' तथा जीवाश्रित-अज्ञानवाद है और आभासवाद का मुख्य सिद्धान्त नाम-रूपात्मक प्रपंच का 'कार्यकारणाभासवाद' तथा 'प्रत्यक्चैतन्याश्रित अज्ञानवाद' है।

अन्य अन्तरों को प्रस्तुत ग्रन्थ में यत्र तत्र स्पष्ट कर दिया गया है, अतः उनका पिष्टपेषण अनावश्यक है।

प्रतिबिम्बवाद तथा आभासवाद :—

'प्रतिबिम्बत्वं तु-उपाध्यन्तर्गतप्रतीयमानत्वे सति औपाधिकपरिच्छेदशून्यत्वे च सति बहिःस्थितस्वरूपत्वम्। उपाध्यन्तर्गतत्वे सति उपाध्यन्तर्गतस्वरूपाभिन्नत्वं बिम्बत्वम्।'[3] तथा 'चिद्वदवभासमानत्वे सति चिल्लक्षणरहितत्वात् चिदाभास इति च व्यपदिश्यते।'[4] इन प्रतिबिम्ब-बिम्ब तथा आभास के लक्षणों के आधार पर प्रतिबिम्ब तथा आभास के निम्नलिखित अन्तर किए जा सकते हैं :—

---

१. 'अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम्।' (वाक्यसुधा, श्लोक ३३) तथा 'अवच्छेदः कल्पितः स्यात् अवच्छेद्यं तु तात्त्विकम्।' (डायमंड जुबली कमेमोरेशन वाल्युम, पृ० २४, विवेक मुकुरः)।

२. 'वार्तिककारास्तदनुयायिनश्च……उभयोरपि काल्पनिकत्वं स्वीकृत्य आभासवादं निरूपयांचक्रिरे।' (वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर, सिद्धान्तबिन्दु उपोद्घात, अनुच्छेद २१, पृष्ठ १५।

३. अद्वैतब्रह्मसिद्धिः, चतुर्थो मुद्गरप्रहारः, पृ० २०२।

४. वेदान्तसंज्ञाप्रकरणम्, पृ० २५ तथा षट्पदीस्तवव्याख्या, पृ० २७ (डायमंड जुबली कमेमोरेशन वाल्युम)

(१) प्रतिविम्ब विम्ब ही है, वस्त्वन्तर नहीं, पर आभास मिथ्या है। स्पष्ट शब्दों में प्रतिविम्ब विम्बैकस्वरूपलक्षण और विम्बाभिन्न होने से सत्य है[1] किन्तु आभास उपाधिवत् अनिर्वचनीय होने के कारण मृषा है।[2]

(२) पारमार्थिक विम्बैकरूप प्रतिविम्ब सर्वथा सत्य है[3] किन्तु आभास स्वरूपतः मिथ्या तथा लक्ष्यत्वेन सत्य है।[4] अतएव प्रतिविम्बवाद में उपाधि का बाध तथा प्रतिविम्ब का अभेद में सामानाधिकरण्य होता है[5] इसके विपरीत आभासवाद में आभास तथा उपाधि दोनों का बाधा में सामानाधिकरण्य होता है।[6] कहने की अभिसंधि यह है कि प्रतिविम्ब पक्ष में 'जहदजहल्लक्षणा' तथा 'अभेदे सामानाधिकरण्यम्' की और आभास पक्ष में जहल्लक्षणा' एवं 'बाधायां सामानाधिकरण्यम्' की व्यवस्था है।

(३) आभास और प्रतिविम्ब दोनों यद्यपि चैतन्यमूलक हैं तथापि आभास की चैतन्यमूलकता केवल इतने में है कि वह (आभास) चिद् की अधिष्ठानता के बल से प्रतीत होता है न कि चैतन्य का स्वरूपावगाहि होता है किन्तु प्रतिविम्ब विम्बमूलक होने के साथ ही स्वरूपतः विम्बैकस्वरूपलक्षण भी है।

---

१. 'यत् पुनः दर्पणजलादिषु मुखचन्द्रादिप्रतिविम्बोदाहरणम्, तत अहंकर्तु-रनिदमंशो विम्बादिव प्रतिविम्बं न ब्रह्मणो वस्त्वन्तरम्: किंतु तदेव तत्,......कथं पुनस्तदेव तत् ? एकस्वरूपलक्षणतावगमात्।' (पंचपादिका, प्रथम वर्णक पृ० १०४)।

२. माण्डूक्यगौडपादीयभाष्यव्याख्या, ४।५२ पृ० १९२ तथा वाक्यसुधाव्याख्या, श्लोक २६।

३. किंच शास्त्रीयोऽपि व्यवहारः प्रतिविम्बस्य पारमार्थिकमेव विम्बैकरूपत्वं दर्शयति 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन। नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्।' इति।' (पंचपादिका, प्रथम वर्णक, पृ० १०८)।

४. छान्दोग्य भाष्य व्याख्या, ६।४।३ पृ० २९८, शास्त्रप्रकाशिका १।४।३८३ पृ० ५०८; केनवाक्यविवरण व्याख्या ३।१४।१ पृ० ३१ तथा अद्वैत ब्रह्मसिद्धिः चतुर्थो मुद्गरप्रहारः पृ० २०२-३।

५. 'न च सोऽयं स्थाणुः पुमानेष इतिवत् बाधायां सामानाधिकरण्यम्, फलिनोऽसत्त्वेना-निर्मोक्षपातादित्यर्थः।' प्रबोधपरिशोधिनी-आत्मस्वरूपकृत पंचपादिकाव्याख्या, पृ० १०८।

६. आनन्दगिरिः—न्यायनिर्णयः अ० १, पा० १, सू० ४ पृ० ८५ पंक्ति ३-४; मुण्डको-पनिषद्भाष्यव्याख्यानम् ३।१।११ पृ० ३४ तथा ऐतरेयोपनिषद्भाष्यटीका १।१ पृ० २७।

(४) त्रिलक्षणविरहित होने के कारण आभास किञ्चिन्मात्र वस्तुसंस्पर्शि नहीं, पर बिम्बलक्षणानुगत प्रतिबिम्ब वस्तुतः बिम्बसंस्पर्शि है, यद्यपि वास्तविक स्वरूपाग्रहण के कारण उसे बिम्ब से भिन्न समझ लिया जाता है।

(५) चैतन्यभिन्न आभास अज्ञानादि उपाधियों के भेद से कारणाभास तथा कार्याभास दो रूपों में प्रतीत होता है पर बिम्बाभिन्न प्रतिबिम्ब का उपाधिभेद से कथमपि भेद सम्भव नहीं। आभासक अर्थात् चैतन्य अपने कारणाभास तथा कार्याभास दोनों का अतिक्रामक है,[1] पर बिम्ब स्वरूपभूत प्रतिबिम्ब का अतिक्रामक नहीं हो सकता।

(६) आभास और उपाधि दोनों को एकरूप अथवा उपाधि का आभासान्यत्र सत्त्व न मानने के कारण आभासवादियों ने अज्ञानादि उपाधि को आभास कहा है,[2] किन्तु प्रतिबिम्ब को बिम्बाभिन्न तथा औपाधिक परिच्छेद शून्य माननेवाले प्रतिबिम्बवादी अज्ञानादि को कभी प्रतिबिम्ब नहीं कहते।

(७) आभास के लिये गुण या प्रकार की अपेक्षा होती है और प्रतिबिम्ब के लिए द्रव्य की अपेक्षा होती है।[3]

(८) आभास में उपाधि अपने गुण से उपधेय को समग्रतः व्याप्त करती है किन्तु प्रतिबिम्ब में उपाधि भागतः आच्छादित होती है।[4]

प्रत्यभिज्ञादर्शनसम्मत आभासवाद और अद्वैतवेदान्ताभ्युपगत आभास-प्रस्थान

कश्मीर देश के सिद्ध सोमानन्द (८५० ई०), उत्पलाचार्य (९०० ई०) तथा अभिनव गुप्त (९५०-१००० ई०) प्रभृति आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठापित दर्शन को प्रत्य-

---

१. बृ० उ० भा० वा०—अ० ४, ब्रा० ३, वा० ४१५; अ० ४, ब्रा० ३, वा० १३२० नैष्कर्म्य सिद्धि, अ० २, सम्बन्धोक्ति पृ० ६७; तथा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, अ० ३, पृ० ५३-५६।

२. 'न चाऽऽभासस्याभासिनोऽन्यत्र सत्त्वम्·········।' (शास्त्र प्रकाशिका, अ० १, ब्रा० ४, वा० ५०८, पृ० ५३६; 'चिदाभासं तमो ज्ञेयम्·········।' (बृ० उ० भा० वा, अ० ३, ब्रा० ४, वा० ३४१); 'अज्ञानादिकयं प्रत्यगाभासं यद्यपीष्यते।' (वही, अ० ३, ब्रा० ३, वा० ४१); प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभासं स्वकार्यनियतात्मकम् (वही, अ० ३, ब्रा० ७, वा० ४३) तथा 'प्रत्यगाभासं यदखंडं तमः।' (शास्त्र प्रकाशिका, अ० १, ब्रा० ४, वा० ५०१ पृ० ५३४।

३. 'आभासाय गुणस्य प्रकारस्य वापेक्षा प्रतिबिम्बनाय द्रव्यस्य।' (सिद्धान्तबिन्दु—उपोद्घात, अभ्यंकर, अनुच्छेद २६, पृ० १८)

४. 'तथा चाभास उपाधिः स्वगुणेन समग्रमुपधेयं व्याप्नोति प्रतिबिम्बने तु उपाधिर्भागेनाच्छादितो भवति।' (वही पृ० १८)

भिज्ञा या त्रिक दर्शन कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन को 'शिवाद्वयवाद' भी कहते हैं।[1] इस शिवाद्वयवाद में आभास की चर्चा बहुधा उपलब्ध होती है। 'जो कुछ प्रतीत होता है, जिसके द्वारा अनुभव या ज्ञान का विषय घटित होता है, जो भी बाह्येन्द्रिय या आन्तरेन्द्रियगोचर है, सुषुप्ति तथा मूर्च्छाकाल में इन्द्रिय तथा मन के व्यवहार-विरत होने पर भी जिसका अवगम होता है, वह सभी आभास है। इस प्रकार जो कुछ वस्तु है अर्थात् जो भी वस्तु किसी प्रकार की सत्ताधारण करती है; जिसके विषय में किसी प्रकार का शब्द प्रयोग किया जा सकता है, चाहे वह विषयी हो, विषय हो, ज्ञान का साधन हो या स्वयं ज्ञानरूप ही हो, वह 'आभास' है।[2] (१) शिव (२) शक्ति (३) सदाशिव (४) ईश्वर (५) शुद्ध विद्या (६) माया (७) कला (८) विद्या (९) राग (१०) काल (११) नियति (१२) पुरुष (१३) प्रकृति (१४) बुद्धि (१५) अहंकार (१६) मन (१७) श्रोत्र (१८) त्वक् (१९) चक्षु (२०) जिह्वा (२१) घ्राण (२२) वाक् (२३) पाणि (२४) पाद (२५) पायु (२६) उपस्थ (२७) शब्द (२८) स्पर्श (२९) रूप (३०) रस (३१) गन्ध (३२) आकाश (३३) वायु (३४) वह्नि (३५) सलिल तथा (३६) भूमि के भेद से छत्तीस तत्त्व शिवाद्वयवाद में माने गए हैं। स्वकीय कार्य में धर्मसमुदाय में या स्वसदृश गुणवाले वस्तु में सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को तत्त्व कहते हैं।[3] कथित तत्वों में शिवादि शुद्धविद्या पर्यन्त 'चित्' तत्व हैं तथा मायादि भूम्यन्त सभी 'अचित्' तत्त्व हैं। इन चित् और अचित् अर्थात् चेतन और जड़ सभी तत्त्वों को अभिनवगुप्त ने 'आभास रूप' बताया है।[4]

प्रत्यभिज्ञादर्शन की दार्शनिक दृष्टि अद्वैतवाद की है। त्रिकदर्शनविदों के अनुसार एक अद्वैत परमेश्वर तत्त्व है, जिसे 'चैतन्य', परासंवित्, 'परमेश्वर' तथा 'परमशिव' कहा जाता है। परमेश्वर के दो रूप हैं—(१) विश्वोत्तीर्ण तथा (२) विश्वमय।[5]

---

१. क्षेमेन्द्र : स्पन्दसन्दोह, पृ० १०।

२. डा० के० सी० पाण्डेय : अभिनवगुप्त—ऐन हिस्टारिकल ऐण्ड फिलासाफिकल स्टडी, पार्ट—२, चैप्टर २, पृ० ३२०, हिन्दी विश्वकोष, पृ० २६८ खण्ड १ तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी—'ईश्वरस्वभाव आत्मा प्रकाशते तावत् तत्र च अस्य स्वातन्त्र्यम् इति न केनचिद्वपुषा न प्रकाशते तत्र अप्रकाशात्मनापि प्रकाशते प्रकाशात्मनापि।'

३. स्वस्मिन्कार्येऽथवर्माघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे। आस्ते सामान्यकल्पेन (११३५-६)। तननाद् व्याप्तभावतः। 'तत् तत्त्वम् ···' (तन्त्रालोक ९।४-५)

४. 'आभासरूपा एव जडचेतनपदार्थाः।' (प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी)

५. 'उत्कीर्ण कामिके देवे सर्वाकृतिर्निराकृतिः' (तन्त्रालोक १।१०८) तथा 'सर्वाकृतिः विश्वमयः निराकृतिः विश्वोत्तीर्ण इत्यर्थः' (तन्त्रालोक टीका, १, १०४)।

विश्वमयरूप से परमशिव प्रत्येक वस्तु में व्याप्त रहता है और व्यापक होते हुए भी विश्वोत्तीर्ण रूप से प्रत्येक वस्तु का अतिक्रामक है। नाना नामरूपात्मक दृश्यमान यह जगत् परमानन्दमय प्रकाशैकघन परमशिव से सर्वथा अभिन्नतया स्फुरित होता है। अन्य कोई ग्राह्य या ग्राहक नहीं, इस प्रकार परम शिव भट्टारक ही नानावैचित्र्यों में स्फुरित होता है।[1] सिसृक्षा के प्रादुर्भूत होते ही परम शिव के दो रूप अपने में ही उद्भासित हो जाते हैं—(१) शिवरूप तथा (२) शक्ति रूप। शिव प्रकाशस्वरूप है और शक्ति विमर्शरूप है। स्वाभाविक अहंत्याकारक स्फुरण ही विमर्श है, यह स्फुरण विश्वोन्मीलन काल में विश्वाकार, विश्वस्फुरण काल में विश्वप्रकाश तथा विश्वनिमीलन काल में विश्वसंहरण रूप होता है।[2] विमल महाप्रकाशात्मा परमेश्वर की इस एक ही विमर्श या परामर्श शक्ति को आगमों में 'स्पन्द', 'स्फुरत्ता', 'ऊर्मि', 'बल', 'उद्योग', 'हृदय', 'सार', 'मालिनी' तथा 'परा' आदि अनन्त संज्ञाओं से अभिहित किया गया है।[3] एक होने पर भी यह विमर्शशक्ति युगपत् ही उन्मेष-निमेषमयी है।[4] जिस प्रकार दर्पण के अभाव में मुख रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार विमर्श के बिना प्रकाशस्वरूपलाभ नहीं होता। तात्पर्य यह है कि प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव-शक्ति का अभेद चन्द्र-चन्द्रिका के अभेद के समान है। शक्तिसम्पन्न शिव ही अपनी इच्छा से

---

१. 'श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण—विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलमभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा अपितु श्रीमत्परमशिवभट्टारक एवं इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति ॥ (क्षेमेन्द्र, प्रत्यभिज्ञाहृदय, सू० ३)

२. विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशनेन विश्वसंहरणेन चाकृत्रिमाहमिति स्फुरणम्। (पराप्रवेशिका, पृ० ३)

३. 'इह परमेश्वरस्य महाप्रकाशात्मनो विमलस्यापि एकैव परामर्शशक्तिः किंचिच्चलत्ताभासरूपतया स्पन्द इति, स्फुरत्ता इति, ऊर्मिः इति, बलम् इति, उद्योग इति, हृदयम् इति सारम् इति, मालिनी इति परा-इत्याद्यनन्तसंज्ञाभिः आगमेषु उद्घोष्यते। (स्पन्दसन्दोह, पृ० ५)

४. सा च एकापि युगपदेव उन्मेषनिमेषमयी। तथा हि सदाशिवादि क्षितिपर्यन्तस्य तत्त्वग्रामस्य प्राक्सृष्टस्य या संहारापेक्षया निमेषनूः सैव सद्प्रमाणभेदापेक्षया उन्मेषदशा। प्राक्सृष्टभेदसंहाररूपा च या निमेषदशा सैव चिदभेदप्रथायां उन्मेषनूः। भेदासूत्रणरूपा च या उन्मेषदशा सैव चिदभेदप्रथायां निमेषभूः (वही, पृ० ५६)

पदार्थों का सृजन करता है अतः शक्ति तथा शिव का भेद कथमपि नहीं कहा जा सकता।[1]

(१) चित् (२) आनन्द (३) इच्छा (४) ज्ञान और (५) क्रिया—इन मुख्य पाँचों शक्तियों से युक्त परमशिव स्वेच्छापूर्वक स्वभित्ति में ही उस प्राक् निर्णीत विश्व का उन्मीलन (अवस्थित का प्रकटीकरण करता है जो पारमार्थिक दृष्टि से अभिन्न होने पर भी भिन्न सा प्रतीत होता है।[2] निर्मलदर्पण में प्रतिबिम्बित जैसे भूमि, जल आदि परस्पर भिन्न-भिन्न रूप आकार विशेष दर्पण से अनतिरिक्त होने पर भी अतिरिक्त के सदृश भासित होते हैं, वैसे ही अद्वितीय चित्तत्व में समस्त विश्ववृत्तियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं।[3] स्वच्छ दर्पणादि का ही यह प्रभाव है, कि वस्तु-अवस्तु से विलक्षण आभास-मात्रसार प्रतिबिम्ब के नाम से प्रतिभासित होता है। जैसे भगवान् के द्वारा दर्पणादि में आभासमात्र जिनका सार है, ऐसे पदार्थ अवभासित किए जाते हैं, वैसे ही संवित्तत्व भित्ति में विश्व भासित होता है।[4] संवित् से परे आभास या आभासात्मक विश्व का कोई वाह्य रूप नहीं, इस बोध के संवर्धन के लिए प्रतिबिम्बविधि का आश्रय लिया जाता है। स्पष्ट शब्दों में भासनसारता ही प्रतिबिम्बता है। प्रतिबिम्ब से परे आभास और कुछ नहीं है।[5] आभास या प्रतिबिम्ब सिद्धान्त को मानने के कारण प्रत्यभिज्ञा का दार्शनिक सिद्धान्त 'आभासवाद' या 'प्रतिबिम्बवाद' कहा जाता है। विमर्शरूपा

---

१. 'न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिव्यतिरेकिणी। शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तु-मीहते॥ शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।' (सोमानन्द, शिवदृष्टि ३।२-३१) 'स्वभित्तौ न तु अन्यत्र क्वापि प्राक् निर्णीतं विश्वं दर्पणनगरवत्, अभिन्नमपि भिन्न मिव उन्मीलयति।

२. उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम् (प्रत्यभिज्ञाहृदय) सू० २।

३. 'निर्मले मुकुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादयः।
अमिश्रास्तवदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः।' (तन्त्रालोक ३।४)।

४. स्वच्छस्य दर्पणादेरेवेष प्रभावो यद्वस्तु-अवस्तुविलक्षणमाभासमात्रसारं प्रतिबिम्बं नामेदं प्रतिभासते इति, तेन भगवता यथा दर्पणादौ आभासमात्रसारा एवं भावा अव-भास्यन्ते तथा संवितापीति न वह्रिरूपत्वेनेषां सत्त्वमस्तीति बोधं दर्शयितुं वाह्या-र्थाभिनिवेशिनामेतदुपदेष्टव्यम् अतः सर्वमेवेदमाभासमात्रसारमेवेति न वाह्यार्था-भिनिवेष्यं येन द्वैतमोहः शाम्येत्। (राजानक जयरथ, तन्त्रा० विवेक, पृ० २६)

५. भासनसारतैव प्रतिबिम्बता।...इह अवभासनसारमेव प्रतिबिम्बत्वम् 'यथोक्तं श्रीतन्त्रालोके—न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा। नचान्योन्यासंगो न च तदपहानिर्न घनता न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति। ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरदिशद्दर्पणविधिः' (ई० प्र० वि० विमर्शिनी, पृ० १६८)

स्वातन्त्र्यशक्ति प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार प्रधान शक्ति है,[1] अतएव प्रत्यभिज्ञा के दार्शनिक सिद्धान्त को 'स्वातन्त्र्यवाद' भी कहा जाता है।[2]

अतन्र-प्रत्यभिज्ञा के आभासवाद से श्रुत्यन्तवेत्ताओं के आभास प्रस्थान का इस प्रकार है—(१) त्रिकदर्शनविदों का आभास वस्तुतः संवित्तत्त्व से अतिरिक्त नहीं क्योंकि प्रत्यभिज्ञा सम्मत परमतत्त्व अर्थात् परम शिवभट्टारक अन्तःकृतानन्त विश्वरूप है,[3] इसके विपरीत आभास प्रस्थान में आभास अनिर्वचनीय हैं और अनाभास ब्रह्म में उसी प्रकार कल्पित हैं जैसे रज्जु में सर्प की प्रकल्पना कर ली जाती है। (२) विश्व का आभासात्मक रूप यद्यपि प्रत्यभिज्ञा तथा अद्वैतवेदान्त दोनों के आभासवाद में समर्थित है तथापि प्रथम में आभास की सत्ता प्रकाशात्मना व्यवस्थित रहती है और दूसरे में आभास की सत्ता अविद्या तत्कार्यात्मना विजृम्भमाण होती है। (३) त्रिकदर्शन में आभास के उदय तथा विश्व के पदार्थों के स्फुरण में उपाधि की अपेक्षा नहीं क्योंकि परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति से आभासों के स्वयमेव उन्मीलन तथा निमीलन होते रहते हैं, पर अद्वैतवेदान्त में आभासावभासनार्थ उपाधि की अनिवार्य आवश्यकता है। बिना उपाधि के न तो आभास-सत्ता की प्रतीति होती है और न विश्व के विविध विचित्र पदार्थसार्थ का अवभासन ही होता है। स्पष्ट शब्दों में पूर्ण स्वतन्त्र परमशिव को विश्वोन्मीलन के लिए किसी की अपेक्षा नहीं किन्तु श्रुत्यन्तवेत्ताओं के ब्रह्म में अविद्या तथा तत्कार्यों के विक्षेप एवं अवभासन माया तथा तत्कार्योंपाध्यधीन हैं, अतएव माया अघटितघटनापटीयसी :मानी जाती है। (४) परमशिव का विश्वोत्तीर्ण और और विश्वमय दोनों रूप वास्तविक है पर अखण्डानवच्छिन्न, निष्प्रपंच, निष्प्रदेश ब्रह्म की विश्वमयता अनिर्वचनीय या मिथ्या है। (५) अद्वैतवेदान्त सम्मत आभास-प्रस्थान के अनुसार ब्रह्म निष्क्रिय है पर प्रत्यभिज्ञा के परमशिव सक्रिय हैं क्योंकि परमशिवसृष्टि, स्थिति, संहार तिरोभावतथा अनुग्रहकरण—

---

१. सर्वाः शक्तिः कर्तृत्वशक्तिः ऐश्वर्यात्मा समाक्षिपति साच विमर्शरूपा इति युक्तम् अस्या एवं प्राधान्यम्। (ई० प्र० वि० १, २१४)

२. तस्मात् अनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवः भगवान् स्वातन्त्र्यादेव प्रकाशते, इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः।' प्र० वि० वि०), अभिनवगुप्त-ऐन हिस्टारिकल एण्ड फिलासाफिकल स्टडी, पृ० ३२८-२९ तथा डा० शिवशंकर अवस्थीः मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) पृ० १८४ तथा आगे।

३. 'न चेदन्तः कृतानन्तविश्वरूपः।' (ई० प्र० वि० १।१०६) तथा डा० के० सी० पाण्डेयः अभिनवगुप्त-ऐन हिस्टारिकल एण्ड फिलासाफिकल स्टडी —पृ० ३३७-३८।

इन पंचकृत्यों को सदैव किया करता है।[१] (६) अद्वैत वेदान्तियों के आभास के दो रूप हैं—(१) कारण चिदाभास और (२) कार्य चिदाभास। अविद्यान्तःसंपुटित कारणरूप चिदाभास चिल्लक्षणानुरोधि होने के कारण स्वतः ही अविद्या तथा अविद्योपादानक अनन्त वस्तुओं की सत्ता तथा स्फूर्ति का प्रोद्भासक है पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रकाश स्वतः ही जगत् के अशेष विशेषों का स्वरूपाभिन्नतया प्रोद्भासक है।

ब्रैडले सम्मत आभास और आभास-प्रस्थान:—

यूरोप के नव्य आध्यात्मवादियों में ब्रैडले (Bradley) का विशिष्ट स्थान है। उनके ग्रन्थ (Appearance and Reality) के आद्योपान्त अनुशीलन से सहसा उनकी तथा आभासवादियों के मत की समानता प्रतीत होती है। पर यह मत-साम्य प्रातीतिक है, वास्तविक नहीं-यह स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम ब्रैडले के द्वारा अधिकृत सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा हैं।

द्रव्य, गुण, सम्बन्ध आदि की सूक्ष्म विवेचना करने पर ब्रैडले इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि ये सभी परस्पर विरोध-ग्रस्त हैं और इसीलिए जगत् का जो रूप हमारी बुद्धि को प्रतीत होता है, वह आभासमात्र है, वास्तविक सत्य नहीं। वास्तविक सत्य परम तत्त्व (Absolute) है। 'ईश्वर भी इस निरपेक्ष तत्त्व की अवस्था (aspect) मात्र है और इसका अर्थ यही है कि ईश्वर परम तत्त्व का आभास है।'[२] मूल तत्त्व तथा आभास के अन्तर में ग्रन्थ के उद्देश्य का पर्यवसान है। सत्य स्वयं अविरुद्ध तथा एकतान सत्ता (Self-consistent and harmonious existence) है और आभास वह है जो विश्लेषण अथवा परीक्षण काल में विरोधमय (Self-Contradictory) पाया जाता

---

१. 'इह ईश्वरद्वयदर्शनस्य ब्रह्मादिभ्यः अयमेव विशेषः यत् सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थिति कारकम्। अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्।' इति श्रीमत्स्वच्छन्दादिशासनोक्तनीत्या सदा पंचविधकृत्यकारित्वं चिदात्मनो भगवतः।' (प्रत्यभिज्ञाहृदय, सू० १०)।

२. We may say that God is not God till he has become all in all, and that a God which is all in all is not the God of religion. God is but an aspect, and that must mean but an appearance of the absolute. (F. H. Bradley, Appearance and Reality, p. 397).

है।[1] अनुभव या ज्ञान का विषय जगत् यद्यपि सत्य प्रतीत होता है पर जब हम इसे समझने का अभियान करते हैं, तो यह विरोधों और अनुपपत्तियों से समाकीर्ण हो जाता है। वस्तुत: जब सत्य के स्वरूप में जगत् का परीक्षण किया जाता है, तो हमारे अनुभव का यह समस्त जगत् विरोधों में विशीर्ण हो जाता है, इसकी सुगमता समाप्त हो जाती है तथा आन्तरिक असामंजस्यों के कारण आभास रूप ही रह जाता है, तात्त्विक नहीं रहता। संबंधित्व (relatedness)जगत् का मुख्य लक्षण है। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से संबंधित है। ये सम्बन्ध एक ही समय में एक तरफ तो (जगद्वस्तुसंबन्धित) संज्ञाओं को पृथक् पृथक् कर देते हैं तथा उन्हें व्यक्तिता एवं आत्माधीनता प्रदान करते हैं और दूसरी तरफ जगत् की इन संज्ञाओं को छिन्न-भिन्न कर देते हैं तथा इनकी आत्मपूर्णता (self-sufficiency) समाप्त कर देते हैं।[2] इस प्रकार संबन्धित्व आभास का मुख्य चिह्न है क्योंकि संबन्धित संज्ञायें अपने अभिप्राय में दुर्बोध तथा विरुद्ध हैं। संक्षेप में आभास विरोधों के समाहार हैं। विश्लेषण के पूर्व ये सत्य प्रतीत होते हैं, किन्तु जब तद्विषयक सूक्ष्म अनुसंधान किया जाता है, तब इनका सत्यत्वाभिमान असार हो जाता है और इस काल में यह, ब्रैडले के शब्दों में 'ध्वस्त' (undermined) तथा 'विनष्ट' (ruined) हैं।[3]

पर क्या आभास पूर्णत: परम तत्त्व में नष्ट हो जाते हैं? ब्रैडले के लिए इस प्रश्न का उत्तर नकरात्मक है। उनका विश्वास है कि प्रत्येक आभास परम तत्त्व की

---

1. Reality for him is the self-consisent and harmonious existence, appearance is that which when analysed is found to be self-contradictory. (The nature and value of Appearance in Bradley's philosophy by J. N. Chubb, Philosophical Quarterly Vol. VII, p. 208.

2. The nature and value of Appearance in Bradley's Philosophy by J. N. Chubb, Philosphical quarterly, Vol VII, p. 208.

3. (Ibid) 'Relatedness is thus a mark of appearance, since related terms are unintelligible and inconsistent in their meaning. Appearances in short are bundles of discrepancies. Before analysis, they seem to pass off as real. But when clearly examined their claim to reality is found to be unsubstantial and they are to use Bradley's words 'undermined and ruined'.

कड़ियाँ बनाता है तथा सम्पूर्ण तत्त्व की एकता के लिए आवश्यक है।[1] आभास पूर्णतः असत्य नहीं। वे सत्य स्वभाव वाले हैं और इस लिए क्षणिक (momentities) नहीं कहे जा सकते। जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह है। अतएव न तो उसे निराकृत किया जा सकता है और न उससे छुटकारा मिल सकता है।[2] आभासों का कहीं अवस्थान होना चाहिए और चूँकि तत्त्व-बाह्य कोई स्थान नहीं जिनमें वे रह सकें अतः किसी भी प्रकार से आभासों को तत्त्वान्तःपाति तथा तत्त्व प्रकारभूत होना चाहिए। परन्तु आभास का यह तत्त्वान्तःपातित्व तत्त्व की एक रसता का परिपन्थी न हो।[3] 'जो कुछ भी आभासित होता है, वह कथंचित् सत्य है।' पर स्वतः विरोधी आभास अपने यथावस्थित रूप से तत्त्व का यथार्थ सम्बन्धी नहीं रह सकता। कम से कम जिस रूप में परम तत्त्व आविर्भूत होता है, उस रूप से वह वास्तविक या संभव विशेषण के रूप में परस्पर विरुद्ध आभास का अंगीकार नहीं कर सकता, क्योंकि 'सभी को एकरसतया समन्वित रखना ही चरम तत्त्व का लक्षण है।' इसीलिए मूलतत्त्व के अवयव बनने के पूर्व आभास का अविरुद्ध स्वरूप में निर्गलित होना आवश्यक है। इस अविरुद्ध स्वरूप से आभास सत्य है। चाकचिक्यपूर्ण दृग्विषयीभूत नामरूपनिवह को कथमपि अभिन्न और स्वयं अविरुद्ध होना चाहिए क्योंकि यह परम तत्त्व से अतिरिक्त कहीं रह नहीं सकता और परम तत्त्व सभी विरोधों को व्यावृत्त कर देता है। इस लिए ब्रैडले के अनुसार आभास अन्तर्विरोध को तभी व्यक्त करते हैं जब हम उन्हें पृथक् रूप से सोचते हैं। उनका विश्वास है कि सम्पूर्ण वस्तुओं के युक्तियुक्त पुनर्विन्यास तथा पुनर्मिश्रण

---

1. But upon on the other hand in the Absolute no appearance can be lost. Each one contributes and is essential to the unity of the whole. (F.H. Bradley : Appearance and Reality, p. 404)
2. Appearances are not wholly unreal. They have a positive character and for that reason not mere momentities. Whatever appears is and such it can not be merely shelved and got rid of. (The nature and value of appearance in Bradley's philosophy, p. 209) and...but for the present we may keep a fast hold upon this, that appearances exist. That is absolutely certain and to deny it is nonsense. And whatever exists must belong to reality (Appearance ahd Reality : Bradley, p. 114)
3. Appearance and Reality, pp. 113-14. 165,403 Foll, 429-30, 493, 511 and 526.

से आभासों के विरोध का पूर्णतः अपहार हो जाता है। ब्रैडले के दर्शन में विरुद्ध तथा दुर्बोध आभास रूपान्तरपरिणाम के विषय हैं। इस परिणामप्रक्रिया से आभास परिष्कृत तथा निर्दुष्ट (moidficd and corrected) हो जाता है।[1] इसका विरोध, एकता में विगलित (dissovled in a fuller harmony) हो जाता है और पूर्व के विरोधों तथा समाघातों के स्थान पर स्वतः तथा तत्त्व के अन्य अवशिष्टों के साथ शान्ति में विश्रान्त हो जाता है। ब्रैडले के इन विचारों से स्पष्ट है कि यद्यपि आभास से अतिरिक्त कुछ न होने के कारण आभास तत्त्व से बाहर नहीं तथापि परम तत्त्व आभास का यान्त्रिक पर्यवसान नहीं अपितु एक ऐसा अविरूद्ध निःशेष है जिसमें आभास अवयव के रूप में हैं पर इनका यह अवयवीभाव ऐसा नहीं कि जिससे ये किसी भी वस्तु के रूप में पृथक् रह सकें। ब्रैडले के शब्दों में ही 'निरपेक्ष तत्त्व प्रत्येक आभास है और सर्वात्मा है, किन्तु स्वतः उनमें से कोई एक नहीं।'[2] एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है कि 'आभास परम तत्त्व के बिना असंभव है क्योंकि इस तत्त्व के अभाव में किसका आभास हो सकेगा ? और परम तत्त्व भी आभास के बिना शून्य होगा, क्योंकि निश्चयतः आभास के बाहर अन्य कुछ नहीं। दूसरी तरफ परमतत्त्व वस्तुओं का संकलन नहीं। यह अभेद है, जिसमें समापतित सभी वस्तुएँ एक साथ तो परिणत हो जाती हैं किन्तु बराबर नहीं परिणत होतीं।'[3]

---

1. He believes that by skillful rearrangement and by reshuffling the whole mass of fact, appearances can be made free from discrepancy in the whole. An appearance which is inconsistant and unintelligible is subjected to tranformation and it emerges out of the process "modified and corrected"
(Nature and Value of Appearance in Bradley's Philosophy P. 209.)
2. N.N. Shastri : Study of Shankar- "Nevertheless appearance is not outside reality for there is nothing beyond appearance. The Absolute, however, is not a mechanical summanation of appearance but a consistent whole, in which appearances are not detached thing either. To quote his own words 'The Absolute is each appearance, and is all, but it is not any one as such" p. 126.
3. 'Appearance without reality would be impossible, for what then could appear ? And reality without appearance would be nothing, for there certainly is nothing without appearances. But on the other hand Reality is not the sum of things, coming together, are transmuted, in which, they are changed all alike, though not changed equally.' '(Appearance and Reality, p. 432)

अन्तर :—

ऊपरि निर्दिष्ट ब्रैडले के सिद्धान्त से आभासवादियों के सिद्धान्त का अन्तर इस प्रकार है। ब्रैडले विरोधों से संकीर्ण आभास की पूर्ण सत्यता का खंडन तो करते हैं पर 'आभास मनागपि सत्य नहीं'—इस विचार के प्रति दृढ़तापूर्वक अपनी असम्मति प्रकट करते हैं। उनका विचार है कि आभास यद्यपि स्वतः सत्यतारहित हैं पर पुनर्मिश्रण की प्रक्रिया से 'परिष्कृत तथा अदुष्ट' हो जाने पर वे परमतत्व में एकीभूत तथा परिणत रूप से रक्षित रहते हैं। इस प्रकार ब्रैडले का परम तत्व निस्संदेह समस्त आभासों को अपने में अन्तर्भूत तथा रक्षित किये रहता है, इसके विपरीत आभासवादियों का अनन्यायत्त, निरपेक्ष ब्रह्म समस्त आभासों का प्रत्याख्यान और निषेध कर देता है[१] (तदन्यत्तदाभासं तत्त्वा प्रतिषिध्यते— बृ० उ० भा० वा० २।३।१६१) ब्रैडले के अनुसार परम तत्व असंख्य आभासों से घटित एक संयुक्त अवयवी (United Whole) है तथा आभास इसके अविभाज्य अवयव हैं। भले ही उनका परम तत्त्व अद्वैत हो, पर आभासवादियों के समान इसे हम कार्य-कारणातीत अद्वैत न कह कर मिश्रित अद्वैत (Complex Unity) कहेंगे, क्योंकि आभास प्रस्थान सम्मत अखंड, अनवच्छिन्न, निराभास, निष्प्रपंच अद्वैत में आभासों का योग कथमपि सम्भव नहीं। अद्वैत वेदान्त के आभास-सिद्धान्त में आभास अनात्मतया परिगृहीत हैं अतः उनके उदय या निरास से अद्वैत में कोई भी विकृति नहीं आ सकती, पर यदि ब्रैडले के आभासों को मूल तत्व से पृथक् कर दिया जाय तो उन (ब्रैडले) का अद्वैत निश्चय ही शून्य में पर्यवसित हो जायगा।[२]

आभास को अंशतः सत्य मानकर ब्रैडले ने उसे परमतत्व से संबन्धित करने का जो प्रयत्न किया है, वह संगत नहीं क्योंकि बिना विरोध-निराकरण के आभास का मूल तत्त्व से संबन्ध सम्भव नहीं। विरोध आभास का स्वरूप है अतः आभास से विरोध को निकालना आभास को ही नष्ट करना होगा। यदि आभास के स्वरूपभूत विरोध समाप्त हो जायेंगे तो आभास तथा मूल तत्त्व का अन्तर नहीं रह सकेगा क्योंकि

ऐसी स्थिति में आभासों का लक्षण क्या होगा ?[1] आभासवादियों के यहाँ ब्रह्म से आभास का कथमपि सम्बन्ध सम्भव नहीं, अतएव उनके प्रस्थान में इसे भ्रम माना गया है (दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत—पंचदशी ८।५२)

संक्षेप में ब्रैडले के आभास विज्ञानमय हैं और आभास-प्रस्थान के अनुसार विज्ञानमय तथा भ्रम दोनों है। एक का आभास आंशिक सत्य है और दूसरे का अविचारितसंसिद्ध तथा अनिर्वचनीय है।

ग्रन्थ-निष्कर्ष :

प्राग्भूत अध्यायों में प्रस्तुत आभासवाद के विभिन्न प्रस्थानों के आनुक्रमिक तथा समीक्षात्मक अध्ययन से केवल इतना ही नहीं स्पष्ट होता कि आभासवाद अनेक श्रुत्यन्तवेत्ताओं का प्रिय तथा अविलुप्त दर्शन है अपितु वे मान्यतायें भी व्याहत होती है, जिनके आधार पर आभासवादसमर्थक अद्वैत वेदान्तियों को भी प्रतिबिम्बवादी माना गया तथा आभासवाद प्रतिबिम्बवाद का अन्तर्गूढ़ बना रह गया। शंकराचार्य के पूर्व या उनके ग्रन्थों में आभास का सैद्धान्तिक रूप नहीं व्यवस्थित हो सका, यह दूसरी बात है। पर उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य के द्वारा सिद्धान्तबद्ध होने के पश्चात् से ही यह सर्वज्ञात्ममुनि प्रभृति आचार्यों की श्रद्धा का विषय बना और उन्होंने अपने ग्रन्थों के माध्यम से आभास प्रस्थान का समर्थन किया। इन आचार्यों के मतों में भी कतिपय विभिन्नतायें है (जिनका उल्लेख यथा स्थान कर दिया गया है) पर इन विभिन्नताओं के होने पर भी ग्रन्थोपन्यस्त सभी आचार्य आभास के मिथ्यात्व का एक स्वर से अनुमोदन करते हैं। सम्प्रति आभास-प्रस्थान के उन व्यावर्तक अंगों का मूल्यांकन किया जा रहा है, जिनके कारण शांकराद्वैत में इसे विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

आभास-प्रस्थान का सर्वप्रथम व्यावर्तक अंग हैं—ईशादि विषयान्त सकलकार्य-कारणात्मक जगत् का कारणाभास तथा कार्याभास की कोटि में व्यवस्थापन। चिदाभास विशिष्ट जाड्य-मौढ्य-मांद्य-लक्षणा-अविद्या, अविद्योपाधिक साक्षि-ईश्वर-नियन्ता, अपंचीकृत भूतपंचकारब्ध समष्टिबुद्ध्युपाधिक—हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा और पंचीकृत भूत पंचकारब्ध समष्टि उपाध्युपहित—विराट् प्रभृति कारणाभास है तथा अविद्योपादानक अनन्तबुद्धि, क्रिया-कारक-फलात्मक जडप्रपंच, सात्त्विक-राजस तामस, व्यष्टि-बुद्ध्युपाधि, सम्बन्धतया प्रतिभासमान अनेक जीव तथा सुषुप्त्यादि अवस्था-भेद से जीव के प्राज्ञ-तैजस-विश्व-संज्ञक भेद कार्याभास हैं। जो लोग अर्धजरतीय न्याय से जगत् को मिथ्या

---

1. The nature and value of Appearance in Bradley's Philosophy by J. N. Chubb. pp. 210 & 212.

मान कर भी ईश्वरादि तथा जीवों को आभासभूत नहीं मानते वे इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ होंगे कि यदि जगत् मिथ्या है तो जगदन्त:पाति जीवादिक मिथ्या क्यों नहीं ? आभासवादियों ने 'यक्षानुरूपो वलि:' इस लौकिक न्याय के अनुसरण पूर्वक ईश्वर जगत् और जीव सभी को आभास मानकर इस जटिल प्रश्न का समाधान कर दिया है।

अनिर्वचनीयता की संसिद्धि में आभासवाद के दूसरे प्रमुख वैशिष्ट्यका परिचय प्राप्त होता है। अविद्या अनिर्वचनीय है, इस विषय में किसी भी अद्वैतवेदान्ती की विप्रतिपत्ति नहीं, पर अविद्या की अनिर्वचनीयता का रहस्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में आनन्दगिरि का यह कथन 'चिदाभासव्याप्तत्वमेव अविद्याया अनिर्वाच्यत्वम्' अद्वैत वेदान्त के अनिर्वचनीयतावाद के लिए अत्यन्त महत्त्व रहता है। चिदाभास के अभाव में अविद्या के कार्य न तो प्रोद्भासित हो सकते हैं और न लब्धसत्ताक, फिर उनकी अनिर्वचनीयता सिद्धि तो अत्यन्त असम्भव है। यह शंका कि—आभासव्याप्ति ही अविद्या तथा उसके कार्यों को अनिर्वचनीय बनाती है अतः यदि आभासव्याप्ति न हुई तो अविद्यादि की अनिर्वचनीयता भंग हो सकती है—उचित नहीं, क्योंकि आभासवादियों ने स्पष्ट कह दिया है कि अज्ञान तथा उसके कार्य (अव्याकृत, व्याकृत तथा स्थूल) सभी अवस्थाओं में आभास खचित रहते हैं तथा आभास से इनका सहज सम्बन्ध सदैव बना रहता है; अतः कभी भी अनिर्वचनीयता की असिद्धि नहीं हो सकती।

जगत्-कारणता के क्षेत्र में भी आभास प्रस्थान का अन्यतम व्यावर्तक वैशिष्ट्य संलक्षित होता है। अवच्छेवादियों तथा प्रतिविम्बवादियों का अवच्छेद या प्रतिविम्ब कारणता के रङ्गमञ्च पर उस भूमिका का निर्वाह नहीं करता जो आभासवादियों का आभास करता है। आभास प्रस्थान के अनुसार ईश्वर स्वयं कारणाभास है और यह कारणभास ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा हानि का प्रयोजक है। प्रतिविम्ब वाद और अवच्छेदवाद की दृष्टि में चैतन्य एवं अविद्या यही दो जगत्कारणता के मुख्य तत्व हैं पर आभासवाद के अनुसार कूटस्थ, कूटस्थाभास तथा कूटस्थ मोह तीन तत्त्व हैं। वस्तुतः अविद्यागत कूटस्थाभास जिसे ईश्वर या कारणभास की संज्ञा दी जाती है, वही अनन्त भेदों के रूप में प्रतिभासमान जगत् का निदान है। कूटस्थ की कारणता का व्यपदेश तो उसके आभासविविक्ततया प्रतीयमान होने के कारण कर दिया है। अज्ञानादिविषयान्त सभी को आभासपरिसर में समाकलित कर देने वाली आभास की इस विस्तृत दृष्टि का सामंजस्य अवच्छेद या प्रतिविम्ब पक्षों में नहीं प्रप्त हो सकता; भले ही इन प्रस्थानों में अवच्छेद या प्रतिविम्ब आनुषंगिक रूप से कारणता में उपयोगी सिद्ध हो जायें।

अद्वितीय अखंडैकरस सच्चिदानन्दैकतान आत्मतत्त्व से जीव तथा जगत् की अभेद सिद्धि में आभासवादियों ने जिस दृष्टिकोण को अपनाया है, उसे आभासवाद का

अन्तिम ध्यावर्तक अंग कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के पूर्व आभास-प्रस्थान की अनुपपत्ति-प्रकाशिनी दो शंकाओं का उल्लेख आवश्यक है —

(१) यदि आभासात्मक जीव-जगत् मिथ्या या अनिर्वचनीय है तो 'स एष यह प्रविष्ट :' इत्यादि अभेदवादिनी श्रुतियों से आभास-प्रस्थान का विरोध होगा। तथा (२) यदि जीव का ब्रह्म से अभेद माना जाय तो प्रतिविम्ब प्रस्थान से आभास प्रस्थान के व्यावर्तन की आवश्यकता नहीं।

आभासवाद के लिए इन दोनों शंकाओं का आभास से अधिक महत्व नहीं, क्योंकि इस प्रस्थान में जीव-जगत् सभी स्वरूपतः मिथ्या होते हुए भी लक्ष्यत्वेन आत्मा से अभिन्न है। अतः श्रुतियों से आभास-प्रस्थान का कोई विरोध नहीं। जीवादिक के ब्रह्मवस्त्वन्तरत्व-प्रतिषेध से भी आभास के स्वतंत्र प्रस्थान होने में कोई विरोध नहीं, क्योंकि जैसे शुक्तिरजत अपने भाव तथा अभाव दोनों क्षणों में शुक्ति से अतिरिक्त नहीं, उसी प्रकार चिदाभासात्मक जीवादि भी भाव तथा अभाव दोनों अवस्थाओं में आत्मारिक्त नहीं हो सकते।

आभास-प्रस्थान के उपर्युक्त व्यावर्तक अंगों के विवेचन के साथ ही हम अपने ग्रन्थ का समापन करते हैं तथा उन निगमशिखानिष्णात शंकर, सुरेश्वर प्रभृति आचार्यों के चरणों में शतशः प्रणामांजलि अर्पित करते हैं जिन्होंने अपने जीवनकाल में ही परम पुरुषार्थ रूप परिपूर्ण आत्मतत्त्व का अनुभव कर लिया था और संसारसागर के संतितीर्षुओं के लिए ज्ञान के अनन्तकोष भूत उन ग्रन्थों का प्रणयन किया जिसकी दिव्य ज्योति आज भी यथावत् प्रकाशित होती हुई अंधकारनिमज्जित मर्त्यों के अमरत्व की निर्देशिका है।

———

शब्दानुक्रमणिका

अ

छ

ज

ध

न

ग्रन्थानुक्रमणिका

(क) संस्कृत और हिन्दी ग्रन्थ

अद्वैतब्रह्मसिद्धिः	सदानन्दयति	कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३२.
अद्वैतरत्नरक्षणम्	मधुसूदनसरस्वती	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३७
अद्वैतसिद्धान्त विद्योतनम्	गौडब्रह्मानन्द सरस्वती	विद्याविलास प्रेस, वाराणसी, १९३४.
अद्वैतसिद्धिः	मधुसूदन सरस्वती	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३७.
अद्वैतामोदः	म० म० वासुदेव अभ्यंकर शास्त्री	ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना. १:१८.
अध्यात्मरामायणम्	······	गीता प्रेस, गोरखपुर, २०११ (संवत्)
अनुभूतिप्रकाशः	विद्यारण्य स्वामी	नि० सा० प्रे० बम्बई, १९२६.
अनुभूतिप्रकाशः (सटीक)	विद्यारण्य स्वामी	वाराणणी
अन्वयार्थप्रकाशिका (संक्षेपशारीरव्याख्या)	रामतीर्थ	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९१८.
अर्थसंग्रहः	लौगाक्षिभास्कर	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५३,
ईशावास्यभाष्यम्	शंकराचार्य	गी० प्रे० गोरखपुर, २०१६ (संवत्)
ईशावास्यभाष्यटीका	आनन्दगिरि	आ० सं० ग्र० पूना, १९३४.
उपदेशसाहस्री	शंकराचार्य	गायघाट, वाराणसी, १९५४.
ऐतरेयोपनिषद्भाष्यम्	शंकराचार्य	गी० प्रे० गोरखपुर, २०१६ (संवत्)
ऐतरेयोपनिषद्भाष्यटीका	आनन्दगिरि	आ० सं० ग्र० पूना, १९३१.
कठोपनिषद्भाष्यम्	शंकराचार्य	गी०, प्रे० गोरखपुर; २०१६ (सम्वत्)

कल्पतरुः (भामतीटीका)	अमलानन्दसरस्वती	नि० स० प्रे० बम्बई, १९३८.
कल्पतरुपरिमल	अप्पयदीक्षित	नि० सा० प्रे० बम्बई, १९३८.
काठकोपनिषद्-भाष्यव्याख्यानम्	आनन्दगिरि	आ० सं० ग्र० पूना, १९३५.
केनोपनिषद्भाष्यम्	शंकराचार्य	गी० प्रे० गोरखपुर, २०१६ (सम्वत्)
केनोपनिषद्पदभाष्य-टिप्पणम् तथा (केन) वाक्यविवरणव्याख्या	आनन्दगिरि	आ० सं० ग्र० पूना, १९३४.
गीताभाष्यम्	शंकराचार्य	नि० सा० प्रे० बम्बई, १९३६.
गीताभाष्यव्याख्यानम्	आनन्दगिरि	नि० सा० प्रे० बम्बई, १९३६.
गोविन्दाष्टकविवरणम्	आनन्दगिरि	अद्वैतसभा कुम्भकोणम्, १९६०.
गौडपादीयम् आगम-शास्त्रम्	विधुशेखर भट्टाचार्य	कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५०.
चिद्विलासः	सम्पूर्णानन्द	ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, २०१६ (सम्वत्)
छान्दोग्योपनिषद् भाष्यम्	शंकराचार्य	गी० प्रे० गोरखपुर, २०१३ (सम्वत्)
छान्दोग्यभाष्यटीका	आनन्दगिरि	वाणीविलास संस्कृत पुस्तकालय, काशी, १९४२.
तत्त्वचन्द्रिका (पंचीकरणविवरणटीका)	रामतीर्थ	गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, १९३०.
तत्त्वप्रदीपिका	चित्सुखाचार्य	नि० सा० प्र० बम्बई, १९१६.
तत्त्वबोधिनी (संक्षेप-शारीरक टीका)	नृसिंहाश्रम	सरस्वती, भवन टेक्स्ट, वाराणसी, १९३४.
तर्कसंग्रहः	आनन्दगिरि	गैयकवाड ओरियन्टल सीरीज, वड़ोदा, १९१७.
तात्पर्यदीपिका (पंच-पादिका विवरण टीका)	चित्सुखाचार्य	मद्रास, १९५८.
तात्पर्यविद्योतिनी (पंचपादिका टीका)	विज्ञानात्मन्	मद्रास, १९५८.

तैत्तिरीयभाष्यटिप्पणम्	आनन्दगिरि	आ० सं० ग्र० पूना, १६३४.
तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्	शंकराचार्य	गी० प्रे०गोरखपुर, २०१६ (सम्वत्)
तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम् वार्तिकम (आनन्दगिरि टीका सहितम्)	सुरेश्वराचार्य	आ० सं० ग्र० पूना, १६३४.
दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक (मानसोल्लासवार्तिक	सुरेश्वराचार्य	
नैष्कर्म्यसिद्धिः (प्रो० हिरियन्ना संपादिता)	सुरेश्वराचार्य	मैसूर १६२५.
नृसिंहविज्ञापनम्	नृसिंहाश्रम	स०भ० टेक्स्ट, वाराणसी, १६३४.
न्यायनिर्णयः (शारीरक-भाष्य टीका)	आनन्दगिरि	नि० सा० प्रे० वम्वई, १६३४.
न्यायरत्नावली (सिद्धान्तविन्दुव्याख्या)	ब्रह्मानन्द	चौ० सं० सी० वाराणसी,
पंचदशी (रामकृष्ण-व्याख्या सहितम्)	विद्यारण्य	भार्गव पुस्तकालय, वाराशसी, १६५०.
पंचप्रक्रिया (आनन्दगिरि-टीका सहिता)	सर्वज्ञात्ममुनि	मद्रास, विश्वविद्यालय, १६४६.
पंचपादिका	पद्मपादाचार्य	मद्रास, १६५८.
पंचपादिका	प्रकाशात्ममुनि	मद्रास, १६५८.
पंचीकरणवार्तिकम्	सुरेश्वराचार्य	गु० प्रि० प्रे० वम्वई, १६३०.
पंचीकरणविवरणम्	आनन्दगिरि	गु० प्रि० प्रे० वम्वई, १६३०.
पदयोजनिका (उपदेश-साहस्त्री टीका) भाग १-२	रामतीर्थ	नि० स० प्रे० वम्वई, १६४८
पदार्थतत्त्वनिर्णयः	आनन्दानुभव	अद्वैत सभा, कुम्भकोणम्, १६५१.
प्रकरणग्रंथाः	शंकराचार्य	ओ० बु० ए० पूना, १६५२.
प्रश्नोपनिषद्भाष्यम्	शंकराचार्य	गी० प्रे० गोरखपुर, २०१६
प्रश्नोपनिषद्भाष्यटीका	आनन्दगिरि	आ० सं० ग्र० पूना, १६३२,
ब्रह्मसिद्धि (शंखपाणिव्याख्या सहिता) म० म० कुप्पूस्वामीशास्त्री द्वारा सम्पादित)	मण्डनमिश्र	मद्रास, १६३७,

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम्	शंकराचार्य	नि० सा० प्रे० मुम्बई, १९३४,
बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्	शंकराचार्य	गी०प्रे०गोरखपुर, २०१३(संवत्)
बृहदारण्यकभाष्यटीका	आनन्दगिरि	वा०वि०ग्र० काशी २०११(संवत्)
बृहदारण्यकवार्तिकसार: (महेश्वरतीर्थकृतया लघुसंग्रहाख्या टीकया युता)	विद्यारण्य	चौ०सं० सी० वाराणसी, १९१९
भामती	वाचस्पति मिश्र	नि० सा० प्रे० मुम्बई, १९३४,
भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	वाराणसी, १९५७,
भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र	लखनऊ, १९५७,
भावप्रकाशिका (पंचपादिका विवरण टीका)	नृसिंहाश्रम	मद्रास, १९५८,
महिम्नस्तोत्रटीका	मधुसूदन सरस्वती	चौ०सं०सी०वाराणसी,१९३८,
माण्डूक्यगौडपादीयभाष्य व्याख्या	आनन्दगिरि	आ० सं० ग्र० पूना, १९३९
माण्डूक्योपनिषद्कारिकाभाष्यम्	शंकराचार्य	गी० प्रे० गोरखपुर, २०१६ (संवत्)
मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्	शंकराचार्य	गी०प्रे०गोरखपुर,२०१६(संवत्
मुण्डकोपनिषद् भाष्यव्याख्यानम् व्याख्यानम्	आनन्दगिरि	आ० सं० ग्र० पूना, १९४५,)
योग वाशिष्ठ (तात्पर्य प्रकाश व्याख्या सहित)		नि० सा० प्रे० मुम्बई, १९३७,
योग वाशिष्ठ और उसके सिद्धान्त	बी० एल० आत्रेय	वाराणसी, १९५७,
यूरोपीय दर्शन	रामावतार शर्मा	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५२।
रत्नप्रभा (शारीरक भाष्य टीका)	गोविन्दानन्द	नि० सा० प्रे० मुम्बई, १९३४
रत्न प्रभा(भाषानुवाद) भूमिका	गोपीनाथ कविराज	अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, १९९३ (संवत्)
लघुचन्द्रिका (ब्रह्मानन्दी) (अद्वैतसिद्धि व्याख्या)	ब्रह्मानन्द	नि० सा० प्रे० मुम्बई, १९३४
वाक्यसुधा टीका	आनन्दगिरि	हस्तलिखित

विवरणप्रमेयसंग्रहः	विद्यारण्य	अच्युतग्रन्थमाला, काशी, १९९६ (सं०)
विवरणादि प्रस्थान विमर्शः	वीरमणिप्रसाद उपाध्याय	चौ० सं० सी० वाराणसी, १९५६,
विष्णु पुराण	वेद व्यास	
वेदान्त परिभाषा (अर्थदीपिका टीकासहिता)	धर्मराजाध्वरीन्द्र	चौ० सं० सी० वाराणसी, १९५४,
वेदान्त सारः	सदानन्द	चौ० सं० सी० १९५४,
सर्वदर्शनसंग्रहः	माधवाचार्य	पूना, १९०६,
संन्यासोत्पत्तिः		हस्तलिखित, १८८६ (संवत्)
संक्षेपशारीरक (स्वामी—गंगेश्वरानन्दकृत हिन्दी-व्याख्या सहित)	सर्वज्ञात्ममुनि	वाराणसी, २०५१ (संवत्)
सारसंग्रह : (संक्षेप शारीरक-व्याख्या)	मधुसूदन सरस्वती	चौ० सं० सी० १९३४ (वाराणसी)
सुबोधिनी (संक्षेपशारीरक-व्याख्या)	अग्निचित् पुरुषोत्तम-मिश्र	आ० सं० ग्र० पूना, १९१८
सिद्धान्त बिन्दु (पुरुषोत्तमकृत संदीपन टीका सहित)	मधुसूदन सरस्वती	गे० ओ० सी० बड़ौदा, १९३३
सिद्धान्तबिन्दु व्याख्या	वासुदेव शास्त्री	पूना, १९६२,
शास्त्र प्रकाशिका (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक टीका)	आनन्दगिरि	आ० सं० ग्र० पूना, १९९२
श्री शंकराचार्य	बलदेव उपाध्याय	इलाहाबाद, १९५०
श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य्	शंकराचार्य	गी०प्रे०गोरखपुर,२०१६(सं०)
त्रिपुरी विवरणम्	आनन्दगिरि	अद्वैतसभा, कुम्भकोणम्, १९६०,

(ख) English

Title	Author	Place	Year
Abhinava Gupta: An Historical & Philosophical Study.	K. C. Pandeya	Benares	1963
Critique on the Vivarana School.	B. K. Sen Gupta	Calcutta	1959
Advaita Siddhantam	S. Aiyodorai Aiyar	Madras	1971
Anandalahari of Sankara-chaıya	Mrs. Boris Sachrow (Trans.)	Calcutta	1971
An Essay on the Doctrine of the Unreality of the World in the Advaita.	G. Dondoy	Calcutta	1919
An Introduction to Advaita Philosophy.	Sri Kokileshwar Shashtri	Calcutta	1926
An Introduction to Sankara's Theory of Knowledge	N. K. Devarj	Benares	1962
An Introduction to the Philosophy of Pancadasi	U. S. Unquhart	London	1928
Appearance and Reality.	F. H. Bradley.	Oxford	1955
A Sketch of the Vedanta Philosophy.	M. S. Tripathi	Bombay	1927
A Study of Sankara.	N. M. Shastri	Calcutta	1942
Bhagawadgita with tranalation.	S. Radhakrishnan		

Brahmadarshana or Intution of the the Absolute.	A. Acharya	London	1917
Brahma-Kuowledge.	L. D. Benett.	London	1907
Commemorative Essays		B. O. R. I. Poona	1934
Gaudapada : A Study in Early Advaita.	T. M. P. Mahadevan	Madras	1954
Gaudapada-Karika	R. D. Karmarkar	Poona	1953
Hindu Phillosophy	Theos Bernald	Bombay	1958
Hiatory of Indian philosophy	S. N. Das Gupta	Cambridge	1940
Indian and Western Philosophy	B. Heinamm	London	1937
Indian Literature	M. Winternitz	Calcutta	1935
Indian Philosophical Studies	M. Hirriyanna	Mysore	1957
Indian Philosophy	S. Radha Krishnan	London	1927
Introduction to Vedanta Philosophy (Basu Malik Felloship Lectures for 1927)	Paramanath N. Mukhopadhya	Calcutta	1928
Jivatman the Brahma—Sutra	A. K. Gupta	Calcutta	1921
Kausitaki Upnishad (Translation)	S. C. Vidyaranya	Allahabad	1926
Lectures on Vedanta	Vasu Malik	Calcutta	1925
Lights on Vedanta	V. P. Upadhyaya	Venaras	1959
Mandukya Upnishad	E. G. Carpani	Bologna	1936
Maya (Its Spritual Exposition based on Theory of Relativity.)	Madhavatirtha Swami	Chota Udaipur	1933
Mayavada or the Non-Dualistic Philosophy.	Sadhu Santinath	Poona	1938

Miscellaneous Works of Samkaracharya, Vol. II		Mysore	1899
Nagarjuna and Sankara	A. C. Mukerjee	Allahabad	1938
Pancadasi of Vidyaranya (Translation)	M. Srinivas Rau	Sri Rangam	1912
Philosophical Essays	S N Dasgupta	Calcutta	1941
Philosophy of Bhedabheda	P. N. Srinivasachari	Madras (Adyar Library)	1950
Phatyabhijna Hridyayam of Kshemendra	T. Jaideva Singh	Venaras	1962
Religion and Philosophy of Veda & Upaishad Vol I & II	A. B. Kaith	Cambridge	1925
Sambandha Vartika of Surcavaracharya.	T. M. P. Mahadevan (ed. by)	Madras	1958
Sankara's Upadesasahasri	Sengaku Mayeda	Tokyo	1973
Sankara Vedanta	Ganganath Jha	Allahabad	1939
Sankaracharya's Select work.	S. Venkatraman	Madras	1940
Six Ways of Knowing	D. M. Datta	Calcutta	1960
Studies in Philosophy	K. C. Bhattacharya	Calcutta	1961
Studies in Post Samkara Dialectics.	Asutosh Bhattacharya	Calcutta	1936
The Age of Shankara (part I A&B)	T. S. Narayan Shastri	Madras	1916-17
The Adhyatma Ramayan	(Sacred Book of Hindu Series)	Allahabad	1913
The Brahma Sutra	S. Radha Krishnan	London	1960
The Diamond Jublee Commemoration Volume Part I	ed. by S. Subrahmanya Shastri	Kumbakonam	1960
The Doctrine of Maya	P. D. Shastri	London	1911
The Doctrines of Grace in the Saiva-Siddhanta.	A. P. Arokiaswamy	Trichinopoly	1935

The Panchadasi of Bharati-trtha Vidyaranya	T. M. P. Mahadevan	Madras	1961
The Philosophy of Advaita with Special reference to Bharatitirtha Vidyaranya	Dr. T. M. P. Mahadevan	Madras	1961
The Philosophy of Shankar (The Sujna Gokul Ji Jala Vedanta Prize Essay)		Baroda	1921
The Philosophy of the Upnishads.	Suresh Chandra Chokravarti	Calcutta	1935
The Principal Upnishads	S. Radhakris-hnan		
The Sujna Gokul Ji Zala Vedanta Prize Essay	M. T. Telivala	Bombay	1918
The Tantras : Study on the Religion and Literature	Chintaharan Chakravary	Calcutta	1963
The Outlines of Vedanta	M. Srinivas Rau	Banglore	1928
The Vedanta : according to Shankar and Ramanuja	S. Radhakri-shnan	Great Britain	1928
The Vedanta and Modern thought	W. S. Furquhart	London	1928
Upanishads in Story aud Dialogue	R. R. Divakar	Bomday	1962
Vacaspati Misra on Advaita Vedanta	S. S. Hasurker	Darbhanga	1958
Vijnanadipika of Padma Padacharya	Umesh Misra	Allahabad	1940
Vedanta and Modern Science	Ajit Kumar Sinha	Bomhay	1978

(ग) JOURNALS

Annals of Bhandarkar Orientat Research Institute, Poona (Voi I to 40) 1919 to 1961.

Indian Antiquary, 1972 to 1940

Indian Historical Quarterly (Vol I to 8) 1925-1962

Indian Philosophical Quarterly (complete set)

Journals of Indian culture (complete set)

Journals of Oriental Research, Vol, VII, Madras 1933

Journals of the Asiatic Society Bengal, 1832 to 1926

The Journal of the Advaita Sabha Kumbakonam Brahmavidya' December, 1938

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२	सामारिक	सांसारिक
३	११	समंगारी	असंसारी
४	६	सामीम्य	सामीप्य
५	६	आत्यधिक	अत्यधिक
८	११	सुदीप्तावका०	सुदीप्तात्पावका०
१६	७	जातण	जाता
१६	६	सादि	सादि
१६	२२	वेदान्त	वेदान्त
१७	६	परोक्षाभि०	अपरोक्षाभि०
१८	१७	तमन्यवयारो०	तमन्यध्यारो०
१६	३३	साहसी	साहस्री
२१	१	का	की
२२	१५	आर्हत	आर्हत
२४	१३	आकाश	आकाश मे
२५	८	तिर्यक्र	तिर्यक्
२८	६	ब्रह्मास्मि	ब्रह्मास्मि
३४	७	प्रतिपद्यंते	प्रतिपद्यंते
३४	१०	आपद्यन्ते	आपद्यन्ते
३८	२१	अभाम	आभास
३६	२२	नर्पांधा०	नर्पाद्या०
३६	३०	चैतन्यं	चैतन्यं
४३	४	फलात्मक	फलात्मक
४६	२०	पमाचार्य	पद्मपादाचार्य
५०	२१	मण्डनवचस्तद्वर्थयथा	मण्डनवचस्तद्वयन्यथा
५१	६	नेष्ट	नष्ट
५१	१०	चित्तमन्वित	चित्त०
५१	२२	प्रविलाय	प्रविलाप
५३	२	आत्माच्छाया	आत्मच्छाया

५५	१	अनुयोग	अनुयोगी
५५	१५	व्यवदेशय	व्यपदेश्य
५५	२१	अतःकरणादि	अन्तःक०
५७	५	आभासीति०	आभासाति०
५७	१२	प्रत्यना०	प्रत्यगा०
५७	२२	चिदामे	चिदाभे
५८	३	दुखवोध	दुरवबोध
५६	१८	निमित्तोज्ञादानता	निमित्तोपा०
६१	८	शारीरिक	शारीरक
६४	५	नियि	नित्य
६४	५	रिसंग	निरासंग
६४	५	परमात्मा	परात्मा
६५	१	जिति	चिति
६६	३	संसिद	संसिद्ध
६६	४-५	समाग-निर्मग	सभाग-निर्भाग
७१	६	अक्षान	अज्ञान
७२	३	इतती	इतनी
७२	६	ड्विद्या	अविद्या
७२	१४	परमातेव	परमात्मेव
७२	१६	ढयवि०	ह्यवि०
७४	१६	योऽप्यय०	योऽप्य०
७४	२३	अन्यवः	अन्यतः
७५	२२	सर्वभास०	सर्वाभास०
७५	२६	मास्वर्च्ये०	भास्वच्चै०
७७	२	साचिव्व	साचिव्य
७७	३	अकाश	आकाश
७७	१२	स्वानास०	स्वाभास०
७७	३०	प्टादिपु	घटादिपु
७८	३	आघ्यासि	आघ्यासिक
७८	१७	स्वात्माभाव०	स्वात्माभास०
७८	२३	तस्गासावर्त	तस्मादभावर्त
७८	२६	तेजोवनादि	तेजोवन्नादि
७६	२५	विकल्पानः	विकल्पानां
८१	८	व्यप्टिपुघयुवहित	व्यप्टिबुद्धयुपहित

८१	१४	पदाभिद्य	पदाभिघ
८२	२३	वुद्धयदिव्यापृ०	वुद्धयादिव्याप्त०
८२	२	अन्तर्मत	अन्तर्गत
८२	२	एतावनमात्र	एतावन्मात्र
८२	१३	वुद्धापाद्यन्तर्गता०	वुद्धयुपाध्यन्त०
८४	२७	ज्ञाम०	ज्ञान०
८४	३०	कर्तस्थ०	कर्तृस्थ०
८५	१९	वुद्धयात्मनोमि०	वुद्धयात्मनोभि०
८६	१६	व्रह्यस्मि	व्रह्यास्मि
८७	३	मान	भान
८७	५	अभियंजक	अभिव्यंजक
८७	११	ध्रुतिप्रोक्त	श्रुतिप्रोक्त
८८	१०	किंचिदवेदिसम्	किंचिदवेदिपम्
८८	२२	प्रासंगक	प्रासंगिक
८९	१८	इन्द्रयां	इन्द्रियाँ
९०	२१	स्वाप्न	स्वप्न
९०	२१	मातृभाव	मातृमान
९१	२४	कूटस्थी	कूटस्थो
९२	१६	अविघा	अविद्या
९३	१५	आत्मा-विद्या	आत्माविद्या
९३	१७	को	की
९३	२४	स्युन्योन्य	स्युरन्योन्य
९४	२१	महाभूरतों	महाभूतों
९५	८	सध्रोचीन	सध्रीचीन
९५	१४	सभूति	संभूति
९५	१९	व्याप्टया०	व्यप्टया०
९६	७	वायु	पायु
९७	५	कारवाणि	करवाणि
९७	२९	वाप्यावादि	वाय्वादि
९८	२४	पंचीकरणन्मे०	पंचीकरणमे०
१००	३	रजता	रजत
१००	७	सद्सद०	सदसद०
१००	२०	नश्यसि	न पश्यसि

१००	२१	समदयस्तं	समध्यस्तं
१०२	२०	मिपपु	रूपिपु
१०२	२१	वाम्तमागया	वात्ममायया
१०२	२५	मुक्तैर्वन्धो०	मुक्तेर्वन्धो०
१०४	२१	चंक्रम्यमोणो	चंक्रम्यमाणो
१०५	४	मावि	भावि
१०५	११	फिर	शिर
१०६	२४	दृष्टावृष्टार्थ०	दृष्टादृष्टार्थ०
१०७	३	पणमास	पण्मास
१०७	५	वोढी	वोढ्री
१०७	६	भूल	मूल
११०	३१	J	T
११२	३०	प्राप्तिर्मवा०	प्राप्तिर्मना०
११३	२७	निवृत्तती	निवृत्तौ
११५	६	सावधता	सावद्यता
११६	१३	संयास	संन्यास
१२१	२७	कहृच्धु	महृच्छु०
१२२	२८	सादत्ते	मादत्ते
१२२	३०	ज्ञानोत्म	ज्ञानोत्तम
१२३	१२	व्रर्णज्ञान	व्रह्मज्ञान
१२३	१३	आत्मा ज्ञान	आत्मज्ञान
१२५	१३	इद	इस
१२५	१६	पदसंहित	पदसंहृति
१२६	१	अर्श	अहं
१२६	१३	उपसना	उपासना
१२६	२२	अक्षात	अज्ञात
१२७	५	प्रर्याय०	पर्याय
१२७	६,२५	आम्रेडन	आम्रेडन
१२७	२५	—मातात्म्या०	—मैकात्म्या०
१३०	२८	आत्मावगतेये	आत्मावगतये
१३०	२६	लया	लय
१३०	३१	सयरी	स्थिरी
१३१	२	—र्धविरोधि	—र्धाविरोधि

१३१	९	अत:	अत: मनन
१३१	२१	लिगे	लिंगै
१३१	२३	विनिम्चित्ये	विनिश्चित्यै
१३१	२५	योऽथर्संत—	योऽर्थस्त
१३२	१४	वृत्तिमेद	वृत्तिभेद
१३३	४	करते	कराते
१३५	८	सुरेश्वर का	सुरेश्वर श्रवण का
१३५	१३	कैवैल्य	कैवल्य
१३५	२३	युत्त	यत्तु
१३६	६	धान	ज्ञान
१३६	३०	शस्त्रि	शास्त्र
१३६	३१	सर्वांर्थ	सर्वार्थसिद्धि
१३६	३२	देहिका०	देशिका०
१३७	२४	असंख्यानं	प्रसंख्यानं
१३७	२९	व्रवते	व्रुवते
१३७	३१	विज्ञाननन्तर—	विज्ञानान्तर—
१३७	३२	कुर्वात्	कुर्वीत्
१३८	१४	करने	कराने
१३९	१	अभ्यास प्रसंख्यान	अभ्यास या प्रसंख्यान
१३९	६	अर्थ का	का
१३९	२१	चोध्व	चोर्ध्वं
१३९	२१	चाश्रुमिणां	चाश्रमिणां
१३९	२४	सिद्धान्त्यौ	सिद्धान्त्यां
१४०	७	परोक्ष्यनिवृत्ति	पारोक्ष्यनिवृत्ति
१४०	३०	दुस्मंभाव्य	दुस्संभाव्य:
१४१	६	प्रसंख्या	प्रसंख्यमान
१४१	१७	प्रचीममाव	प्रतीयमान
१४१	२२	दंकाग्र्य	दैकाग्र्य
१४१	२४	नैप्क्रर्म	नैष्कर्म्य
१४१	२५	भावनाये०	भावना य०
१४१	२८	मितियंते	मितीयंते
१४१	२९	प्रमातन्रै:	प्रमान्तरै:

१४२	१	सॅविकल्पक	सविकल्पक
१४३	३१	व्यंजक०	व्यंजक०
१४३	११	द्वैत-द्वैत	द्वैत-अद्वैत
१४३	२६	मैत्तदै	मैत्रेय्ये
१४३	२७	द्वैता०	द्वैत०
१४३	३१	तत्लय	तल्लयः
१४४	६	निवृत्त	निवृत्ति
१४५	२	ब्रह्माभेदा०	ब्रह्माभेदा०
१४५	२३	नेक०	नैक
१४५	२४	—रिहा	—रिव
१४५	२५	प्रभा	प्रमा
१४५	२७	मानोः	भानोः
१४६	२४	निवायते	निवार्यते
१४६	२५	कारितवान्	कारित्वान्
१४७	१०	सक्षात्	साक्षात्
१४७	३३	पयन्तजोर्स्य	पर्यन्तजोऽस्य
१४८	५	साक्षात्करणत्व	साक्षात्करणत्व है
१४८	१८	मर्च्छना	मूर्च्छना
१४८	२५	निर्भष्टं	निर्भ्रष्ट
१४६	१	तद्धे भूत	तद्धेतुभूत
१४६	३	मनसें०	मनसै०
१५३	२	'तत्' पद से 'त्वम्'	'तद्', 'त्वम्'
१५०	१८	शुरे—	सुरे
१५०	२३	अभयंकर	अभ्यंकर
१५३	१७	वस्तुतत्त्वागसायो०	वस्तुतत्त्वावगमायो०
१५३	२२	दूःसंभा०	दुःसंभा०
१५४	१४	लक्षणा	लक्षणा
१५४	२०	व्यावत्यानद्वैवध्यिय	व्याख्यानद्वैविध्य
१५५	३	विशेष	विशेषण
१५५	३	बोव···वोध	बाध···बोध
१५५	१२	चित्त	चित्
१५५	२२	तदन्यच०	तदन्यद्य०
१५५	२२	तन्न्या	तन्नना

१५५	२६	योंयां	योऽयं
१५५	२६	पंध्रिया	पुंध्रिया
१५५	३०	द्यहं	ह्यहं
१५७	६	आभासामुसारिका	आभाससमुत्सारिका
१५७	३१	अपितु:	अपि तु
१५८	६	विपया	विधया
१५८	२५	कष्ण	कृष्ण
१५६	१	अवद्यी	अविद्या
१५६	१६	वाक्यत्वानुववत्ति	——नुपपत्ति:
१६०	१६	को	की
१६०	२०	व्रह्मसिद्ध	व्रह्म सिद्धि
१६१	१६	Iroduct	product
१६२	६	कायो	कार्यो
१६४	२४	संसिद्धि-मभो	संसिद्धतमो
१६५	१७	भवेजज्ञानं	भवेज्ज्ञानं
१६६	१३	अनारम्य	अनारभ्य
१६७	७	शपय	शपथ
१६७	६	प्रतिभापित	प्रतिभासित
१६७	२१	कैवल्योत्मता	कैवल्योत्तमता
१६७	२८	त्रितं:	त्रिवं:
१६८	१३	तन्नारा—	तन्नाशा—
१६६	७	त्रैधा	त्रिधा
१६६	२८	—मपासनम्	—मुपासनम्
१७०	२२	guravati, j. e,	guravah i. e.
१७०	२५	abidyagah	avidyayah
१७२	१६	तिमिरीताती	तिमिरातीत
१७३	२३	जीवमोह्या०	मोह्या०
१७५	१४	सुरेश्वराचार्य अभि	सुरेश्वराचार्यमभि
१७६	२२	शुद्धर्स्यवे	शुद्धस्यैव
१७७	६	उद्धारता	द्वारता
१७७	२४	जगद्रप०	जगद्रूप०
१७८	१०	जैसे. . .जैसे	जैसे. . .वैसे

१७८	२६	तदगत	तद्गत
१८०	१३	जगत्कारत्व	जगत्कारणत्व
१८१	१	तार्तिकों	तार्किकों
१८१	१६	सामाधान	समाधान
१८३	१३	साथ	सात
१८७	१७	प्रातिमासिक	प्रातिभासिक
१८४	४	मनोलक्षण	मनोलक्षण
१८५	२०	जड़त्व	जडत्व
१८५	२६	नाज्ञाप्सिप—	नाज्ञासिप—
१८५	२८	मूडमित्याद्यत्रु	मूडमित्याद्यनु
१८५	२६	तै आश्रयत्व	आश्रयत्व
१८२	३	आज्ञानाभाव	अज्ञानाभाव
१८६	४	आज्ञाना—	अज्ञाना—
१८६	६	अज्ञानवाद	अज्ञानवाद
१८६	१८	स्वतत	स्वगत
१८६	१०	बोर्ध	बोधे
१६०	३०	चैतन्यस्योवाधि-	चैतन्यस्योपाधि—
१६१	१६	अन्तःकरणत्व	अन्तःकरणत्व
१६१	२४	प्रनिविम्वाविविक्ता	प्रतिविम्वाविविक्ता
१६२	४	घटकतत्व	घटत्व
१६२	४	पातग	पाल्ग
१६२	५	घर्ममत	घर्मगत
१६२	५	आकाग	आकाग
१६२	७	—नस्घत्व	—नस्वत्व
१६४	२२	लोंह दति	लोंह दहति
१६७	२६	सघी	सघो
१६७	२८	जीवमुक्ते	जीवन्मुक्ते
१६६	१८	evidentoy	evidently
२०३	१०	प्रत्यग्ज्ञान	प्रत्यगज्ञान
२०६	८	संवृति	संन्नृति
२०७	१	व्यप्यता	व्याप्यता
२२६	१२	फल	कर्म का फल
२३२	८	महावाक्वों	महावाक्यों

२३३	२६	व्याक्यानम्	व्याख्यानम्
२३५	१०	व्यप्त	व्याप्त
२३७	१५	अविद्याविहित	अविद्यापिहित
२३८	१२	अज्ञान से अज्ञान	ज्ञान से अज्ञान
२३९	४	जीवन्मुक्ति	जीवन्मुक्त
२४३	१	को जो जीव	को जीव
२४४	१७	विदाभास	चिदाभास
२४६	१२	त्रिविघि	त्रिविध
२६१	१६	अभास	आभास
२६४	२०	अंणतः	अंशतः

———